मार्क्सवादी समाजशास्त्र

('मार्क्सियन सोसियोलाजी' का हिन्दी–रूपान्तर)

लेखक

निकोलाई बुखारिन

जगत् प्रसिद्ध रूसी समाजशास्त्री

अनुवादक

शम्भू रत्न त्रिपाठी

समाजशास्त्र संसद

6 न्यू एस0आई0जी0, 'डब्लू' ब्लाक, जूही, कानपुर–208014

मार्क्सवादी समाजशास्त्र

मार्क्स के समाजशास्त्रीय चिन्तन की व्याख्या करने वाली यह विश्व की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है। पिटरिम सोरोकिन ने बुखारिन की पुस्तक 'मार्क्सवादी समाजशास्त्र' के लिए लिखा है कि यह साम्यवादी प्रकाशनों में संभवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति है। जे0 एस0 रूसेक ने 'कंटम्परेरी सोसियोलॉजी' नामक पुस्तक में कहा है कि बुखारिन की उक्त पुस्तक समाजशास्त्रीय साहित्य की अत्यधिक प्रशंसित कृति है। स्वयं लेनिन ने बुखारिन को उस समय रूस का सबसे बड़ा और मूल्यवान सिद्धान्त निरूपक माना था। ऐसे महत्त्वपूर्ण लेखक की यह महान् कृति अब अंग्रेजी में भी उपलब्ध नहीं है। अतः हिन्दी में इसका अनुवाद पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है। यह पुस्तक समाजशास्त्रियों, राजनीतिशास्त्रियों तथा मार्क्स के चिन्तन के प्रेमियों के लिए अपरिहार्य है।

कुशल विधिवेत्ता, राष्ट्र–सेवी, साहित्य–संवर्द्धक

पूज्य पितृव्य पं0 श्रीकृष्ण मिश्र

एम0ए0 (अर्थ0) बी0 एल0

तथा

अनन्य समाज–सेविका, सरल हृदया, परम विदुषी

भगिनी डा0 राजेन्द्रकुमारी बाजपेयी

एम0 ए0, पी–एच0 डी0 (अर्थ0)

राज्यमन्त्री, भारत सरकार

को

सादर समर्पित

अनुवादक

Contents

प्रकाशकीय वक्तव्य

अंग्रेजी तथा योरोपीय भाषाओं की तुलना में हिन्दी में समाजशास्त्रीय साहित्य का नितान्त अभाव है। विगत दस वर्षों में कुछ पुस्तकें प्रकाशित अवश्य हुई हैं, किन्तु उनमें से अधिकांश निम्न स्तर की पाठ्य पुस्तकें ही है। यदि हमें राष्ट्र–भाषा हिन्दी को समृद्ध बनाना है तथा भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन का वास्तविक विकास करना है, तो इस बात की अनिवार्य आवश्यकता है कि हिन्दी में समाजशास्त्र विषयक उच्च कोटि के मौलिक ग्रन्थों के साथ विश्व–समाजशास्त्रीय साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों के हिन्दी–रूपान्तर अवश्य प्रकाशित किए जाएँ। दुर्भाग्य यह है कि अभी तक हिन्दी में इस दिशा में कोई विशेष कार्य नहीं हुआ है।

'समाजशास्त्र–संसद' इस अभाव की पूर्ति के लिए ''अन्तर–राष्ट्रीय समाजशास्त्र–पुस्तक–माला'' की एक विस्तृत योजना कार्यान्वित करने जा रही है, जिसमें विश्व के महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय ग्रंथों के अनुवादों को प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस योजना के अन्तर्गत विश्व–विश्रुत समाजशास्त्री डॉ0 चार्ल्स ए0 इलउड, डॉ0 वेस्टर मार्क तथा बुखारिन की पुस्तकों के अनुवाद क्रमशः 'समाजशास्त्र की विधियाँ', 'विवाह और समाज' तथा 'मार्क्सवादी समाजशास्त्र' के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। भविष्य में भी अनेक महत्त्वपूर्ण अनुवाद प्रस्तुत किए जाएँगे।

प्रस्तुत पुस्तक का अनुवाद हिन्दी में समाजशास्त्रीय साहित्य के सर्व प्रथम लेखक, समाजशास्त्र के अनेक महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थों के प्रणेता तथा कई साहित्यिक ग्रन्थों और पत्रों के संपादक श्री शम्भूरत्न त्रिपाठी ने किया है। त्रिपाठी जी का विषय और भाषा दोनों पर अधिकार है, अतः अनुवाद र्प्याप्त सफल हुआ; इसमें अनुवाद की अस्पष्टता और जटिलता कहीं नहीं परिलक्षित हो रही है। आशा है, पाठक इस कृति से लाभान्वित होंगे।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त समाजशास्त्र–संसद ने 'समाजशास्त्रीय चिन्तक पुस्तकमाला' का भी प्रकाशन प्रारम्भ किया है, जिसमें विश्व के प्रमुख समाजशास्त्रीय चिन्तकों पर पुस्तकें प्रकाशित की जा रही हैं।

प्रकाशन मन्त्री

उमाशंकर श्रीवास्तव

अनुवादक की भूमिका

कार्ल मार्क्स उन्नीसवीं शताब्दी का महान् क्रान्तिकारी और युग–प्रवर्तक विचारक था। उसके तेजस्वी और मौलिक विचारों से संसार में असाधारण परिवर्तन प्रतिफलित हुआ, तथा ज्ञान की विभिन्न शाखाओं को नया परिप्रेक्ष्य प्राप्त हुआ।

कार्ल मार्क्स का जन्म 5 मई, सन् 1818 में, प्रसिया के ट्रीएर नगर के, एक मध्यवित्तीय यहूदी परिवार में हुआ था। पिता वकील थे। जब मार्क्स की अवस्था छह वर्ष की थी, पिता ने यहूदी धर्म त्याग कर ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था।

मार्क्स का छात्र–जीवन विशेष उज्ज्वल रहा था। उसके अध्यापक उसकी कुशाग्र बुद्धि से विशेष प्रभावित रहते थे। उसके पिता उसे वकील बनाना चाहते थे, लेकिन उसकी रुचि दर्शन और इतिहास में थी। अतः उसने सन् 1836 में बर्लिन विश्वविद्यालय में दर्शन और इतिहास का विशेष गहन अध्ययन किया, तथा यह हीगेल के विचारों से विशेष प्रभावित हुआ। सन् 1841 में उसने इपीक्यूरस के दर्शन पर डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त की।

उच्च शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त वह विश्वविद्यालय में शिक्षक का पद–ग्रहण करना चाहता था, किन्तु अपनी क्रान्तिकारी राजनीतिक विचारधारा के कारण वह यह पद पाने में सफल नहीं हो सका। अक्टूबर, सन् 1842 में उसने पत्रकारिता के क्षेत्र में पदार्पण किया। वह अपनी प्रतिभा के कारण एक पत्र का मुख्य सम्पादक हो गया, लेकिन वह इस पद पर अधिक समय तक नहीं रह सका। पत्र–स्वामियों से वैचारिक मतभेद होने के कारण उसे जनवरी, सन् 1843 में वहाँ से हटना पड़ा।

सन् 1843 में ही मार्क्स पेरिस गया। वहाँ पर उसने एक क्रान्तिकारी विचारों की पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस पत्रिका का केवल एक अंक प्रकाशित हो सका; वितरण की कठिनाइयों के कारण इसे बन्द करना पड़ा। सौभाग्य से इस पेरिस–प्रवास में मार्क्स का परिचय फ्रेडरिक एंजिल्स से हो गया। यह परिचय शीघ्र ही मित्रता में परिणत हो गया। इसके

पश्चात् दोनों आजीवन मित्र बने रहे। एंजिल्स के सम्पर्क के कारण मार्क्स पत्रकार के साथ–साथ समाजवादी आन्दोलनकर्ता भी हो गया।

मार्क्स के विचार अत्यधिक क्रान्तिकारी और उग्र थे। फलतः वह तत्कालीन सरकारों की आंखों में बहुत खटकता था। फ्रांस, बेल्जियम और जर्मनी की सरकारों ने उसे अपने–अपने देशों में रहने नहीं दिया। सन् 1849 में वह इंग्लैण्ड चला अया। मार्क्स ने जीवन के शेष 34 वर्ष लन्दन में ही बिताये। इस अवधि में उसे आर्थिक दृष्टि से घोर कष्ट रहा। यदि उसके परम मित्र एंजिल्स ने उसकी आर्थिक सहायता न की होती, तो सम्भवतः वह 'कैपिटल' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना न कर सका होता।

आर्थिक विपन्नता और कठोर परिश्रम ने उसके शरीर को जर्जर कर दिया। 14 मार्च, सन 1883 को इस महा मनीषी का देहावसान हो गया।

मार्क्स का अधिकांश बौद्धिक कार्य लन्दन में ही हुआ। अनेक लेखों के अतिरिक्त उसके महत्त्वपूर्ण ग्रंथ निम्नांकित हैं :

1. दि पावर्टी आफ फिलास्फी (1847)
2. मैनिफेस्टो आफ कम्यूनिस्ट पार्टी (1848) (एंजिल्स के साथ)
3. दि क्लास स्ट्रगल इन फ्रांस (1850)
4. दि एट्टीन्थ ब्रुमेयर आफ लुइस बोनापार्ट (1852)
5. कांट्रीष्यूसन टू दि क्रिटिक आफ पालिटिकल इकोनामी (1859)
6. दि सिविल वार इन फ्रांस (1871)
7. क्रिटिक आफ दि गोथा प्रोग्राम (1875)
8. कैपिटल – प्रथम खण्ड (1867), द्वितीय खण्ड (1885) तृतीय खण्ड (1894)

मार्क्स की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति 'कैपिटल' है। इसका प्रथम खंड उसके जीवन–काल में प्रकाशित हो गया था। दूसरे और तीसरे खंड की उसने सामग्री संकलित कर ली थी, अन्तिम रूप नहीं दे पाया था कि उसकी मृत्यु हो गई। अतः इन दोनों खण्डों को एंजिल्स ने तैयार किया और प्रकाशित कराया।

मार्क्स के इन ग्रंथों के अतिरिक्त उसके पत्रों और लेखों के संग्रह भी कई जिल्दों में प्रकाशित हुए, जो समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति के विद्यार्थियों के लिए विशेष महत्त्व के हैं। मार्क्स की कृतियों का विश्व की प्रायः समस्त उन्नत भाषाओं में अनुवाद हुआ। हिन्दी में भी कुछ कृतियाँ प्रकाशित हुई है।

विश्व की विभिन्न भाषाओं में मार्क्सवादी व्याख्या के लिए अनेक ग्रंथों की रचना हुई है, जिनमें से अधिकांश व्याख्याएं व्यावहारिक राजनीति, राजदर्शन और अर्थशास्त्र की पृष्ठभूमि पर ही आधारित हैं। समाजशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष की दृष्टि से मार्क्सवाद की व्याख्याएं बहुत कम प्रस्तुत हुई हैं। पाश्चात्य देशों में मार्क्सवादी समाजशास्त्र के नाम से समाजशास्त्र की एक शाखा विकसित हो गई है और उस पर कुछ स्वतन्त्र ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं। लेकिन उन ग्रंथों में मार्क्स–विरोधी दृष्टिकोण और पूर्वाग्रह विशेष उभर कर आया है, जिससे वे मार्क्सवादी समाजशास्त्र का निष्पक्ष विवेचन नहीं कर सके हैं। इधर मुझे रूस के कुख्यात राजनीतिज्ञ और विख्यात समाजशास्त्री निकोलाई बुखारिन (1888–1938) की मार्क्सवादी समाजशास्त्र पर रूसी भाषा में लिखी गई पुस्तक का अंग्रेजी रूपान्तर देखने की मिला। यह पुस्तक रूसी भाषा में सन् 1932 के पूर्व प्रकाशित हुई थी, और अल्प अवधि में ही रूस में इसके अनेक संस्करण हुये थे तथा विश्व की अनेक भाषाओं में इसके अनुवाद प्रकाशित हुए थे।

बुखारिन को इस पुस्तक के आधार पर विश्व के कुछ प्रमुख मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों में परिगणित किया जाता है। रूसी समाजशास्त्री मैक्स एम० लैसरसन ने इसी पुस्तक के सन्दर्भ में बुखारिन को सर्वाधिक प्रतिभा सम्पन्न मार्क्सवादी समाजशास्त्री कहा है।[1] जोसेफ एस० रूसेक ने लिखा है : ''हाल के समाजशास्त्रियों में एम० बुखारिन की अत्यधिक प्रशंसा की

---

1. G. Gurvith and W.E. Moore, Twentieth Century Sociology. P. 612.

जाती है''।[2] ई० एस० बोगार्डस ने भी बुखारिन के सामाजिक सिद्धान्त का उल्लेख किया है।[3] टी० बी० बटमोर ने अपनी प्रख्यात पुस्तक 'सोसियोलाजी' में मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुशीलन के लिए बुखारिन की इस पुस्तक की विशेष अनुशंसा की है।[4]

: 3 :

बुखारिन की यह प्रख्यात पुस्तक मेरे पुस्तकालय में बहुत दिनों से पड़ी हुई थी, लेकिन मैंने इसे पढ़ा नहीं था। गांधी के सामाजिक चिन्तन के अनुशीलन के संदर्भ में मुझे मार्क्स के सामाजिक चिन्तन के विशेष अध्ययन की भी आवश्यकता अनुभव हुई, तो मार्क्स तथा मार्क्स सम्बन्धी समस्त ग्रंथों का अवलोकन प्रारम्भ किया। इसी प्रसंग में इस पुस्तक को भी पढ़ने का अवसर मिला, और मैं इसके मार्क्सवादी समाजशास्त्र के व्यवस्थित, क्रमबद्ध और अधिकांशतः संतुलित विश्लेषण से विशेष प्रभावित हुआ। इसके सम्बन्ध में व्यक्त किये गये अन्य समाजशास्त्रियों के विचारों में सत्यता प्रतीत हुई।

हिन्दी में समाजशास्त्र (सोसियोलाजी) की पृष्ठभूमि में मार्क्स के विचारों का अनुशीलन करने वाली कोई मौलिक या अनुदित पुस्तक अभी तक नहीं प्रकाशित हुई थी। मैंने यह अनुभव किया कि समाजशास्त्र के अध्येताओं के लिए यह पुस्तक विशेष उपयोगी सिद्ध होगी। इसी भाव से प्रेरित होकर यह हिन्दी रूपान्तर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ।

अनुवाद की अपनी सीमाएं होती है। यह अनुवाद का अनुवाद है, अतः इसकी और भी सीमाएं हैं। फिर भी मुझे विश्वास है कि पाठकों को विशेष असुविधा नहीं होगी।

हाँ, प्रूफ–संशोधन में पर्याप्त सावधान रहने के पश्चात् भी अक्षरी (स्पेलिंग) और विराम आदि चिन्हों की भूलें रह गई हैं। ये भूलें ऐसी है जिनसे पाठकों को विशेष हानि नहीं होगी। आशा है, पाठक स्वयं सुधार लेंगे।

---

2. Joseph S. Rouck, Contemporary Sociology. P. 899.
3. E.S. Bogardus, Development of Social thought. P. 211.
4. T.B. Bollomore, Sociology. P. 289.

उस पुस्तक के मुद्रण, प्रकाशन आदि की सम्पूर्ण व्यवस्था के लिए प्रख्यात ऐतिहासिक उपन्यासकार और नाटककार श्री वाल्मीकि त्रिपाठी, साहित्यमर्मी श्री कैलाशनाथ शास्त्री तथा कृपाशंकर द्विवेदी को बहुत कष्ट उठाना पड़ा है। इस 'त्रयी' का स्नेह और सहयोग इस कार्य के सम्पन्न होने में विशेष सहायक सिद्ध हुआ है।

अनन्य मित्र पं० नरेशचन्द्र जी चतुर्वेदी, पं० रामकुमार जी मिश्र इस कार्य को, यथाशीघ्र समाप्त करने के लिए मुझे विशेष प्रेरित करते रहे हैं। श्री इच्छाशंकर दुबे और श्री उमाशंकर दुबे ने अनेक सन्दर्भ–ग्रंथ प्रदान करके तथा विभिन्न प्रकार की असुविधाएं दूर करके मेरे कार्य को सरल बनाया है।

मेरी पत्नी श्रीमती तारा त्रिपाठी ने अनुवाद और मूल की तुलना करने में प्रायः, सहायता की है तथा वह अन्य सुविधाओं के लिए पूर्ण सजग रही हैं।

इस पुस्तक की प्रेस–कापी तैयार करने में सर्वश्री साधक मिश्र, सतीशचन्द्र मिश्र और प्रेमचन्द्र मिश्र ने विशेष कष्ट उठाया है। साधक जी ने प्रूफ संशोधन और शब्द सूची तैयार करने में भी सहायता की हूँ।

उक्त समस्त महानुभावों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता है।

अन्त में, मैं भाई माधवदास सिंधी को भी धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जो मरे प्रत्येक लेखन–कार्य के प्रत्यक्ष साक्षी और अप्रत्यक्ष सहायक रहते हैं।

1 दिसम्बर, 1965

समाजशास्त्र – संसद कानपुर　　　　　　　　　　　　शम्भूरत्न त्रिपाठी

विषय – सूची

ख. असंगठित समाज में व्यक्तिगत इच्छाओं का परिणाम।

ग. सामूहिक संगठित इच्छा।

घ. सामान्य आकस्मिकवाद।

ङ. ऐतिहासिक आकस्मिकता।

च. ऐतिहासिक आवश्यकता।

छ. क्या सामाजिक विज्ञान सम्भव है? क्या इस क्षेत्र में भविष्यवाणी सम्भव है?

3. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

क. दर्शन शास्त्र में भौतिकवाद और आदर्शवाद

ख. सामाजिक विज्ञानों में भौतिक अभिवृत्ति

ग. गत्यात्मक दृष्टिकोण और प्रघटनाओं के बीच सम्बन्ध।

घ. समाज–विज्ञानों की ऐतिहासिक व्याख्या।

ङ. ऐतिहासिक प्रक्रिया में विरोधों का उपयोग।

च. क्रान्तिकारी परिवर्तनों का सिद्धांत और समाज–विज्ञानों में क्रांतिकारी रूपांतरणों का सिद्धांत।

4. समाज

क. समष्टि की अवधारणा; तार्किक और वास्तविक समष्टियाँ

ख. समाज एक वास्तविक समष्टि या प्रणाली।

ग. सामाजिक संबन्धों का लक्षण।

घ. समाज और व्यक्तित्व।

ङ. निर्माण की प्रक्रिया में समाज।

5. समाज और प्रकृति में संतुलन

क. प्रकृति समाज का पर्यावरण।

ख. समाज और प्रकृति का सम्बन्ध; उत्पादन और पुनरुत्पादन की प्रक्रिया।

ग. उत्पादक शक्तियाँ; समाज और प्रकृति के सम्बन्ध की सूचक उत्पादक शक्तियाँ।

घ. प्रकृति और सामज में संतुलन; इसकी अव्यवस्थाएँ और पुनर्व्यवस्था।

ङ. समाजशास्त्रीय विश्लेषण में उत्पादक शक्तियाँ विचलन–बिन्दु के रूप में।

6. समाज के तत्त्वों के बीच संतुलन

क. विभिन्न सामाजिक प्रघटनाओं के सम्बन्ध; प्रश्न का सूत्रीकरण

ख. वस्तुएँ, व्यक्ति, विचार।

ग. समाजिक प्रौद्योगिकी और समाज की आर्थिक संरचना।

घ. महत् संरचना की रूपरेखा।

ङ. समाजिक मनोविज्ञान और सामाजिक वैचारिकी।

च. वैचारिक प्रक्रियाएँ और विभेदीकृत वैचारिकी।

छ. महत् संरचना की महत्ता।

ज. सामाजिक जीवन के स्वरूपात्मक सिद्धांत

झ. आर्थिक संरचना के रूप; विभिन्न समाजों के रूप

ञ. उद्विकास का विसंवादी लक्षण; समाज का आन्तरिक और बाह्य संतुलन।

7. सामाजिक सन्तुलन का विघटन और पुनर्समंजन

क. सामाजिक परिवर्तनों की प्रक्रिया और उत्पादक शक्तियाँ।

ख. उत्पादक शक्तियाँ और सामाजिक आर्थिक संरचना।

ग. क्रान्ति तथा इसके विभिन्न पक्ष।

घ. संक्रान्ति–काल के कारण और प्रभाव; पतनकाल के कारण और प्रभाव।

ङ. उत्पादक शक्तियों का उद्विकास तथा सामाजिक प्रघटना का भौतिकीकरण (सभ्यता का संचयन)

च. समष्टि रूप में सामाजिक जीवन के पुनरुत्पादन की प्रक्रिया।

8. वर्ग और वर्ग–संघर्ष

क. वर्ग, जाति, व्यवसाय।

ख. वर्ग–हित।

ग. वर्ग–मनोविज्ञान और वर्ग–वैचारिकी।

घ. ''स्वयं में वर्ग'' और ''स्वयं के लिए वर्ग''।

ङ. हितों की सापेक्ष एकता के स्वरूप।

च. वर्ग–संघर्ष और वर्ग–शांति।

छ. वर्ग–संघर्ष और राज्य–शक्ति।

ज. वर्ग, दल और नेता।

झ. सामाजिक रूपांतरण के उपकरण के रूप में वर्ग

ञ. भावी वर्ग–विहीन समाज।

शब्द सूची

विषय–प्रवेश

सामाजिक विज्ञानों की व्यावहारिक महत्ता

क. सामाजिक विज्ञान और कर्मी–वर्ग के संघर्ष की आवश्यकताएँ।

बुर्जुआ विद्वान ज्ञान की किसी भी शाखा के सम्बन्ध में ऐसी रहस्यात्मक श्रद्धा के साथ बात करते हैं मानों वह पृथ्वी पर नहीं, स्वर्ग में उत्पन्न हुई हो। लेकिन वास्तविकता यह है कि प्रत्येक विज्ञान समाज या इसके वर्गों की आवश्यकताओं या मांगों से उत्पन्न होता है। कोई व्यक्ति खिड़की के शीशे पर बैठी मक्खियों या सड़क की गौरय्यों की संख्या जानने का कष्ट नहीं करता है, लेकिन सींग वाले जानवरों की संख्याओं की गणना अवश्य की जाती है। पहिले की संख्याएं किसी के लिए उपयोगी नहीं हैं; किन्तु बाद वाली (सींग वाले पशुओं की) संख्याओं की जानकारी अत्यधिक लाभप्रद है। लेकिन केवल उस प्रकृति का ज्ञान रखना उपयोगी नहीं है जिसके विभिन्न अंगों से हमें अनेक पदार्थ, उपकरण, कच्चे माल आदि उपलब्ध होते हैं; अपितु समाज के सम्बन्ध में ज्ञान रखना भी व्यावहारिक रूप से उतना ही आवश्यक है। कर्मी–वर्ग को अपने संघर्ष के प्रत्येक कदम पर प्रत्यक्ष रूप से ऐसे ज्ञान की आवश्यकता अनुभव होती है। अन्य वर्गों से अपने संघर्ष को समुचित रूप से संचालित करने के लिए, कर्मी–वर्ग के लिए यह पहले से जान लेना आवश्यक होता है कि ये वर्ग कैसा आचरण करेंगे। इसके लिए इसे यह जानना चाहिए कि विभिन्न दशाओं के अन्तर्गत, विभिन्न वर्गों का व्यवहार किन परिस्थितियों पर आधारित होता है। कर्मी–वर्ग, सत्ता–प्राप्त करने के पूर्व, पूँजीवाद के नीचे रहने को विवश है तथा इसे अपने स्वतन्त्रता के संघर्ष में यह बात सतत ध्यान में रखनी है कि समस्त वर्तमान वर्गों का व्यवहार क्या होगा। इसे यह जानना चाहिए कि यह व्यवहार किस पर आधारित होता है, तथा यह व्यवहार किसके द्वारा निर्धारित होता है। इस प्रश्न का उत्तर केवल सामाजिक विज्ञान द्वारा दिया जा सकता है। यदि कर्मी–वर्ग ने सत्ता हस्तगत कर ली है, तो इसे अन्य देशों की पूँजीवादी सरकारों के विरुद्ध तथा अपने देश में भी प्रति–क्रान्ति

के अवशेषों के विरुद्ध संघर्ष करने की आवश्यकता है; तथा यह उत्पादन और वितरण के संगठन के स्थिर करने के सर्वाधिक कठिन कार्य को करने के लिए भी विवश है। आर्थिक नियोजन की प्रकृति क्या हो; बौद्धिक–वर्ग का उपयोग कैसे हो; किसानों और छोटे–छोटे बुर्जुआओं को साम्यवाद में कैसे दीक्षित किया जाये; कार्यकर्ताओं के स्तर से अनुभवी प्रशासक कैसे तैयार किए जाएँगे; कर्मी–वर्ग के उन विशाल जनसमूहों तक कैसे पहुंचा जाएगा जिनमें अभी वर्ग–चेतना नाम मात्र को ही है; आदि–आदि। इन समस्त प्रश्नों का समुचित उतर पाने के लिए समाज के ज्ञान की, इसके वर्गों, इनकी विलक्षणताओं, विभिन्न परिस्थितियों में होने वाले इनके व्यवहार के ज्ञान की आवश्यकता होती है; इन्हें समाज के विभिन्न वर्गों की राजनीतिक अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक विचारधाराओं के ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। ये प्रश्न सामाजिक विज्ञानों की आवश्यकता को व्यक्त करते हैं। समाज के पुनर्निर्माण की व्यावहारिक समस्या का समुचित समाधान कर्मी–वर्ग द्वारा वैज्ञानिक नीति का प्रयोग करने से हो सकता है, यह नीति ऐसी है जो वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित है; सर्वहारा–वर्ग के सन्दर्भ में यह वैज्ञानिक सिद्धान्त कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त है।

ख. बुर्जुआ–वर्ग तथा सामाजिक विज्ञान

बुर्जुआ लोगों ने भी अपने सामाजिक विज्ञानों की सृष्टि की है और उन्हें अपनी व्यावहारिक आवश्यकताओं पर आधारित किया है। जब बुर्जुआ–वर्ग शासक–वर्ग होता है, तो इसे बहुसंख्यक समस्याओं का समाधान करना पड़ता है; वस्तुओं की पूँजीवादी व्यवस्था को कैसे बनाए रखा जाए; पूजीवादी समाज के तथाकथित ''सहज विकास'' को कैसे संरक्षित रखा जाए, जिसका आशय लाभों का सतत अन्तःस्रवण है; इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आर्थिक संस्थाओं का संगठन कैसे किया जाए; अन्य देशों के साथ कैसी नीति का अनुसरण हो; कर्मी–वर्ग पर अपना शासन कैसे बनाए रखा जाए; अपने ही स्तरों में मतभेदों को कैसे दूर किया जाए; अपने अधिकारियों को कैसे प्रशिक्षित किया जाए, जैसे पुरोहित, पुलिस, पण्डित; आदेशों को कैसे पालन कराया जाए जिससे कर्मी–वर्ग उग्र और उदण्ड होकर यन्त्रों को नष्ट न करें, बल्कि अपने दमन करने वालों के आज्ञा–पालक बनें रहें; आदि।

इसी उद्देश्य से बुर्जुआ–वर्ग को सामाजिक विज्ञानों की आवश्यकता होती है; ये विज्ञान इसे जटिल सामाजिक जीवन से अनुकूलन करने तथा जीवन की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिए समुचित मार्ग के चुनाव करने में सहायता करते हैं। उदाहरणार्थ यह एक रोचक बात है कि प्रारम्भिक बुर्जुआ अर्थशास्त्री बहुत बड़े व्यापारी और सरकार के नेता थे, बुर्जुआ–वर्ग का महान् सिद्धान्त–निरूपक, रिकार्डो, बहुत सुयोग्य बैंकर था।

ग. सामाजिक विज्ञानों की वर्गीय विशेषता

बुर्जुआ विद्वान सदा यह प्रतिपादित करते हैं कि वे तथाकथित ''विशुद्ध विज्ञान'' का प्रतिनिधित्व करते हैं, अर्थात् समस्त संसारिक प्रपीड़नों, समस्त संघर्षशील स्वार्थों, जीवन के उत्थान और पतनों, लाभ की तृष्णा, तथा अन्य सांसारिक और कुरूप वस्तुओं से उनके विज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके विज्ञान की विषय–वस्तु की अवधारणा करीब–करीब इस प्रकार है : विद्वान एक ईश्वर है, जो उदात्त विशिष्ट पद पर आसीन है, सामाजिक जीवन के विभिन्न स्वरूपों को तटस्थ भाव से देख रहा है; वे सोचते हैं तथा उससे भी अधिक जोर से घोषणा करते हैं कि विशुद्ध ''सिद्धान्त'' का व्यर्थ के या निकृष्ट ''आचरणों'' से कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन यह अवधारणा मिथ्या है; और इसके विपरीत बात सत्य है : समस्त ज्ञान का उद्भव आचरण से ही होता है। ऐसी स्थिति में, यह पूर्णतयः स्पष्ट है कि सामाजिक विज्ञान वर्गीय विशेषताओं से युक्त होते हैं। प्रत्येक वर्ग का अपना आचरण होता है, इसके अपने विशिष्ट कार्य होते हैं, इसके अपने हित होते हैं और इसलिए इसका वस्तुओं के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण होता है। बुर्जुआ–वर्ग पूँजी के नियमों के संरक्षण, स्थिरीकरण, घनीकरण, प्रसरण से मुख्यरूप से सम्बन्धित है। कर्मी–वर्ग जीवन के पुनर्निर्माण के लिए मुख्य रूप से पूँजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन और कर्मी–वर्ग के नियमों के संरक्षण से सम्बन्धित है। यह समझना कठिन नहीं है कि बुर्जुआ–वर्ग के आचरण के लिए एक बात की आवश्यकता होगी और सर्वहारा–वर्ग के आचरण के लिए दूसरी बात की। वस्तुओं के सम्बन्ध में बुर्जुआ लोगों का

दृष्टिकोण एक प्रकार का होगा और सर्वहारा–वर्ग का दृष्टिकोण दूसरे प्रकार का; बुर्जुआ–वर्ग का सामाजिक विज्ञान एक प्रकार का होगा और सर्वहारा–वर्ग का निस्सन्देह भिन्न प्रकार का।

घ. बुर्जुआ–वर्ग के विज्ञान से सर्वहारा–वर्ग का विज्ञान क्यों उत्तम है ?

अब हमें इस प्रश्न का उत्तर यहाँ देना है। यदि सामाजिक विज्ञान वर्गीय विशेषताओं से युक्त हैं, तो बुर्जुआ–वर्ग के विज्ञान से सर्वहारा–वर्ग का विज्ञान किस रूप में उत्तम है ? यदि बुर्जुआ–वर्ग का अपना आचरण है, तो सर्वहारा–वर्ग के भी तो अपने हित, अपनी आकांक्षाएं, अपने आचरण है। दोनों वर्गों को निहित हितों के पक्ष मानना चाहिए। केवल यह कहना र्प्याप्त नहीं है कि एक वर्ग अच्छा है, उच्च विचारों वाला है, मानवता के कल्याण से सम्बन्धित है, जबकि दूसरा वर्ग लालची, लाभों के लिए उत्सुक है, आदि। इन दो वर्गों में से एक के पास एक प्रकार का चश्मा है जो लाल है, और दूसरे वर्ग के पास भिन्न प्रकार का चश्मा है जो सफेद है। सफेद चश्में की तुलना में लाल चश्मा के द्वारा ही अधिक अच्छा क्यों दिखाई पड़ता है?

हमें इस प्रश्न के उत्तर के लिए अपेक्षाकृत अधिक सावधानी से विचार करना चाहिए।

हमने देखा है कि बुर्जुआ–वर्ग पूंजीवादी व्यवस्था को बनाए रखने में रुचि लेता है। फिर भी यह सुविदित तथ्य है कि संसार में कोई चीज स्थायी नहीं है। संसार में किसी समय दास–प्रथा थी; किसी समय सामन्ती–प्रथा थी; किसी समय पूंजीवादी व्यवस्था थी और अनेक स्थानों पर अभी भी है; संसार में मानव–समाज के अन्य अनेक स्वरूप रहे हैं। स्पष्ट है– निर्विवाद रूप में ऐसा है– कि हमें निम्नांकित निष्कर्ष निकालना चाहिए : जो सामाजिक जीवन को उसके वर्तमान आधार पर समझेगा, उसे यहीं यह भी समझना चाहिए कि सब कुछ परिवर्तनशील है, तथा समाज के एक स्वरूप के उपरान्त दूसरा स्वरूप आता है। उदाहरण के लिए ऐसे सामन्ती कृषकदास (सर्फ) – स्वामी की कल्पना करिए, जो किसानों की कृषक दासता से मुक्ति के पहले का था, अर्थात् जिस काल में किसान सामन्तों के दास थे। ऐसा

मनुष्य एक कल्पना तक नहीं कर सकता था कि ऐसी भी समाज–व्यवस्था सम्भव हो सकती है जिसमें किसानों का क्रय–विक्रय या शिकारी कुत्तों के लिए उनका विनिमय असम्भव हो सकेगा। क्या ऐसा कृषकदास–स्वामी समाज के उद्विकास को ठीक–ठीक समझ सकता था? वास्तव में नहीं। क्यों नहीं? इसका कारण यह है कि उसकी आँखों में चश्मा नहीं; अंधियारी लगी थी। वह अपनी नाक के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं देख सकता था, और इसलिए ठीक उसकी नाक के नीचे जो कुछ हो रहा था, उसे भी समझने में असमर्थ था।

बुर्जुआ लोग भी ऐसी ही अंधियारी धारण किए रहते हैं। बुर्जुआ–वर्ग भी पूंजीवाद के संरक्षण में रुचि रखता है तथा इसके स्थायित्व और अनश्वरता में विश्वास करता है। अतः वह पूंजीवादी समाज के उद्विकास की ऐसी प्रघटनाओं और ऐसे लक्षणों के प्रति आँखें बन्द किए रहता है, जो इसकी अस्थायी प्रकृति, इसकी विनाशोन्मुखीनता, इस सामाजिक संगठन के स्थान पर दूसरे सामाजिक संगठन के आने की सम्भावना की ओर संकेत करते हैं। यह बात विश्वयुद्ध और क्रान्ति के उदाहरण से अत्यन्त स्पष्ट हो चुकी है। क्या बुर्जुआ–वर्ग के प्रमुख विद्वानों में से किसी ने भी इस विराट हत्या के परिणामों के सम्बन्ध में पहले से अनुमान लगाया था ? किसी ने नहीं ! क्या किसी को क्रान्ति का पूर्वाभास था ? किसी को भी नहीं ! वे सब अपनी बुर्जुआ सरकारों के समर्थन में व्यस्त थे और अपने देश के पूंजीपतियों की विजय की भविष्यवाणियां कर रहे थे। फिर भी, युद्धजन्य सामान्य विनाश की प्रघटनाएं और सर्वहारा–वर्ग की अभूतपूर्व क्रान्तियां मनुष्य–जाति के भाग्य का निर्णय कर रही हैं, और सम्पूर्ण संसार को परिवर्तित कर रही हैं। लेकिन बुर्जुआ–वर्ग के विज्ञान को इन सबमें से किसी एक के सम्बन्ध में भी पूर्व–बोध नहीं था। लेकिन सर्वहारा–वर्ग के विज्ञान के प्रतिनिधियों–साम्य–वादियों–ने अवश्य पूर्वाभास कर लिया था। यह अन्तर इस तथ्य के कारण है कि सर्वहारा–वर्ग को प्राचीन के संरक्षण में कोई रुचि नहीं है, इसीलिए वह अधिक दूरदर्शी है।

अब यह समझना कठिन नहीं है कि बुर्जुआ–सामाजिक विज्ञान की अपेक्षा सर्वहारा–सामाजिक विज्ञान के पास जीवन की प्रघटनाओं के सम्बन्ध में अधिक व्यापक और गहन अन्तर्दृष्टि है, क्योंकि यह सुदूर को देखने और उन तथ्यों के र्प्यवेक्षण में सक्षम है जो

बुर्जुआ–सामाजिक विज्ञान की दृष्टि से परे हैं। अतः यह स्पष्ट है कि मार्क्सवादियों को सर्वहारा–विज्ञान की यथार्थ या सत्य विज्ञान मानने, तथा यह मांग करने कि इसे सामान्य रूप से स्वीकृति प्राप्त हो, का पूर्ण अधिकार है।

ङ. विभिन्न सामाजिक विज्ञान और समाजशास्त्र

मानव–समाज अत्यधिक जटिल है ; वस्तुतः, समस्त सामाजिक प्रघटनाएं अत्यधिक जटिल और विभिन्न प्रकार की होती हैं। उदाहरण के लिए, समाज में आर्थिक प्रघटनाएं हैं, समाज की आर्थिक संरचना और इसका राष्ट्रीय संगठन है, तथा नैतिकता, कला, दर्शन के क्षेत्र हैं ; और पारिवारिक सम्बन्धों का प्रदेश है, आदि। ये प्रायः अत्यधिक विलक्षण प्रतिमानों के रूप में अन्तर–संग्रथित होते हैं, और सामाजिक जीवन की धारा का निर्माण करते हैं। यह स्पष्ट है कि इस जटिल सामाजिक जीवन को समझने के लिए इसके विभिन्न आरम्भ–बिन्दुओं से इस पर विचार किया जाए, और विज्ञान को विज्ञानों के समूह में विभक्त किया जाए। कोई समाज के आर्थिक जीवन (अर्थशास्त्र) या पूंजीवादी अर्थ–व्यवस्था के विशिष्ट सार्वभौम नियमों (राजनीतिक अर्थ–व्यवस्था) का अध्ययन करेगा; दूसरा कानून और राज्य का अध्ययन करेगा और अन्य विशिष्ट विषयों पर विस्तार से विचार करेगा; तीसरा नैतिकता का अध्ययन करेगा; आदि।

ज्ञान की इन शाखाओं में से प्रत्येक को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है : इन विज्ञानों का एक वर्ग या समूह अतीत का अनुसंधान करेगा, यह ऐतिहासिक विज्ञान है। उदाहरणार्थ, कानून के क्षेत्र को लें : यह खोज करना और सारगर्भित रूप में वर्णन करना सम्भव है कि कानून और राज्य किस प्रकार विकसित हुए हैं, और उनके स्वरूप किस प्रकार परिवर्तित हुए हैं। यह कानून का इतिहास होगा। लेकिन कुछ प्रश्नों की खोज करना और उनका समाधान प्रस्तुत करना भी सम्भव है : कानून क्या है, किन परिस्थितियों के अन्तर्गत यह विकसित होता है या नष्ट होता है ; किस पर इसके स्वरूप आधारित होते हैं ; आदि। यही कानून का सिद्धान्त होगा। ज्ञान की ऐसी शाखाएं सैद्धान्तिक शाखाएं हैं।

समाजिक विज्ञानों में से दो ऐसी महत्त्वपूर्ण शाखाएं हैं, जो सामाजिक जीवन के केवल किसी एक क्षेत्र पर विचार नहीं करती हैं, अपितु समग्र सामाजिक जीवन को इसकी समस्त परिपूर्णताओं के साथ अपने विचार–क्षेत्र का विषय मानती हैं । दूसरे शब्दों में, ये केवल किसी एक प्रकार की प्रघटनाओं (जैसे, आर्थिक, कानूनी, धार्मिक प्रघटनाओं) पर विचार न करके समाज के समग्र जीवन को लेती हैं ; वे समाज की समस्त प्रकार की प्रघटनाओं के समूहों से सम्बन्धित होती हैं। इन विज्ञानों में एक इतिहास है ; दूसरा समाजशास्त्र है। जो कुछ ऊपर कहा गया है, उसको दृष्टि में रखते हुए इन दोनों के अन्तर को आत्मसात करना कठिन नहीं होगा। इतिहास यह अनुसंधान और वर्णन करता है कि किसी निश्चित काल में और किसी निश्चित स्थान में सामाजिक जीवन की धारा कैसे प्रवाहित हुई थी। समाजशास्त्र सामान्य प्रश्नों पर विचार करता है, जैसे समाज क्या है ? इसका विकास या विनाश किस बात पर आधारित होता है? सामाजिक प्रघटनाओं के विभिन्न समूहों (आर्थिक, कानूनी, वैज्ञानिक, आदि) के बीच क्या सम्बन्ध होता है; उनके उद्विकास की व्याख्या किस प्रकार की जाए; समाज के ऐतिहासिक स्वरूप क्या हैं; हम किस प्रकार इस तथ्य की व्याख्या करेंगे कि इस प्रकार के एक स्वरूप के बाद दूसरा स्वरूप आता है; आदि–आदि। समस्त सामाजिक विज्ञानों में समाजशास्त्र सबसे अधिक सामान्य (अमूर्त) विज्ञान है। इसका उल्लेख प्रायः अन्य शीर्षकों के अन्तर्गत भी किया जाता है, जैसे ''इतिहास–दर्शन'', ''ऐतिहासिक प्रक्रिया का सिद्धान्त'', आदि।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इतिहास और समाजशास्त्र के बीच क्या सम्बन्ध होता है। चूंकि समाजशास्त्र मानवीय उद्विकास के सामान्य नियमों की व्याख्या करता है, इसलिए यह इतिहास की विधि (मैथड) के रूप में कार्य करता है। उदाहरण के लिए, यदि समाजशास्त्र यह सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि सरकार के स्वरूप आर्थिक व्यवस्था के स्वरूपों पर आधारित होते हैं, तो इतिहासकार को यह खोजना और पता लगाना चाहिए कि किसी युग विशेष में ये सम्बन्ध क्या हैं, तथा यह दिखाना चाहिए कि उनकी मूर्त और विशिष्ट अभिव्यक्ति क्या है। समाजशास्त्रीय सामान्यीकरणों को प्राप्त करने के लिए इतिहास सामग्री प्रदान करता है, क्योंकि ये सामान्यीकरण या निष्कर्ष किसी एक वस्तु से नहीं बने होते हैं, अपितु वे इतिहास के वास्तविक तथ्यों से निकले होते हैं। दूसरी ओर, समाजशास्त्र अनुसंधान

के एक साधन के रूप में एक निश्चित दृष्टिकोण का निर्माण करता है, या, हम कह सकते हैं, कि इतिहास के लिए एक अध्ययन विधि का निर्माण करता है।

च. मार्क्सवादी समाजशास्त्र के रूप में ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त

कर्मी–वर्ग का अपना सर्वहारा–समाजशास्त्र है, जिसे ''ऐतिहासिक भौतिकवाद'' के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त की मुख्य रूपरेखा मार्क्स और एंजेल्स द्वारा प्रस्तुत की गई थी। इसे ''इतिहास की भौतिक विधि'' या केवल ''आर्थिक भौतिकवाद'' भी कहते हैं। यह परिपूर्ण और प्रबुद्ध सिद्धान्त मानवीय चिन्तन और बोध का सर्वाधिक शक्तिशाली साधन है। सर्वहारा–वर्ग इसकी सहायता से सामाजिक जीवन और वर्ग–संघर्ष के अनेक अत्यधिक जटिल प्रश्नों के उत्तर पाता है। साम्यवादी इसकी सहायता से युद्ध और क्रान्ति तथा सर्वहारा–वर्ग की तानाशाही, और साथ–ही–साथ विभिन्न दलों, समूहों और वर्गों के उस महान् रूपान्तरण के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करता है जिससे अब मानवता गुजर रही है। इस पुस्तक का उद्देश्य इसी सिद्धान्त का अर्थ–प्रतिपादन और विकास करना है।

कुछ व्यक्ति यह कल्पना करते हैं कि ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त को किसी भी दशा में ''मार्क्सवादी समाजशास्त्र'' नहीं मानना चाहिए, तथा क्रमबद्ध रूप में इसकी व्याख्या नहीं होनी चाहिए; उनका विश्वास है कि यह ऐतिहासिक ज्ञान की केवल एक जीवन्त विधि है, इसके सत्यों को केवल मूर्त और ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में ही व्यवहार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, यह भी तर्क किया जाता है कि स्वयं समाजशास्त्र की अवधारणा ही बहुत अनिश्चित है; क्योंकि कभी यह अपने को आदिम संस्कृति तथा मानव–समुदाय के आदिम स्वरूपों के उद्‌भव के विज्ञान के रूप में प्रस्तुत करता है, कभी अत्यधिक विभिन्न प्रकार की सामाजिक प्रघटनाओं के सामान्य पर्यवेक्षणों को सूचित करता है, और कभी सावयव के साथ समाज का आलोचनात्मक तुलना (समाजशास्त्र का सावयवी या जीवशास्त्रीय सम्प्रदाय) को व्यक्त करता है।

ऐसे समस्त तर्क भ्रामक हैं। सर्वप्रथम, जो भ्रम बुर्जुआ–वर्ग में फैले हुए हैं, वे सर्वहारा–वर्ग में प्रेरक नहीं होने चाहिए; क्योंकि ऐतिहासिक भौतिकवाद का अपना निश्चित स्थान है, यह न तो राजनीतिक अर्थ–व्यवस्था है और न यह इतिहास है; यह तो समाज तथा इसके उद्विकास के नियमों का सामान्य सिद्धान्त है, अर्थात्, यह समाजशास्त्र है। दूसरे, ऐतिहासिक भौतिकवाद इतिहास की एक अध्ययन–विधि है – यह तथ्य समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में इसके (ऐतिहासक भौतिकतावाद के) महत्त्व को किसी भी दशा में कम नहीं करता है। प्रायः एक अधिक भावात्मक या अमूर्त विज्ञान किसी कम भावात्मक या अमूर्त विज्ञान के लिए एक दृष्टिकोण (अध्ययन–विधि) प्रदान कर सकता है। यही स्थिति यहाँ भी है।

1

समाज–विज्ञानों में कारण और प्रयोजन

कारणता और प्रयोजनवाद

क. सामान्य रूप में प्रघटनाओं तथा विशेष रूप में सामाजिक प्रघटनाओं की एकरूपता

यदि हम अपने आस–पास की प्रकृति की घटनाओं और साथ–ही–साथ सामाजिक जीवन की प्रघटनाओं का पर्यवेक्षण करें, तो ज्ञात होगा कि ये प्रघटनाएँ किसी भी दशा में ऐसी अव्यवस्थित राशि का निर्माण नहीं करती हैं, जिसमें कुछ भेदकरण न किया जा सके, या, जिसके सम्बन्ध में कुछ समझा न जा सके, अथवा, जिसके विषय में कोई भविष्यवाणी न की जा सके। दूसरी ओर, हम सूक्ष्म पर्यवेक्षण के द्वारा इन प्रघटनाओं में, प्रत्येक स्थान पर, निश्चित विनियमितता निर्धारित कर सकते हैं। रात के बाद दिन आता है; और, उसी प्रकार अपरिहार्य रूप से दिन के बाद रात होती है। ऋतु नियमित रूप से एक के बाद दूसरी आती रहती हैं; जिनमें अनेक ऐसी सहगामी या सहवर्ती प्रघटनायें भी साथ–साथ होती हैं जिनकी आवृत्ति वर्ष–प्रति–वर्ष होती रहती है; पेड़ों में पत्तियाँ उगती हैं और झड़ती है; अनेक प्रकार के पक्षी उड़कर हमारे देश में आते हैं और चले जाते हैं; मनुष्य बीज बोते हैं और फसल काटते हैं; आदि। जब कभी गर्मी में वर्षा होती है, तो असंख्य मच्छर पैदा होते हैं। राई का एक दाना भूमि पर गिरकर कुछ निश्चित परिस्थितियों के अन्तर्गत अंकुरित होगा, और एक पौध बनेगा, तथा अन्ततोगत्वा दाने का एक भुट्टा उत्पन्न करेगा। लेकिन हमने यह कहीं नहीं देखा है कि किसी मेढक के अंडे से या पत्थर के टुकड़े से ऐसा भुट्टा पैदा हुआ हो। अतः प्रकृति में ग्रहों की गति से लेकर छोटे से दाने या मच्छर तक प्रत्येक वस्तु एक निश्चित एकरूपता के अधीन होती है, अथवा, जैसा कि सामान्य रूप से कहा जाता है कि एक निश्चित प्राकृतिक नियम के अधीन होती है।

हमें यही अवस्था सामाजिक जीवन, अर्थात्, मानव–समाज के जीवन में भी देखने को मिलती है। यह समाज कितना भी जटिल और वैविध्यपूर्ण क्यों न हो, फिर भी हम इसमें एक निश्चित प्राकृतिक नियम देखते और खोजते हैं। उदाहरण के लिये जहाँ कहीं (अमेरिका, जापान, अफ्रीका या आस्ट्रेलिया में) पूंजीवाद विकसित होता है, वहाँ श्रमिक–वर्ग का भी विकास और प्रसार होता है, और इसी प्रकार समाजवादी आन्दोलन अर्थात् मार्क्सवाद के सिद्धान्त का भी प्रसार होता है। उत्पादन की वृद्धि के साथ ''मानसिक संस्कृति'' – पढ़ने–लिखने की योग्यता रखने वाले व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि होती है। पूंजीवादी समाज में निश्चित कालान्तरों में संकट उत्पन्न होते हैं, जिनके बाद दिन और रात के क्रम की निश्चितता की तरह औद्योगिक विस्फोट होते हैं। किसी एक ऐसे बड़े अन्वेषण के होने पर, जो पूर्ण प्रौद्योगिकी में क्रान्ति करता है, सम्पूर्ण सामाजिक जीवन बड़ी द्रुत गति से परिवर्तित होता है, अथवा, हम एक दूसरा उदाहरण दे सकते हैं कि यदि हम किसी देश में प्रत्येक वर्ष में पैदा होने वाले व्यक्तियों की संख्या गिनें, तो देखेंगे कि आगामी वर्ष में जनसंख्या की प्रतिशत–वृद्धि करीब–करीब पिछले वर्षों के ही समान होगी। यदि हम बबारिया में प्रतिवर्ष खपत होने वाली शराब की मात्रा का हिसाब लगायें, तो हमें ज्ञात होगा कि यह मात्रा जनसंख्या की वृद्धि के साथ–साथ न्यूनाधिक रूप में अविचल रूप से बढ़ रही है। यदि जहाँ कोई एकरूपता नहीं है, तो वहाँ कोई प्राकृतिक नियम नहीं है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि वहाँ न तो कोई भविष्यवाणी की जा सकती है, और, न कुछ किया जा सकता है। आज रात के बाद दिन हो सकता है, और बाद में पूरे वर्ष दिन नहीं रह सकता है। इस वर्ष जाड़े में हिमपात हो सकता है, जबकि अगले वर्ष जाड़ों में हिमपात नहीं हो सकता है। इग्लैण्ड में श्रमिक–वर्ग पूँजीवाद के साथ–साथ विकसित हो सकता है, जबकि जापान में सम्भवतः भूस्वामियों की संख्या में वृद्धि हो सकती है। अभी हम भट्ठी में रोटी पकाते हैं, लेकिन तब सम्भवतः रोटियाँ गेहूं से न बनकर अनन्नास के पेड़ों में लगेंगीं।

वास्तव में, कोई इस प्रकार की बातें नहीं सोचता है; बल्कि प्रत्येक व्यक्ति यह भली प्रकार जानता है कि रोटियाँ अनन्नास के वृक्ष में नहीं पैदा होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति ने यह देखा

है कि प्रकृति और समाज में एक निश्चित विनियमितता, एक निश्चित प्राकृतिक नियम है। इस प्राकृतिक नियम को निश्चित करना विज्ञान का प्रथम कार्य है।

ख. कारणता की प्रकृति, समस्या का सूत्रीकरण

यदि उपर्युक्त एकरूपता को प्रकृति और समाज की प्रघटनाओं में देखा जा सकता है, तो हम यह पूछ सकते हैं कि यह एकरूपता क्या है? जब हम घड़ी की यान्त्रिकता की परीक्षा करते हैं, तथा, इसकी सूक्ष्म क्रियाविधि पर ध्यान देते हैं, जब हम देखते हैं कि कैसे सुन्दर ढंग से घड़ी के छोटे–छोटे पहिए एक–दूसरे के साथ व्यवस्थित रूप से सम्बद्ध होते हैं, तथा उनके दाँतुए, एक दूसरे से फंसे हुए होते हैं, तो हमें भली प्रकार ज्ञात हो जाता है कि घड़ी क्यों चलती है। घड़ियों का निर्माण एक निश्चित योजना के द्वारा हुआ है, इस यंत्र की रचना एक निश्चित उद्‌देश्य से की गई; प्रत्येक स्क्रू बहुत नाप–जोख के साथ उसके उद्देश्य पूर्ति की दृष्टि से यथास्थान लगाया गया है। इसी प्रकार इस विराट् ब्रह्माण्ड में ग्रह अपने–अपने पथ पर नियमित और अबाध रूप से गतिशील रहते हैं। यदि हमें किसी पशु की आंख में यह देखना है कि उसे किस चातुर्य और कौशल से तथा व्यावहारिक योजनापूर्ण रीति से बनाया गया है, तो हमें केवल उसकी रचना पर ही विचार करना होगा। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु योजनायुक्त प्रतीत होती है : छछूंदर जमीन के अंदर रहती है, उसकी आंखें छोटी और अंधी होती हैं, लेकिन उसकी श्रवणशक्ति बहुत उत्तम होती है; गहरे समुद्र में रहने वाली मछली के शरीर पर पानी का भारी दबाव पड़ता है, लेकिन वह अपने अन्दर के समान दबाव के द्वारा बाहरी दबाव का प्रतिरोध करती रहती है (यदि इस प्रकार की मछली को पानी के बाहर निकाला जाय, तो वह फट जाएगी); आदि। मनुष्य–समाज में सब काम कैसे चलता है? क्या मानव–समाज के समक्ष एक महान् उद्देश्य, अर्थात् साम्यवाद प्रस्तुत नहीं है? क्या इतिहास का सम्पूर्ण उद्–विकास इसी लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ रहा है? लेकिन यदि समाज और प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का कोई निश्चित उद्देश्य है, जो हमें प्रत्येक अवस्था में नहीं ज्ञात हो सकता है, फिर भी जिसमें परिपूर्णता की अविरत प्रक्रिया निहित होती है, तो क्या हमें इन लक्ष्यों को दृष्टि में रखकर समस्त वस्तुओं पर विचार नहीं करना चाहिए? इस स्थिति में, जिस प्राकृतिक नियम की दशा के सम्बंध में हम पीछे कह चुके हैं, वह प्रयोजनपूर्ण प्राकृतिक नियम की या

प्रयोजनवादी प्राकृतिक नियम की दशा प्रतीत होगी। यह उन दो संभावनाओं में से एक है जिसके द्वारा प्राकृतिक नियम की विशेषता के प्रश्न का सूत्रीकरण हो सकता है।

प्रश्न का दूसरा सूत्रीकरण इस तथ्य से प्रारम्भ होता है कि प्रत्येक प्रघटना का एक कारण है। मानवता साम्यवाद की ओर इसलिए बढ़ रही है कि पूंजीवादी समाज में शोषित–वर्ग का जन्म हो चुका है, और इन शोषितों को पूंजीवादी समाज के ढाँचे में व्यवस्थित नहीं किया जा सकता। छछूंदर दृष्टिहीन है तथा उसकी श्रवण–शक्ति उत्तम है; क्योंकि हजारों वर्षों से प्राकृतिक परिस्थितियाँ उस पर अपना प्रभाव डालती चली आ रही हैं। इन परिस्थितियों द्वारा वाँछित परिवर्तन उनकी संतानों में हो गए हैं। जो जीव इन परिस्थितियों के साथ अनुकूलन नहीं कर सकते थे, उनकी अपेक्षा जिन जीवों ने इन परिस्थितियों के साथ अनुकूलन कर लिया, उनके लिए जीवित बने रहना, संतानोत्पादन करना और संख्या–वृद्धि करना अधिक सरल हुआ। दिन के बाद रात होती है और रात के बाद दिन इसलिए होता है; क्योंकि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है और एक बार उसका एक हिस्सा सूर्य के सामने आता है और दुबारा दूसरा। इन समस्त उदाहरणों में हम प्रयोजन की बात (क्या लक्ष्य है) नहीं पूछते हैं? लेकिन हम कारण क्यों पूछते हैं। यह समस्या या प्रश्न का ''कारणात्मक''। (यह शब्द अंग्रेजी भाषा के काजल (Casual) का हिन्दी रूपान्तर है जो लैटिन भाषा के काजा (Causa) से बना है जिसका अर्थ है कारण) सूत्रीकरण है। यहाँ पर प्रघटना का प्राकृतिक नियम, कारण और प्रभाव के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

कारणता और प्रयोजनवाद के पारस्परिक संघर्ष की यही प्रकृति है। हमें इस संघर्ष को अविलम्ब दूर करना चाहिए।

ग. प्रयोजनवाद तथा प्रयोजनवाद के प्रति आपत्तियां, अंतस्थ प्रयोजनवाद

यदि एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में हम प्रयोजनवाद पर विचार करें, अर्थात्, यदि हम इस दृष्टिकोण की सूक्ष्मरूप से परीक्षा करें कि विश्व की प्रत्येक वस्तु का कोई उद्देश्य है, तो हमें इसकी पूर्ण निस्सारता को आत्मसात करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। आखिरकार लक्ष्य या प्रयोजन क्या है? एक लक्ष्य की अवधारणा में एक ऐसे व्यक्ति की अवधारणा पूर्वकल्पित हो

जाती है जो इसे लक्ष्य के रूप में निर्धारित करता है, अर्थात् जो इसे चेतनरूप में निर्धारित करता है। उस व्यक्ति से पृथक्, जो प्रयोजन की धारणा बनाता है, प्रयोजन जैसी कोई चीज नहीं है। एक पत्थर अपना कोई लक्ष्य नहीं स्थिर करता है; सूर्य, ग्रह तथा संपूर्ण सौरप्रणाली या आकाश–गंगा आदि अपना कोई लक्ष्य नहीं निर्धारित करते हैं। प्रयोजन एक विचार है जो ऐसे चेतन–जीवन्त प्राणियों से ही सम्बन्धित हो सकता है, जिनकी इच्छाएं होती हैं, जो इन इच्छाओं को अपने लक्ष्यों के रूप में प्रस्तुत करते हैं तथा इन इच्छाओं की उपलब्धि के लिए आकांक्षा रखते हैं। केवल एक आदिवासी ही मार्ग के किनारे पड़े हुए पत्थर के उद्देश्य के सम्बंध में पूछ सकता है। चूंकि आदिवासी प्रकृति और पत्थर में आत्मा का अस्तित्व मानता है, इसीलिए प्रयोजनवाद उसके मस्तिष्क को आच्छादित किए रहता है, और उसके अनुसार पत्थर एक चेतन मनुष्य के रूप में कार्य करता है। प्रयोजनवाद के समर्थक उस आदिवासी के ही समान हैं; क्योंकि उनके मस्तिष्क में यह बात घर कर चुकी है कि सम्पूर्ण विश्व का एक प्रयोजन है और यह प्रयोजन किसी अज्ञात व्यक्ति द्वारा स्थिर किया गया है। यह ऊपर से स्पष्ट है कि प्रयोजन की अवधारणा सम्पूर्ण विश्व के सम्बन्ध में पूर्णरूप से व्यवहार्य नहीं है तथा प्रघटनाओं का प्राकृतिक नियम प्रयोजनवादी प्राकृतिक नियम नहीं है।

लेकिन उन अनेक प्रघटनाओं की व्याख्या हम कैसे करेंगे जिनमें प्रयोजन नितान्त स्पष्ट है (कुछ अंगों की रचना की योजनायुक्तता, सामाजिक प्रगति, पशुओं और मनुष्यों के स्वरूपों की परिपूर्णता आदि)? हम स्थूल रूप से प्रयोजनवादी दृष्टिकोण को मान लें तथा परमपिता परमात्मा और उसकी योजना की दुहाई दें, तो इस ''व्याख्या'' की मूर्खता तुरंत स्पष्ट हो जाएगी। अतः प्रयोजनवादी दृष्टिकोण कुछ व्यक्तियों में अधिक सूक्ष्मीकृत स्वरूप को मानता है, अर्थात्, ''तथाकथित अंततस्थ प्रयोजनवाद'' प्रकृति और समाज की प्रघटनाओं में अंतर्निहित प्रयोजनयुक्ता के मत के स्वरूप को स्वीकार करता है।

यह मत रहस्यात्मक शक्ति के विचार को अभिधात्मक भाव में अस्वीकार करता है। यह केवल उन लक्ष्यों की बात करता है जो घटनाओं के द्वारा निरंतर उद्घाटित होते रहते हैं, तथा जो लक्ष्य उद्विकास की प्रक्रिया में ही अंतर्निहित होते हैं। आइये, इस अवधारणा को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करें। किसी एक निश्चित प्रकार के जीव को लीजिये। यह जीव अनेक

कारणों से एक दीर्घ अवधि में प्रकृति के अनुरूप अपने में अधिकाधिक अनुकूलन और परिवर्तन कर लेता है। अवयव निरंतर पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहे हैं, अर्थात्, वे प्रगति कर रहे हैं। या, हम मानव–समाज को ले सकते हैं। हम अपने समाज के भविष्य की कल्पना भले ही किसी रूप में करें (चाहे यह समाज समाजवादी हो, या, अन्य किसी प्रकार का), लेकिन क्या यह स्पष्ट नहीं है कि मनुष्य–जाति का उद्विकास हो रहा है, मनुष्य अधिक सुसंस्कृत हो रहा है, वह अपने को परिपूर्ण बना रहा है, तथा हम सृजन के स्वामी सभ्यता और प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। संक्षेप में, जीव की संरचना जैसे–जैसे उसके प्रयोजन की पूर्ति के लिए अधिकाधिक अनुकूल होती जा रही है, उसी तरह समाज अपनी संरचना में अधिकाधिक परिपूर्ण होता जा रहा है, अर्थात्, समाज योजना के अधिक अनुकूल हो रहा है। यहाँ पर लक्ष्य (परिपूर्णता) उद्विकास की स्थिति में ही व्यक्त होता है। यह किसी दैवी–शक्ति द्वारा पहले से निर्धारित नहीं किया जाता है, बल्कि जैसे एक कली के विकसित होने के साथ–साथ गुलाब का फूल खिल उठता है, उसी प्रकार कुछ कारणों से उद्विकास के साथ–ही–साथ लक्ष्य भी निर्धारित हो जाता है।

क्या यह सिद्धान्त सही है? नहीं। यह केवल प्रयोजनवादी भ्रान्त धारणा का प्रच्छन्न और सूक्ष्मीकृत रूप है।

सर्वप्रथम, हमें उस लक्ष्य की अवधारणा का विरोध करना चाहिए जो किसी के द्वारा स्थिर नहीं किया जाता। यह बात उसी प्रकार है, जैसे चिंतन के माध्यम को स्वीकार किए बिना चिंतन के सम्बन्ध में बोलना, या, ऐसे प्रदेश में आंधी की बात करना जहाँ वायु बिल्कुल नहीं है, अथवा ऐसे स्थान में नदी की बात करना जहाँ किसी प्रकार का कोई द्रव नहीं है। वास्तव में, जब लोग उन प्रयोजनों की बात करते हैं जो किसी वस्तु में अंतर्निहित होते हैं, तो वे प्रायः अव्यक्त रूप में अत्यधिक कोमल और अपरीक्षणीय ऐसी आंतरिक शक्ति के अस्तित्व को मानते हैं, जो प्रयोजन को स्थिर करने के लिए होती है। यह रहस्यात्मक शक्ति कुछ–कुछ ईश्वर के समान होतो है, जिसे स्थूलरूप में दाढ़ी–मूछों से युक्त, धवल केशी वृद्ध व्यक्ति के रूप में व्यक्त किया जाता है, लेकिन उसकी तह में ईश्वर पुनः दृश्य रूप में विद्यमान है। पूर्णरूप से विचारों के अत्यधिक प्रच्छन्न आवरण में आवेष्ठित है। हम यहाँ पर पुनः उसी

प्रयोजनवादी सिद्धान्त पर विचार कर रहे हैं जिसके सम्बंध में हम ऊपर कह चुके हैं। प्रयोजनवाद (प्रयोजन का मत) सीधे धर्मशास्त्र (ईश्वर के मत) की ओर अग्रसर करता है।

लेकिन आइए अब हम अंतस्थ प्रयोजनवाद के विशुद्ध स्वरूप पर लौटें। इस उद्देश्य के लिए सामान्य प्रगति के विचार पर विचार करना अधिक श्रेयस्कर है जिसका अंतस्थ प्रयोजनवाद के समर्थक मुख्य रूप से अपने समर्थन के लिए सहारा लेते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति जान लेगा कि इस प्रसंग में प्रयोजनवादी दृष्टिकोण का खण्डन करना अधिक कठिन है, क्योंकि यहाँ पृष्ठभूमि में ''दैवी तत्व'' निहित है। फिर भी, यदि उद्‌विकास की संपूर्ण प्रक्रिया को समग्र रूप में लें, तो इस प्रसंग के तथ्यों को निश्चित करना कठिन नहीं है, अर्थात्, हमें केवल उन्हीं स्वरूपों और जातियों (पशुओं, वृक्षों, लोगों तथा प्रकृति के अकार्बनिक अंशों) के सम्बन्ध में ही विचार नहीं करना है जो अवशिष्ट हैं, बल्कि उन पर भी विचार करना है जो विनष्ट हो चुके हैं, तथा जो विनष्ट हो रहे हैं। क्या यह सत्य है कि यह प्रगति समस्त स्वरूपों में हो रही है? यह सत्य नहीं है। एक समय में विशालकाय जीव (मैमथ्स) थे, वे अब नहीं हैं; हम लोगों की स्मृति में भैंसे मर कर समाप्त हो चुके हैं। सामान्य रूप में, हम कह सकते हैं कि समस्त प्रकार के प्राणियों के अंसख्य रूप सदा के लिये लुप्त हो चुके हैं। मानव–समाज के सम्बन्ध में भी यही बात है। एक समय में इनकाज और अजटेक्स लोग थे लेकिन उनका कहीं पता नहीं है! असीरियन–बेबीलोनियन प्रणाली का समाज कहाँ है? क्रीटन सभ्यता और प्राचीन ग्रीक सभ्यता कहाँ है? विश्व–प्रशासक प्राचीन रोम कहाँ है? ये सब समाज नष्ट हो चुके हैं; इनका अस्तित्व अतीत का विषय है। लेकिन असंख्यों समाजों में से कुछ अविशिष्ट रहे, और उन्होंने अपने को परिपूर्ण बनाया। तब ''प्रगति'' का केवल अर्थ यह है कि मान लीजिये, दस हजार के जीव संवर्गों की तुलना में जो विकास के लिए अनुपयुक्त थे, हमारे पास एक या दो प्रकार के जीव–संवर्ग हैं जो विकास के लिये सक्षम थे। यदि हम अपने मस्तिष्क में अनुकूल परिस्थितियों और अनुकूल परिणामों को ध्यान में रखें तो हमें प्रत्येक वस्तु अत्यधिक योजनायुक्त और मनोहारी प्रतीत होगी (इस आश्चर्यजनक रीति से विश्व का निर्माण हुआ है)। लेकिन हमारे अन्तस्थ प्रयोजनवादी मित्र सिक्के के दूसरे पहलू पर विचार नहीं करते। वे विनाश के असंख्य उदाहरणों पर विचार नहीं करते हैं। सम्पूर्ण विषय का सार केवल

यह तथ्य है कि जीवन के लिए कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हैं जो अनुकूल हैं, अन्य ऐसी हैं जो प्रतिकूल हैं। अनुकूल परिस्थितियों के अन्तर्गत हम अनुकूल परिणाम पाते हैं, जबकि प्रतिकूल परिस्थितियों (जो कि प्रायः बहुत अधिक होती है) के अन्तर्गत हमें प्रतिकूल परिणाम प्राप्त होते हैं, सम्पूर्ण चित्र तुरन्त अपनी दैवी योजनाबद्ध आभा को खो देता है और प्रयोजनवादी धारणा स्वयं अपने ही भार से भूमिसात हो जाती है।

घ. समाज–विज्ञानों में प्रयोजनवाद

जब हम प्रयोजनवादी दृष्टिकोण को जीवी प्रकृति या मनुष्य के अतिरिक्त पशुओं में लागू करके देखते हैं, तो इस दृष्टिकोण की अशुद्धता तथा मूर्खता स्पष्ट हो जाती है। प्रकृति का कोई नियम प्रयोजनपूर्ण कैसे हो सकता है, जब उसमें कोई प्रयोजन ही नहीं है। लेकिन यह विषय उस समय बिल्कुल भिन्न हो जाता है, जब हम समाज और मनुष्यों के सम्बन्ध में बात करते हैं। पत्थर स्वयं अपना कोई लक्ष्य नहीं निर्धारित करता, जिर्राफ इस विषय पर संदेह की स्थिति में है; लेकिन मनुष्य प्रकृति के अन्य अंशों से भिन्न है, क्योंकि वह निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये प्रयास करता है। मार्क्स इस अन्तर को इस प्रकार प्रस्तुत करता है; ''मकड़ी इस प्रकार से कार्य करती है कि उसका कार्य जुलाहे के समान होता हैं और मधुमक्खी अपने छत्ते की रचना करने में शिल्पी को मात करती है, लेकिन एक श्रेष्ठ मधुमक्खी की तुलना में निकृष्ट शिल्पी में यह अन्तर है कि शिल्पी यथार्थ में अपनी रचना करने के पूर्व कल्पना में अपनी एक रचना खड़ी कर लेता है। प्रत्येक श्रम–प्रक्रिया की समाप्ति पर हम एक ऐसा परिणाम पाते हैं, जो कार्य–सम्पन्न होने के पूर्व श्रमिक की कल्पना में पहले से विद्यमान था। वह जिस पदार्थ पर काम करता है, उसके केवल स्वरूप को ही परिवर्तित नहीं करता है; बल्कि वह अपने उस प्रयोजन की भी अनुभूति रखता है, जो नियम को व्यावहारिक रूप प्रदान करता है और जिसके अधीन उसे अपनी इच्छा को रखना चाहिये। यह अधीनता केवल क्षणिक कार्य नहीं है। शारीरिक अंगों की चेष्टा के अतिरिक्त प्रक्रिया के लिए यह आवश्यक होता है कि सम्पूर्ण क्रिया–विधि की अवधि में काम करने वाले व्यक्ति की इच्छा उसके प्रयोजन के सतत अनुरूप हो। इसका आशय अत्यधिक दत्तचित्तता है।'' मार्क्स यहाँ पर मनुष्य और अवशेष प्रकृति के बीच स्पष्ट रेखा खींचता है; और वह ठीक भी है, क्योंकि कोई इस विचार से इन्कार नहीं कर

सकता है कि मनुष्य स्वयं लक्ष्य निर्धारित करता है। आइये हम यहाँ विचार करें कि सामाजिक विज्ञानों में ''प्रयोजनवादी विधि'' का पक्ष–पोषण करने वालों द्वारा इस तथ्य से क्या निष्कर्ष निकाले गए हैं? इस उद्देश्य के लिये मार्क्सवाद के सर्वाधिक प्रमुख विरोधी जर्मन विद्वान रूडोल्स–स्टैमलर के दृष्टिकोण पर विचार करें, जिसने कुछ समय पूर्व मार्क्सवाद के विरोध में ''इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की दृष्टि से अर्थशास्त्र और कानून'' शीर्षक से एक बहुत बड़ा ग्रंथ प्रकाशित कराया था।

स्टैमलर पूछता है कि समाज–विज्ञानों का सार क्या है? वह उत्तर देता है : समाज–विज्ञानों का सम्बन्ध सामाजिक प्रघटनाओं से है। सामाजिक प्रघटनाओं का भेदकरण कुछ उन विलक्षणताओं द्वारा किया जाता है जो किसी अन्य प्रघटना में नहीं वर्तमान होती हैं। इसी कारण से विशेष सामाजिक विज्ञानों की आवश्यकता है। अब प्रश्न उठता है कि सामाजिक प्रघटनाओं का विशेष लक्षण क्या है? इसका टैमलर इस प्रकार उत्तर देता है : सामाजिक प्रघटनाओं की मुख्य विशेषता इस तथ्य में है कि वे बाहरी दृष्टिकोण से विनियमित होती हैं। अधिक निश्चित रूप में कहें, तो नियमों (कानूनों, अध्यादेशों और उपनियमों आदि) से परिचालित होती हैं। जहाँ इस प्रकार का कोई भी नियम नहीं होता है, तथा कानून का पालन नहीं होता है, वहाँ कोई समाज नहीं होता है। लेकिन जहाँ कहीं समाज है, तो इसका आशय यह है कि इस समाज का जीवन किसी विशेष ढांचे में संचालित होता है, तथा जिस प्रकार पिघली हुई धातु सांचे के अनुसार अपना रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार समाज इस ढांचे के अनुकूल अपने को बना लेता है। यदि यह सामाजिक प्रघटनाओं का विशिष्ट लक्षण है कि वे विनियमों के अधीन होती हैं, तो स्टैमलर के अनुसार यह पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि समाज में प्रकृति का नियम प्रयोजनपूर्ण प्रकृति का नियम है। वस्तुतः, प्रश्न यह उठता है कि ''विनियमन'' कौन करता है तथा ''विनियमन'' का आशय क्या है? कुछ निश्चित प्रयोजनों की उपलब्धि के लिये निश्चित व्यवहार–आदर्शों को जन्म देकर मनुष्य विनियमित करते हैं। ये प्रयोजन भी चेतन रूप में मनुष्यों द्वारा सूत्रीकृत किये जाते हैं। स्टैमलर के अनुसार इसका आशय यह है कि प्रकृति और समाज, सामाजिक उद्विकास और प्राकृतिक उद्विकास (स्टैमलर के अनुसार सामाजिक जीवन प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति का विलोम है), तथा सामाजिक

विज्ञानों और प्राकृतिक विज्ञानों में बहुत अधिक अन्तर है। समाज–विज्ञान प्रयोजन–सहित विज्ञान हैं; प्राकृतिक विज्ञान समस्त वस्तुओं पर कारण और प्रभाव की दृष्टि से विचार करते हैं।

क्या यह दृष्टिकोण सही है? क्या यह सत्य है कि विज्ञान दो प्रकार के होते हैं, जिनमें कुछ अन्य विज्ञानों से इतने दूर होते हैं, जितना धरती से आकाश दूर है? नहीं, यह सत्य नहीं है। इसका कारण निम्नांकित है।

आइये थोड़ी देर के लिए हम मान लें कि वास्तव में समाज की आधारभूत विशेषता यह है कि मनुष्य चेतन रूप में नियमों के द्वारा अन्य लोगों के साथ अपने सम्बंधों को विनियमित करता है। क्या इसका आशय यह होगा कि हम अपने से कभी यह प्रश्न नहीं पूछ सकते कि लोग एक निश्चित स्थान और निश्चित समय पर एक तरह से अपने इन सम्बंधों को क्यों विनियमित करते हैं, जबकि वे दूसरे स्थान और दूसरे समय पर अपने सम्बंधों को दूसरी रीति से संचालित करते हैं? उदाहरण के लिये, 1919–1920 में पूँजीवादी जर्मन गणतंत्र ने कर्मचारियों को गोली मारकर सामाजिक सम्बन्धों को विनियमित किया था, रूसी जनवादी गणतंत्र क्राँतिविरोधी पूँजीपतियों को गोली मार कर इन सम्बन्धों को विनियमित करता है; शोषक सरकारों के विधायन पूँजी के शासन को दृढ़ करके, प्रसारित करके तथा केन्द्रित करके अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये चेष्टा करते हैं; सर्वहारा राज्य पूँजीवादी शासन को समाप्त करके, श्रमिकों के शासन की सुरक्षा कर के लक्ष्य–प्राप्ति की चेष्टा करता है। अब यदि हम वैज्ञानिक रीति से इन प्रघटनाओं को समझाना चाहें, तो क्या यह कहने से काम चल जायेगा कि इनके प्रयोजन भिन्न होते हैं? प्रत्येक व्यक्ति अविलम्ब यह जान लेगा कि यह कहना पर्याप्त नहीं होगा, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति यह प्रश्न पूछेगा 'लेकिन क्यों', क्यों ''मनुष्य'' को एक स्थिति में अपने लिये एक लक्ष्य निर्धारित करना चाहिये तथा उससे भिन्न स्थिति में दूसरा लक्ष्य? इसका प्रत्यक्ष उत्तर यह है कि एक स्थिति में सर्वहारा–वर्ग के पास सत्ता होती है, दूसरी स्थिति में बुर्जुआ–वर्ग के पास सत्ता होती है, बुर्जुआ एक बात की इच्छा करते हैं, क्योंकि उनके जीवन की परिस्थितियाँ उनकी उस प्रकार की इच्छाएँ निर्धारित कर देती हैं, लेकिन कर्मी–वर्ग के जीवन की परिस्थितियाँ उनमें दूसरे प्रकार की इच्छाओं को स्थिर करने का कारण बनती हैं,

आदि। एक शब्द में, जब हम वास्तव में सामाजिक प्रघटनाओं को समझने के इच्छुक होते हैं, तो हमारे मष्तिस्क में तुरन्त प्रश्न आता है : ''क्यों'', अर्थात, इस तथ्य के बावजूद भी कि ये प्रघटनाएँ कुछ मानवीय प्रयोजनों की अभिव्यक्ति हो सकती हैं, हम इन प्रघटनाओं से सम्बन्धित कारणों को पूछते हैं। दूसरे शब्दों में यदि मनुष्यों को प्रत्येक कार्य को चेतन रूप में विनियमित करना चाहिये, और यदि प्रत्येक कार्य समाज में उसी प्रकार संपन्न होना चाहिए जिस प्रकार ये मनुष्य चाहें, फिर भी हमें सामाजिक प्रघटनाओं की व्याख्या चाहिये, प्रयोजनवाद नहीं, अपितु प्रघटनाओं के कारणों का विवेचन चाहिए, अर्थात्, हमें कारण और प्रभाव के सम्बंध का निर्धारण, उनके नियम के रूप में चाहिए, इसी कारण से इस प्रसंग में सामाजिक विज्ञानों और प्राकृतिक विज्ञानों में बिल्कुल अन्तर नहीं है।

यदि हम इस विषय पर भली प्रकार विचार करें, तो यह तुरन्त स्पष्ट होता है कि यह अन्यथा नहीं हो सकता। वास्तव में क्या मनुष्य स्वयं या कोई मानव–समाज प्रकृति का अंश नहीं है? क्या मानव–प्रजाति जीव–जगत् का एक अंश नहीं है? जो कोई इस तथ्य से इन्कार करता है, वह वर्तमान विज्ञान के प्रारम्भिक ज्ञान से ही अपरिचित है। लेकिन यदि मनुष्य और मनुष्य–समाज दोनों समग्र प्रकृति के अंश हैं, तो वास्तव में यह एक उल्लेखनीय बात होगी कि यह अंश शेष प्रकृति से पूर्ण प्रतिकूल है। यह देखना कठिन नहीं है कि प्रयोजनवाद के समर्थक यहाँ पर पुनः मनुष्य की दैवी प्रकृति का विचार प्रस्तुत करते हैं, अर्थात, वह आदिम विचार जिस पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं।

इस प्रकार, यदि हम यह भी स्वीकार करें कि समाज की आधारभूत विशेषता इसका बाह्य विनियमन है, तो भी हम प्रयोजनवादी दृष्टिकोण की भ्रान्त धारणा से पूर्ण परिचित हो चुके हैं। यहाँ पर भी प्रयोजनवाद खरा नहीं उतरता है। इसके अतिरिक्त पिछले विश्लेषण में ''बाह्य विनियमन'' अत्यधिक आधारभूत गुण नहीं है। आज तक जिन समाजों का अस्तित्व रहा है, उन सबका (विशेष रूप में पूँजीवादी समाज का) किसी प्रकार के विनियम के अभाव द्वारा, उनकी अराजकता द्वारा परस्पर सूक्ष्मरूप से भेदकरण किया गया है। सामाजिक प्रघटनाओं की विपुल राशि में कोई ऐसा विनियम, जो कानून–निर्माताओं की इच्छा के अनुसार विनियमन करता है, कभी अत्यधिक निर्णायक योगदान करने में सफल नहीं हुआ है। भावी समाज

(साम्यवादी समाज) का विनियमन कैसे होता है? ऐसे समाज में कोई बाह्य निनियम किसी भी दशा में नहीं होगा, क्योंकि वर्ग–चेतना–सम्पन्न जनता, जिसे श्रमिकों के संगठन की भावना में दक्ष कर दिया गया है, को बाह्य दबाव की कोई कभी आवश्यकता नहीं होगी। दूसरे शब्दों में, इस दृष्टिकोण से भी स्टैमलर का सिद्धान्त निरर्थक हो जाता है, और सामाजिक प्रघटनाओं के वैज्ञानिक विवेचन के लिए एकमात्र शुद्ध विधि वही रह जाती है, जो कारण और प्रभाव के नियम पर आधारित है।

ङ. कारणता और प्रयोजनवाद; वैज्ञानिक व्याख्याएँ कारणात्मक व्याख्याएँ हैं

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि जब कभी हम किसी निश्चित प्रघटना–जिसमें सामाजिक जीवन की कोई भी प्रघटना सम्मिलित है की व्याख्या करना चाहते हैं, तो हमें इसके कारणों को अपहिरहार्य रूप से खोजना चाहिए। समस्त प्रयोजनवादी छः व्याख्याओं के प्रयत्नों में मूलरूप से केवल धार्मिक विश्वासों की अभिव्यक्तियाँ होती हैं, तथा ये किसी प्रकार की व्याख्या करने में असमर्थ होती हैं। अतः प्रकृति और समाज की प्रघटनाओं का अंतर्भूत नियम, तथा इन क्षेत्रों में देखी जाने वाली एकरूपता, प्रयोजनवादी है या कारणत्माक–इस आधारभूत प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि प्रकृति और समाज दोनों में वस्तुनिष्ठ रूप में प्रकृति का एक नियम रहता हैं, इसकी विशेषता कारणात्मक होती है।

कारण और प्रभाव का ऐसा नियम किससे बनता है? इस प्रकार का नियम प्रघटनाओं के बीच आवश्यक, अपरिहार्य, अपरिवर्तशील और सार्वभौम सम्बंध है। उदाहरण के लिए, यदि किसी चीज का तापमान बढ़ता है तो उसके आयतन में वृद्धि होगी, यदि द्रवों को एक पर्याप्त सीमा तक गरम किया जाय, तो वे वाष्प में रूपान्तरित हो जाएँगे, यदि अत्यधिक बढ़ती हुई सामान्य आवश्यकताओं के लिए बहुत अधिक मात्रा में नोटों का प्रचलन कर दिया जाता है तो वे निरर्थक हो जाएंगे, यदि पूंजीवादी का अस्तित्व है, तो समय–समय पर युद्ध अवश्य होंगे, यदि किसी देश में उत्पादन के वृहत् साधनों के साथ–साथ लघु साधन भी है, तो अंततोगत्वा वृहतस्तरीय उत्पादन ही विजयी होगा, यदि सर्वहारा–वर्ग पूँजी पर आक्रमण करता हैं, तो पूंजी अपनी संपूर्ण शक्ति के साथ अपनी सुरक्षा करेगी, यदि श्रमिकों के उत्पादन में वृद्धि होती है, तो

मूल्यों में गिरावट होगी, यदि मनुष्य के शरीर में निश्चित मात्रा में जहर प्रविष्ट कर दिया जाए, तो यह मर जाएगा, आदि–आदि। एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि कारण और प्रभाव का कोई नियम निम्नांकित सूत्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है : यदि कुछ प्रघटनाएँ आवश्यक रूप से विद्यमान हैं, तो तत्सम्बंधित अन्य प्रघटनाएँ आवश्यक रूप से वर्तमान होनी चाहिए। किसी भी प्रघटना की व्याख्या का आशय उसके कारणों की खोज है, दूसरे शब्दों में, उस अन्य निश्चित प्रघटना की खोज करना है जिस पर यह आश्रित है, अर्थात्, प्रघटनाओं के बीच कारण और प्रभाव के सम्बंध की व्याख्या करना है। जब तक इस सम्बंध को निश्चित नहीं किया गया है, तब तक प्रघटना की व्याख्या नहीं हुई है। एक बार इस सम्बंध का पता लगा लिया गया है, एक बार यह खोज कर ली गई है और जांच हो गयी है कि यह सम्बंध वास्तव में अविचल है, तो हम वैज्ञानिक (कारणात्मक) व्याख्या पर विचार कर रहे हैं। इस प्रकार की व्याख्या प्राकृतिक और सामाजिक दोनों प्रकार की प्रघटनाओं के संदर्भ में पूर्णरूप से वैज्ञानिक व्याख्या होती है। इस प्रकार की व्याख्या पूर्णरूप से दैवी तत्त्व का परित्याग करती है; यह पूर्णरूप से बहिष्कार करती है; और प्राकृतिक शक्तियों तथा अपनी सामाजिक शक्तियों दोनों पर वास्तविक नियंत्रण प्राप्त करने के लिए मनुष्य का मार्ग प्रशस्त करती है।

2.

निर्णयवाद और अनिर्णयवाद

(आवश्यकता और स्वतन्त्र इच्छा)

क. स्वतन्त्रता का प्रश्न या व्यक्ति की इच्छा की स्वतन्त्रता का अभाव

हमने देखा है कि सामाजिक तथा प्राकृतिक दोनों जीवनों में नियम की एक निश्चित विनियमितता है, फिर भी इस सम्बंध में किसी को संदेह हो सकता है। वास्तव में, सामाजिक प्रघटनाएँ मनुष्य की सृष्टि है। समाज में ऐसे व्यक्ति होते हैं जो चिंतन करते हैं, विमर्श करते हैं, अनुभव करते हैं, उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, और क्रिया करते हैं। एक व्यक्ति एक कार्य करता है; दूसरा यही कार्य कर सकता है; तीसरा अन्य कार्य कर सकता है; आदि। इन समस्त क्रियाओं का परिणाम सामाजिक प्रघटना है। बिना व्यक्तियों के न तो कोई समाज होगा, न कोई सामाजिक प्रघटना। यदि सामाजिक प्रघटनाएँ एक प्रकार के नियम का अनुसरण करती हैं, और यदि वे मनुष्य की क्रियाओं का परिणाम होती हैं, तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक व्यक्ति की क्रियायें भी किसी चीज पर आधारित होती हैं। इस प्रकार इसका आशय यह हुआ कि मनुष्य और उसकी इच्छाएँ स्वतंत्र नहीं हैं, बल्कि परिबद्ध हैं, कुछ नियमों के भी अधीन हैं। यदि यह बात नहीं है, यदि प्रत्येक मनुष्य और उसकी इच्छा किसी पर आश्रित नहीं है तो फिर हम सामाजिक प्रघटनाओं में विनियमितता कहाँ पायेंगे? इस स्थिति में फिर कोई ऐसी बात नहीं होगी। यह बात प्रत्येक को स्पष्ट है। यदि प्रत्येक व्यक्ति लंगड़ा होता है, तो इसका आशय यह है कि सम्पूर्ण समाज लंगड़ों का समाज होगा : यहाँ ऐसी कोई चीज नहीं है जिससे अन्य प्रकार का समाज निर्मित किया जा सके।

लेकिन दूसरी ओर मनुष्य की इच्छा की आश्रितता का यह प्रश्न क्या है? क्या मनुष्य जो कुछ करने को इच्छुक होता है, उसका निश्चय वह स्वयं नहीं करता है? मैंने पानी पीने का निश्चय किया और मैं पानी पी रहा हूँ, मैंने सभा में जाने का निश्चय किया और मैं जा रहा हूँ; एक खाली शाम को मेरे साथियों ने प्रस्तावित किया कि हम लोग ''प्रोलेटकुल्ट'' रंगशाला चलें, जबकि अन्य लोग ''कमेटी रंगशाला'' में जाना चाहते थे; मैंने ''प्रोलेटकुल्ट''

जाने का निश्चय किया। मैंने यह निश्चय स्वयं किया। क्या मनुष्य को चुनाव करने की स्वतंत्रता नहीं है? क्या वह अपने कार्यों, अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं में स्वतंत्र नहीं है? क्या वह कठपुतली है? क्या वह केवल शतरंज की गोट है? क्या वह अपने से बाहर की शक्तियों द्वारा परिचालित होता है? क्या प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने अनुभवों से यह नहीं जानता है कि वह स्वतंत्रता–पूर्वक संकल्प, चुनाव और कार्य कर सकता है।

दर्शनशास्त्र में यह प्रश्न स्वतंत्रता या मानवीय स्वतंत्रता की इच्छा के अभाव का प्रश्न कहलाता है। जो मत यह प्रतिपादित करता है कि मानवीय इच्छा स्वतंत्र है, वह "अनिर्णयवाद" का मत (निर्बंध, स्वतंत्र इच्छा का मत) कहलाता है। जो मत यह प्रतिपादित करता है कि मानवीय इच्छा आश्रित है, प्रतिबंधित है, अस्वतंत्र है, उसे "निर्णयवाद" (इच्छा की आश्रितता या प्रतिबंधता का मत) कहते हैं। अतः हमें यह निश्चय करना चाहिए कि उक्त दो मतों में कौन–सा मत सही है।

सबसे पहले हम यह विचार करें कि अनिर्णयवाद का मत हमें किस परिणाम पर पहुँचाएगा, यदि हम इसका तार्किक निष्कर्षों तक पहुँचकर अनुगमन करें। यदि मनुष्य–इच्छा स्वतंत्र है, और किसी पर बिल्कुल आश्रित नहीं है, तो इसका आशय यह होगा कि इसके पीछे कोई कारण नहीं है। लेकिन यह स्थिति होने पर, परिणाम क्या होगा? परिणाम होगा पुराने बाइबिल के टैस्टामेण्ट का एक अच्छा सिद्धांत। वास्तव में, तब निम्नांकित स्थिति होती है : संसार में प्रत्येक बात कुछ नियमों के अनुसार सम्पन्न होती है, मक्खियों की संख्या की वृद्धि से लेकर सौर–प्रणाली की गतिविधियों तक प्रत्येक बात का अपना कोई कारण होता है, केवल मानव–इच्छा ही इस नियम के अधीन नहीं है। इससे पूर्णरूप से एक अपवाद की सृष्टि होती है। यहाँ पर मनुष्य पहले से ही प्रकृति का एक अंग नहीं है, वह ईश्वर की तरह दुनिया से ऊपर है। फलतः इच्छा–स्वातंत्र्य का मत प्रत्यक्ष रूप से हमें उस धर्म की ओर अग्रसर कर देता है, जो कोई व्याख्या नहीं करता है। क्योंकि धर्म में कोई ज्ञान नहीं है अपितु इसमें शैतान के आचरणों में, रहस्यवादिता में, अति प्राकृतिकता, सब प्रकार के हौवों में अंधविश्वास करना है।

वास्तव में, यह बात तर्कहीन है। इस समस्या के समाधान के लिये इस पर कुछ गहराई से विचार करना चाहिए। प्रायः – करीब–करीब सदा – स्वतंत्रता की भावना तथा वास्तविक वस्तुनिष्ठ स्वतंत्रा में भ्रम होता है। हम एक उदाहरण ले सकते हैं। कल्पना को कि तुम एक सभा में वक्ता की ओर देख रहे हो। वह एक पानी का गिलास मेज से उठाता है और प्यास के कारण इसे खाली कर देता है। जब वह गिलास की तरफ बढ़ता है, तो वह क्या अनुभव करता है? वह अपनी स्वतंत्रता से पूर्ण रीति से अवगत है। उसने स्वयं निश्चय किया है कि उसे पानी पीना चाहिए न कि नाच करना चाहिए। वह अपनी स्वतंत्रता का अनुभव करता है। लेकिन क्या इसका यह आशय है कि वह वास्तव में बिना कारण के ही कार्य कर रहा है, और उसकी इच्छा वस्तुतः स्वतंत्र है? ऐसा किसी भी दशा में नहीं है। प्रत्येक समझदार मनुष्य इस स्थिति की प्रकृति को तुरंत समझ लेगा। वह कहेगा ''वक्ता का गला सूखा है।'' इसका आशय क्या है? इसका सरल अर्थ यह है कि बोलने के श्रम से वक्ता के गले में ऐसे परिवर्तन हुए जिनसे उसमें पानी पीने की इच्छा उत्पन्न हुई। यही कारण है। उसके सावयव में होने वाले परिवर्तन (शरीर क्रियात्मक कारण) ने उसमें एक निश्चित इच्छा उत्पन्न की। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमें इच्छा की स्वतंत्रता की भावना तथा स्वतंत्रता की संवेदना के साथ कारणहीनता, मानवीय इच्छाओं की स्वतंत्रता की संवेदना के साथ कारणहीनता, मानवीय इच्छाओं की स्वतंत्रता और क्रियायों को एक मानकर भ्रम नहीं उत्पन्न करना चाहिए। ये दोनों दो भिन्न चीजे हैं। फिर भी इन दो चीजों का विभ्रम उन समस्त अनिर्णयवादियों के तर्कों में प्रायः वर्तमान रहता है, जो किसी भी कीमत पर मानवीय आत्मा के विशेष ''देवत्व'' की मुक्ति के लिये इच्छुक होते हैं।

लोग इच्छा की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का अपने कार्यों में पूर्ण खंडन करते हैं; क्योंकि यदि मानवीय इच्छा प्रत्येक वस्तु से पूर्णरूप से स्वतंत्र थी, तो कोई कार्य करना किसी भी दशा में संभव न होता, क्योंकि पूर्व अनुमान करने की भी कोई संभावना न होती। मान लीजिये कि एक अनुमान लगाने वाला बाजार जाता है। वह जानता है कि वहाँ पर मोलभाव होगा, अर्थात्, प्रत्येक बेचने वाला अत्यधिक मूल्य मांगेगा और खरीदने वाले कम–से–कम मूल्य देने का प्रयत्न करेंगे। लेकिन वह यह आशा नहीं करता है कि लोग बाजार के चारों तरफ बिल्लियों

की तरह घूमते फिरेंगे; क्योंकि यह उनके स्वभाव के विपरीत है। इसका आशय क्या है? सीधा–सा अर्थ है कि उनका सावयव एक विशेष प्रकार से संरचित है, वे बाजार के चारों कोनों में चक्कर नहीं लगाते। इसका कारण यह कि उनकी इच्छा अन्य दशाओं से निर्धारित होगी, और जब अनुमान लगाने वाला सरकस में जाता है तो यह आशा करता है कि लोग सरकस में ''स्वभाव के विपरीत'' चारों कोनों में जायेंगे। खरीददार सस्ता खरीदने के लिए क्यों इच्छुक होते हैं? इसका सब से सरल कारण यह है कि वे खरीददार हैं। उनकी खरीददार की स्थिति उन्हें सस्ता सामान खरीदने के लिए ''उपकृत'' करती है; उनकी आकांक्षा, उनकी इच्छा, उनका कार्य इसी दिशा की ओर निर्धारित होते हैं। लेकिन मान लीजिए कि यह मनुष्य विक्रेता है, तब वह विपरीत दिशा में कार्य करेगा। वह यथासंभव अधिक–से–अधिक मूल्य पर बेचने का प्रयास करेगा। परिणामस्वरूप इसका यह निष्कर्ष निकलता है कि इच्छा किसी भी दशा में स्वतंत्र नहीं है, यह अनेक कारणों द्वारा निर्धारित होती है, तथा यदि यह स्थिति न हो, तो व्यक्ति कोई कार्य बिल्कुल नहीं कर सकता है।

आइए हम इस विषय पर दूसरे दृष्टिकोण से विचार करें। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि मद्यपान किया हुआ व्यक्ति मूर्खतापूर्ण इच्छाएँ विकसित कर लेगा, और वह मूर्खतापूर्ण कार्य करेगा। भद्र व्यक्ति की अपेक्षा उसकी इच्छाएँ भिन्न रूप में क्रियाशील होगी। इसका कारण मदिरा का विष है। मनुष्य के शरीर में एक निश्चित मात्रा में मदिरा प्रवेश करा दीजिए, तो ''दैवी इच्छा'' इस तरह के नीच कर्मों में निमग्न हो जाएगी कि संत भी आश्चर्य–चकित रह जाएंगे; कारण स्पष्ट है। हम दूसरा उदाहरण ले सकते हैं : एक मनुष्य को नमक खिलाइए, वह सामान्य अवस्था की अपेक्षा अधिक पानी पीने की इच्छा ''स्वतन्त्रतापूर्वक'' अवश्य व्यक्त करना प्रारम्भ करेगा, कारण स्पष्ट है। मान लीजिए हम सामान्य रूप से ही मनुष्य को भोजन कराते हैं, तो वह सामान्य मात्रा में ही पानी पियेगा। वह पानी पीने की इच्छा उसी प्रकार व्यक्त करेगा, जिस प्रकार अन्य कोई मनुष्य पानी पीने की इच्छा करता है। अन्य शब्दों में, इस अवस्था में भी इच्छा सूक्ष्म रूप से उसी प्रकार आश्रित है, जिस तरह से अन्य असामान्य अवस्थाओं में।

मनुष्य उस समय प्रेम करने लगेगा, जब उसका सावयव या शरीर ऐसा करने के योग्य विकसित हो चुका होगा। मनुष्य अत्यधिक उत्तेजना की अवस्था में अपने नीच कर्मों के प्रति अपने को समर्पित कर देता है। एक शब्द में मनुष्य की संवेदना और इच्छा, उसकी सावयव की दशा तथा उन परिस्थितियों पर जिनमें वह अपने को पाता है, पर आश्रित होती है। सम्पूर्ण शेष प्रकृति की तरह उसकी इच्छा कुछ कारणों द्वारा निर्धारित होती है, तथा मनुष्य सम्पूर्ण शेष प्रकृति का अपवाद नहीं होता है : चाहे वह उसकी कान खुजलाने की इच्छा हो, और चाहे शौर्यपूर्ण कार्य करने की आकांक्षा हो, उसके समस्त प्रकार के कार्यों के अपने कारण हैं। कुछ स्थितियों में तो इन कारणों को निश्चित करना निस्संदेह बहुत कठिन है; लेकिन यह एक दूसरी बात है। हम लोग किसी भी प्रकार से जड़ प्रकृति के क्षेत्र में समस्त कारणों का निश्चय करने में सफल नहीं हुए हैं, लेकिन इसका आशय यह नहीं है कि हम इनकी व्याख्या बिल्कुल कर ही नहीं सकते हैं। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि केवल सामान्य अवस्थाएँ ही कारण और प्रभाव के नियम के अधीन नहीं होती हैं, अपितु समस्त प्रघटनाएँ इस नियम के आधीन हैं। मानसिक रोग इसका ज्वलंत उदाहरण बन सकते हैं। क्या यह सम्भव है कि विकृत मस्तिष्क और पागल की विश्रृंखलित, मूर्खतापूर्ण, आश्चर्यजनक और विचित्र इच्छाएँ और कार्य के कारण और प्रभाव के नियम के अंतर्गत आ सकते हैं? क्या उनमें कोई व्यवस्था हो सकती है? हाँ, इनके भी कारण होते हैं। एक पागल कुछ कारणों के प्रभाव के अंतर्गत एक निश्चित दिशा में आचरण करेगा; कुछ पागल दूसरे प्रभावों के अंतर्गत दूसरे प्रकार के आचरण करेंगे; तीसरे प्रकार के कारणों के लिए वे अन्य प्रकार का ही आचरण करेंगे, आदि–आदि। दूसरे शब्दों में, पागलपन की अवस्था में भी कारण और प्रभाव का नियम अपनी पूर्णशक्ति के साथ बना रहेगा।

हमने यहाँ पर जानबूझ कर ये विविध प्रकार के उदाहरण चुने। इन उदाहरणों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि सामान्य और असामान्य, साधारण और असाधारण समस्त प्रकार की दशाओं के अंतर्गत एक व्यक्ति की इच्छा, संवेदना और कार्य में सदा एक निश्चित कारण होता है; ये सदा निर्धारित होते हैं; निश्चित होते हैं। इच्छा की स्वतंत्रता का मत (अनिर्णयवाद) मूलतः उस अर्ध–धार्मिक दृष्टिकोण का सूक्ष्मीकृत रूप है, जो व्याख्या बिल्कुल

नहीं करता है, जीवन के समस्त तथ्यों का खंडन करता है, तथा वैज्ञानिक विकास के मार्ग में अवरोध निर्मित करता है। शुद्ध दृष्टिकोण है केवल निर्णयवाद का।

ख. असंगठित समाज में व्यक्तिगत इच्छाओं का परिणाम

निस्संदेह, समाज व्यक्तियों से बनता है, और सामाजिक प्रघटना वैयक्तिक संवेदनाओं, इच्छाओं, कार्यों के विविध समुच्चय से बनती है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक प्रघटना वैयक्तिक प्रघटनाओं का परिणाम है। मूल्य इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। खरीदने और बेचने वाले बाजार जाते हैं। बेचने वाले के पास सामान होता है और खरीदने वाले के पास पैसा होता है। प्रत्येक विक्रेता और खरीददार का कुछ निश्चित उद्देश्य होता है : उनमें से सब वस्तुओं और रुपयों का कुछ अनुमान लगाते हैं, सोचते हैं, गणना करते हैं और काटछांट करते हैं। उस सबका परिणाम बाजार का मूल्य है। यह मूल्य किसी व्यक्तिगत खरीददार या विक्रेता के विचार का प्रतिनिधित्व भले न कर सकता हो; लेकिन यह एक सामाजिक प्रघटना है, जो विभिन्न इच्छाओं के संघर्ष के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। मूल्यों के निर्धारण में जो प्रघटना कार्य करती है, वही अन्य समस्त सामाजिक सम्बन्धों में देखी जा सकती है; उदाहरण के लिये हम क्रांति को ले सकते हैं। कुछ व्यक्ति बहुत जोश के साथ आगे बढ़ते हैं, अन्य लोग कम जोश के साथ; कुछ लोग एक दिशा की ओर प्रयत्न करते हैं, अन्य लोग दूसरी दिशा की ओर। क्रांति की विजय के प्श्चात् व्यक्तियों के इस संघर्ष से अंततोगत्वा एक नई सामाजिक संरचना का उद्भव होता है, नई प्रकार की चीजें उत्पन्न होती है। मार्क्स ने यह लिखा है कि कुछ सामाजिक सम्बन्ध उसी प्रकार से मनुष्य की सृष्टि होते हैं जैसे कैनवास, लिनिन आदि कपड़े।

इस संदर्भ में दो भिन्न दशाओं पर विचार कर सकते हैं, जिनमें से प्रत्येक की अपनी–अपनी विशेषताएँ हैं। ये दो दशाएँ हैं, असंगठित समाज या पूँजीवादी समाज तथा संगठित साम्यवादी समाज। पहली दशा के अन्तर्गत मूल्य–निर्धारण के उदाहरण को लें, जो अत्यधिक असाधारण उदाहरण है जिसका उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। बाजार में निर्धारित मूल्य का उन इच्छाओं, अनुमानों, मनोवृत्तियों से क्या सम्बन्ध है जो बाजार में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में वर्तमान होती हैं? यह स्पष्ट है कि मूल्य इन इच्छाओं के अनुरूप नहीं

होंगे। अनेक लोगों के लिए यह मूल्य विनाशकारी होगा; जैसे जो लोग इस मूल्य पर चीजें नहीं खरीद सकते हैं और अपने जेब में पैसे रक्खे हुये तथा पेट खाली रक्खे हुए स्थान छोड़ देते हैं, तथा उन लोगों के लिए भी मूल्य विनाशक कहा जा सकता है जो केवल इसलिए उन वस्तुओं को नहीं खरीदते कि उनका मूल्य अत्यधिक कम है। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि जब बड़े–बड़े कारखानों के मालिक अपने सस्ते सामान से बाजार को तोप देते हैं, तो बहुसंख्यक व्यवसायी, छोटे–छोटे व्यापारी और छोटे–छोटे किसान नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि जब बड़े पूंजीपति बहुत अधिक मात्रा में सामान बाजार में तोप देते हैं, तो छोटे व्यापारी जीवन–संघर्ष का सामना करने तथा गिरी हुई कीमतों का सामना करने में असमर्थ होते हैं।

हमने ऊपर साम्राज्यवादी युद्ध का एक अन्य उदाहरण दिया था जिसमें विभिन्न देशों के अनेक पूंजीपतियों ने ऐसा आधिपत्य करने की इच्छा की थी जिसका परिणाम बहुत बड़ी निर्धनता थी, इस निर्धनता से ही पूंजीवादियों के विरुद्ध क्रॉंति का जन्म हुआ, यद्यपि पूंजीपति इस क्रॉंति को बिल्कुल नहीं चाहते थे।

इसका क्या आशय है? इसका आशय है असंगठित समाज, जहाँ योजनाबद्ध उत्पादन नहीं है, जहाँ वर्ग एक–दूसरे के प्रति युद्धरत हैं, जहाँ योजना के अनुसार कुछ न करके केवल अव्यवस्थित प्राकृतिक रूप में किया जाता है, अतः इससे प्राप्त परिणाम (सामाजिक प्रघटना) अनेक व्यक्तियों की आकांक्षाओं के अनुरूप नहीं होता है।

यह ''व्यक्तियों की इच्छा की स्वतन्त्रता'' इस तथ्य में नहीं निहित है कि सामाजिक जीवन की घटनाएँ सम्बन्धित व्यक्तियों से बाहर घटती है, अपितु इस तथ्य में है कि असंगठित समाज के अन्तर्गत विश्रृंखलित, अव्यवस्थित उद्विकास में इस इच्छा का सामाजिक परिणाम उन उद्देश्यों के अनुरूप नहीं होता है जो अनेक व्यक्तियों द्वारा प्रस्तावित होते हैं, बल्कि कभी–कभी यह परिणाम इन उद्देश्यों के नितान्त विपरीत होता है (एक व्यक्ति लाभ प्राप्त करने का इच्छुक होता है, लेकिन अपने को बरबादी की स्थिति में पाता है)।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि असंगठित समाज तथा साथ–ही–साथ अन्य प्रकार के समाज में भी घटनाएँ व्यक्तियों की इच्छा के बाहर नहीं सम्पन्न होती हैं अपितु

इस इच्छा के द्वारा होती हैं। इस उदाहरण में व्यक्ति उस अचेतन प्राकृतिक प्रक्रिया के अधीन है जो व्यक्तियों की इच्छाओं से ही उत्पन्न है।

अब हम अपना ध्यान दूसरी परिस्थिति की ओर आकर्षित करें। एक व्यक्ति की इच्छाओं का एक निश्चित सामाजिक परिणाम प्राप्त कर लिया गया है। यह सामाजिक परिणाम व्यक्ति के आचरण को निर्धारित करता है। हमें इस बात पर विशेष जोर देना चाहिए, क्योंकि यह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

आइये हम उसी मूल्य–निर्धारण वाले उदाहरण से प्रारम्भ करें जिसका हम पीछे दो बार उल्लेख कर चुके हैं। मान लीजिए कि एक पौण्ड गाजर की कीमत बाजार में अमुक है। यह स्पष्ट है कि नए खरीददार और नए विक्रेताओं के मस्तिष्क में यह मूल्य पहले से ही था। वे लोग अपने हिसाब–किताब में इस मूल्य का पहले से अनुमान लगा रहे थे। दूसरे शब्दों में, सामाजिक प्रघटना (मूल्य) का वैयक्तिक प्रघटना (दाम लगाने और मांग करने) पर निर्धारक प्रभाव होता है। यही बात जीवन के अन्य समस्त पक्षों में भी होती है। प्रारम्भिक चित्रकार अपनी समस्त गतिविधियां अपनी कला के सम्पूर्ण पूर्ववर्ती उद्विकास तथा उन सामाजिक सम्वेदनाओं और सामाजिक प्रवृत्तियों पर आधारित करता है, जो उसके चारों ओर होती हैं। राजनीतिज्ञ के कार्य किन बातों पर आधारित होते हैं? उन परिस्थितियों पर जिनके अन्तर्गत वह कार्य करता है : वह किसी विशेष व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने या नष्ट करने के लिए इच्छुक हो सकता है। यह उस पक्ष पर आधारित होगा, जिसका वह समर्थक होगा; उस पर्यावरण पर आश्रित होगा, जिसमें वह रहता है; उन सामाजिक वर्गों और महत्वाकाँक्षाओं पर निर्भर होगा, जिनसे वह शक्ति प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में, उसकी इच्छा सामाजिक दशाओं द्वारा निर्धारित होगी।

हमने ऊपर देखा है कि असंगठित समाज में अंतिम निष्कर्ष सम्बन्धित व्यक्तियों की मूल इच्छाओं से प्रायः भिन्न कभी–कभी पूर्ण रूप से भिन्न होता है। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि ''सामाजिक उत्पाद'' (सामाजिक प्रघटना) का व्यक्तियों पर आधिपत्य होता है। यह केवल इस भाव में नहीं कि यह इन व्यक्तियों के आचरण को निर्धारित करती है, अपितु यह उनकी

इच्छाओं का पूर्णरूप से खण्डन भी करती है। इस प्रकार हम असंगठित समाज के सम्बन्ध में निम्नांकित नियम निर्धारित कर सकते हैं :

1. सामाजिक प्रघटनायें व्यक्ति की इच्छाओं, संवेदनाओं और क्रियाओं आदि के संघर्ष का परिणाम हैं।

2. सामाजिक प्रघटनायें विभिन्न व्यक्तियों की इच्छा को किसी भी प्रदत्त समय पर निर्धारित करती हैं।

3. सामाजिक प्रघटनायें पृथक्–पृथक् व्यक्तियों की इच्छा को व्यक्त नहीं करती हैं, अपितु प्रायः इस इच्छा के प्रत्यक्ष विरोध में होती हैं; वे शक्ति द्वारा इस पर अपना प्रभुत्व रखती हैं, फलस्वरूप व्यक्ति प्रायः अपने कार्यों पर सामाजिक शक्तियों का दबाव अनुभव करता है।

ग. सामूहिक संगठित इच्छा

(संगठित साम्यवादी समाज में वैयक्तिक इच्छाओं का परिणाम)

आइये, हम संगठित समाज की गतिविधियों की अवस्था पर विचार करें। ऐसे समाज में उत्पादन में कोई अराजकता नहीं होती है; वहाँ कोई वर्ग नहीं है, कोई वर्ग–संघर्ष नहीं है, वर्ग–हितों का प्रतिरोध नहीं है, आदि। वहाँ वैयक्तिक और सामाजिक हितों के बीच भी कोई विरोध नहीं होता। अब हम उत्पादन की सामान्य योजना से युक्त कर्मियों के मैत्रीपूर्ण बंधुत्व पर विचार कर रहे हैं।

यहाँ हमें यह विचार करना है कि व्यक्तिगत इच्छा की क्या स्थिति है? वस्तुतः, समाज में व्यक्ति बने रहेंगे और सामाजिक प्रघटनाएँ वैयक्तिक इच्छाओं की उत्पादन बनी रहेंगी। लेकिन इस समुच्चय की विशेषता, तथा वह विधि, जिससे यह परिणाम उपलब्ध होता है, असंगठित समाज से पूर्णतया भिन्न है। इस अंतर को पूर्णतया आत्मसात् करने के लिए यहाँ प्रारंभिक उदाहरण लें। मान लीजिए कि हमारा एक ऐसे व्यक्तियों का छोटा समाज या संगठन है जिन्होंने एक साथ मिलकर गाने का आयोजन किया है। सब व्यक्ति अपने–अपने लिए

समान लक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, इसमें उठने वाली समस्याओं के समाधान तथा कठिनाइयों के मूल्यांकन के लिए समानरूप में प्रस्तुत हैं; संक्षेप में, वे समानरूप से प्रस्ताव रखते हैं और समानरूप में उसे कार्यान्वित करते हैं। उनके समान कार्य, उनके समान प्रस्ताव ये पहले से ही सामूहिक उत्पाद हैं। लेकिन यह उत्पाद बाह्य, अपरिमार्जित शक्ति नहीं है जो व्यक्ति की इच्छाओं का हनन कर रही है। इसके विपरीत यह प्रत्येक व्यक्ति की अपनी इच्छाओं के पूरी करने की अधिकतम सम्भावना का निर्माण करता है। पाँच आदमियों ने एक साथ मिलकर पत्थर उठाने का निश्चय किया। उनमें से कोई अकेला उसे नहीं उठा सकता। साथ–साथ उसे वे बिना कठिनाई के उठा लेते हैं। सामान्य प्रस्ताव प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा से बिल्कुल भिन्न नहीं है; इसके विपरीत यह इस इच्छा की पूर्ति में सहायक होता है।

साम्यवादी समाज में भी यही स्थिति होगी, लेकिन अधिक विशाल स्तर पर और अधिक जटिल रूप में (यहाँ साम्यवादी समाज का अर्थ सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का काल नहीं है, न साम्यवाद का प्रथम कदम ही है, अपितु वह पूर्ण विकसित साम्यवादी समाजवाद है जिसमें वर्गों के अवशेष नहीं हैं, राज्य नहीं है, और बाह्य कानूनी नियम नहीं हैं)। ऐसे समाज में मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध प्रत्येक व्यक्ति को स्पष्ट होंगे तथा सामाजिक इच्छा–शक्ति, उनकी समस्त इच्छाओं का संगठन होगी। यह ऐसा परिणाम नहीं होगा जो व्यक्ति की इच्छा से स्वतंत्र, विश्रृंखलित दुर्घना द्वारा प्राप्त हुआ हो, अपितु चेतन रूप में संगठित सामाजिक निश्चय द्वारा प्राप्त हुआ होगा। अतः हमें यहाँ वही परिणाम नहीं प्राप्त हो सकता है, जो पूंजीवादी समाज में प्राप्त होता है। साम्यवाद के अंतर्गत सामाजिक उत्पादन मनुष्य के ऊपर आधिपत्य नहीं रखेंगे, बल्कि मनुष्य अपने निर्णयों को स्वयं नियंत्रित करेंगे, क्योंकि वे स्वयं संकल्प करते है, तथा चेतन रूप में करते हैं। ऐसी सामाजिक प्रघटनाएँ असंभव होगी जिनका प्रभाव अधिकांश जनसंख्या पर हानिकारी और विनाशक होगा।

लेकिन किसी भी दशा में इसका आशय यह नहीं है कि एक साम्यवादी समाज में सामाजिक इच्छा और वैयक्तिक इच्छा प्रत्येक वस्तु से स्वतंत्र होगी, या, साम्यवाद के अंतर्गत व्यक्ति को इच्छा की स्वतंत्रता होगी तथा मनुष्य आकस्मिक रूप से ऐसा अधिप्राकृतिक प्राणी होगा, जो कारण और प्रभाव के नियम के अधीन किसी भी दशा में नहीं है। साम्यवाद के

अंतर्गत मनुष्य प्रकृति का एक अंश बना रहेगा, और कारण और प्रभाव के सामान्य नियम के अधीन रहेगा। क्या प्रत्येक व्यक्ति अपने आस–पास की परिस्थितियों पर आश्रित नहीं बना रहेगा? यह रहेगा; वह मध्य अफ्रीका के आदिवासी या पियर पोन्ट मार्गन एण्ड कम्पनी नामक व्यापारी संस्था के बैंकर, या साम्राज्यवादी युद्धकाल के अश्वारोही के समान कार्य नहीं करेगा। वह साम्यवादी समाज के सदस्य के रूप में कार्य करेगा। जीवन की परिस्थितियाँ मनुष्य की इच्छा को निर्धारित करेंगी। उदाहरण के लिए प्रत्येक व्यक्ति यह समझता है कि साम्यवादी समाज के लिए प्रकृति के साथ संघर्ष करना आवश्यक होगा, और परिणामतः इस संघर्ष की परिस्थितियाँ स्वयं ही मनुष्य के आचरण को निर्धारित करेंगी, आदि। एक शब्द में, निर्णयवादी सिद्धांत साम्यवादी समाज में ही अपनी पूर्ण शक्तिमत्ता के साथ बना रहेगा।

अतः हम संगठित समाज की अवस्था में निम्नांकित नियम स्थिर कर सकते हैं :–

1. सामाजिक प्रघटनाएँ व्यक्ति की इच्छाओं, संवेदनाओं, क्रियाओं आदि के संघर्ष का परिणाम हैं; लेकिन यहाँ यह प्रक्रिया विश्रृंखलित विभ्रम के साथ आगे नहीं बढ़ती है, बल्कि संगठित स्वरूप में कार्य करती है।

2. सामाजिक प्रघटनाएँ किसी प्रदत्त समय पर विभिन्न व्यक्तियों की इच्छा को निर्धारित करती है।

3. सामाजिक प्रघटनाएँ मनुष्यों की इच्छा की अभिव्यक्ति हैं, और सामान्यतः ये इस इच्छा से मुक्त नहीं रहती हैं; मनुष्य अपने निर्णयों को नियंत्रित करता है, और उन पर अंध सामाजिक शक्तियों का कोई दबाव नहीं अनुभव करता है, क्यों कि इन शक्तियों का स्थान एक राष्ट्रीय सामाजिक संगठन द्वारा ले लिया गया है।

घ. सामान्य आकस्मिकवाद

प्रघटनाओं की सामान्य स्वतंत्रता को पूर्ण रूप से समझने के लिए हमें तथाकथित आकस्मिकवाद पर विचार कर लेना चाहिए। वास्तव में, हम दैनिक जीवन तथा सामाजिक जीवन में प्रायः आकस्मिक संयोगों का सामना करते हैं। कुछ विद्वानों ने ''इतिहास में

आकस्मिक संयोगों का योग'' विषय पर विशेष अनुसंधान–कार्य प्रारम्भ किया है। हम प्रायः आकस्मिकताओं की चर्चा करते हैं : संयोग से एक मनुष्य सड़क पर जा रहा था, एक ईंट छत से गिरी और मनुष्य मर गया; संयोग से मैंने अत्यंत दुर्लभ पुस्तक खरीदी; आकस्मिक रूप से एक अपरिचित शहर में मैं उस आदमी से मिला, जिसे मैंने पिछले बीस वर्षों से नहीं देखा था; आदि–आदि। आगे हम सन् और मच्छी या चौसर का खेल ले सकते हैं : संयोग से मच्छी आई, और हम जीत गये; संयोग से यह सन् आया और हम हार गये। इस आकस्मिकता की प्राकृतिक नियम की शब्दावली में हम कैसे व्याख्या करेंगे; या दूसरे शब्दों में, यहाँ कारणात्मक आवश्यकता कहाँ प्रवेश करती है?

आइये, इस प्रश्न पर विचार करें। सबसे पहले सन् और मच्छी वाले उदाहरण पर विचार करें। मच्छी क्यों ऊपर आनी चाहिये? क्या यह सत्य है कि कोई कारण उत्तरदायी नहीं थे? यहाँ कारण अवश्य होने चाहिए। यहाँ मच्छी इसलिए ऊपर आई, क्योंकि हमने हाथ में सिक्के को लेकर विशेष प्रकार की गति, एक विशेष प्रकार की शक्ति के साथ, एक विशेष दिशा में फेंका था। फलस्वरूप सिक्के की एक विशेष सतह नीचे की ओर हुई, आदि। यदि इन समस्त दशाओं की पुनरावृत्ति हो, तो अनिवार्य रूप से मच्छी ही पुनः ऊपर आयेगी; और यदि यह प्रयोग तीसरी बार किया जाये, तो भी परिणाम यही होगा। लेकिन तथ्य यह है कि सिक्के को फेंकने में समस्त विपरीत परिस्थितियों को पहले से हटा देना असम्भव है। यह हाथ का जरा–सा झुकाव, अंगुली का मोड़, तथा उस शक्ति का हेर–फेर है जिससे सिक्का फेंका जाता है। ये सब परिणाम को प्रभावित करेंगे। परिणाम को प्रभावित करने वाले समस्त कारणों की गणना व्यवहार में नहीं की जा सकती है। उनका अस्तित्व होता है, लेकिन हम उनका संगठन नहीं कर सकते है; क्योंकि हम उनको जानते नहीं हैं। ऐसी अवस्था में हम अपने अज्ञान को आकस्मिकता कहते हैं।

आइए, एक दूसरा उदाहरण लें; एक ऐसे पूर्व परिचित व्यक्ति से भेंट हो जाती है, जिसे हमने पिछले बीस वर्षों से नहीं देखा था। यह देखना कठिन नहीं है कि इस भेंट के कुछ कारण हैं : कुछ कारणों से प्रेरित होकर मैं एक निश्चित समय पर चला, और एक निश्चित मार्ग पर निश्चित गति से गया; अन्य दूसरे प्रकार के कारणों से प्रेरित होकर मेरे दूसरे परिचित

व्यक्ति ने एक निश्चित गति से सड़क पर अपनी यात्रा प्रारम्भ की। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उन समस्त कारणों की सम्मिलित क्रिया ने आवश्यक रूप से भेंट करा दी। यह मिलन मुझे आकस्मिक क्यों प्रतीत होना चाहिए? इसका बहुत सरल कारण है कि मैं अपने मित्र को निर्देशित करने वाले कारणों से अपरिचित हूँ, और मैं इस तथ्य से भी अपरिचित हूँ कि वह इसी शहर में रह रहा है, अतः मैं पहले से अपनी भेंट का अनुमान लगाने में असमर्थ हूँ।

यदि हम प्रतिच्छेदी क्रियाओं की दो या दो से अधिक कारणात्मक श्रृंखलाओं में से केवल एक को जानते हैं, तो इनके प्रतिच्छेदन द्वारा प्राप्त प्रघटना हमें आकस्मिक प्रतीत होगी, यद्यपि यथार्थ में यह नियमों के अनुसार ही है। मैं कारणों की उस एक श्रृंखला को जानता हूँ, जिनके परिणामस्वरूप मैं सड़क से गुजरा; कारणों की अन्य श्रृंखला, जो मेरे मित्र को प्रेरित कर रही है, से मैं अपरिचित हूं। इस कारण से यह प्रतिच्छेदन आकस्मिक प्रघटना के रूप में प्रतीत हो रहा है। यदि हम ठीक–ठीक कहें, तो आकस्मिक था कारणहीन प्रघटनाएँ कोई नहीं हैं, लेकिन यदि उनके कारण हमें अपर्याप्त स्पष्ट हों, तो प्रघटनाएँ हमें आकस्मिक जैसी प्रतीत हो सकती है।

ङ. ऐतिहासिक आकस्मिकता

जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है, उसके पश्चात् तथाकथित ''ऐतिहासिक आकस्मिकता'' का प्रश्न अपेक्षाकृत अधिक सरल विषय है।

यदि मूल में समस्त बातें नियमानुसार ही प्रारम्भ होती हैं, और यदि कोई चीज ऐसी नहीं है जो आकस्मिक या कारणहीन कही जा सके, तो यह स्पष्ट है कि इतिहास में आकस्मिक जैसी कोई चीज नहीं है, फिर भी, प्रत्येक ऐतिहासिक घटना भले ही आकस्मिक प्रतीत हो, लेकिन यह पूर्णरूप से कुछ कारणों द्वारा निर्धारित होती है, ऐतिहासिक आकस्मिकतावाद का भी सरल अर्थ है– इसमें कुछ ऐसी कारणात्मक श्रृंखलाओं का प्रतिच्छेदन होता है, जिनमें से केवल एक श्रृंखला ही ज्ञात होती है। कभी–कभी ''ऐतिहासिक आकस्मिकता'' शब्द को अन्य भाव में भी प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिये, जब हम कहते हैं कि साम्राज्यवादी युद्ध विश्व पूंजीवाद के विकास का एक आवश्यक परिणाम था, तो

हमारा स्वभाव यह जोड़ने का भी है कि आस्ट्रिया के आर्कड्यूक की हत्या एक आकस्मिक प्रघटना थी; लेकिन यहाँ आकस्मिकता बहुत कुछ भिन्न है। जब हम साम्राज्यवादी युद्ध की आवश्यकता (कारणात्मक आवश्यकता, अपरिहार्यता) के सम्बन्ध में कहते हैं, तो हम इस अपरिहार्यता को समाज के विकास के कुछ कारणों की प्रचुर शक्ति से निःसृत मानते हैं। इसी प्रकार युद्ध भी एक महत्त्वपूर्ण घटना है, जो समाज के भावी लक्ष्यों पर निर्णयात्मक प्रभाव डालती है। अतः, ''ऐतिहासिक आकस्मिकता'' शब्द जिस अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुआ है, यह एक ऐसी परिस्थिति का द्योतक है जो सामाजिक घटनाओं की श्रृंखला में कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं करती है : यदि यह आकस्मिकता न भी घटित हुई होती, तो परवर्ती उद्विकास इतना कम परिवर्तित हुआ होता कि उससे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं होता। इस स्थिति में यदि आर्कड्यूक की हत्या न हुई होती, तो भी युद्ध हुआ होता; क्योंकि समस्या का केन्द्र बिन्दु ड्यूक की हत्या में नहीं था, अपितु मुख्य विषय साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच में प्रतिद्वन्द्विता को प्रखर करना था, पूंजीवादी समाज के उद्विकास के साथ दिन प्रतिदिन उस प्रतिद्वन्द्विता को अधिक उग्र बनाना था।

हम कह सकते हैं कि क्या ऐसी आकस्मिक प्रघटनाएँ सामाजिक जीवन में कोई योगदान नहीं करती हैं; समाज के लक्ष्यों को बिल्कुल प्रभावित नहीं करतीं तथा वे शून्य के समान हैं? इसका ठीक–ठीक उत्तर है कि आकस्मिक घटनाओं के महत्त्व को भी अस्वीकार नहीं कर सकते; क्योंकि प्रत्येक घटना भले अमहत्त्वपूर्ण ही हो, फिर भी यह परवर्ती इतिहास को यथार्थ रूप में प्रभावित करती है। यहाँ महत्त्वपूर्ण विषय भविष्य के उद्विकास में ऐसी घटना के प्रभाव की व्यापकता है। जब हम उन प्रघटनाओं के विषय में बात करते हैं, जो उपर्युक्त भाव में आकस्मिक हैं तो उनका व्यवहारिक प्रभाव अमहत्वपूर्ण, अउल्लेखनीय और अत्यधिक न्यून होता है। यह प्रभाव भले ही अत्यल्प हो, लेकिन यह शून्य नहीं है। हम इसे उसी समय समझेंगे, जब हम ऐसे आकस्मिक तथ्यों की संयुक्त सामूहिक क्रिया पर विचार करें। उदाहरण के लिए : मूल्यों के निर्धारण पर विचार करें। बाजार–मूल्य खरीदारों और बेचने वालों के द्वारा हुए अत्यधिक अनुमानों के संघर्ष से निर्धारित होता है। यदि हम एकल स्थिति, एकल मूल्य–अनुमान, एकल खरीददार की भेंट, एकल खरीददार और एकल विक्रेता के मिलन पर

विचार करें, तो ऐसा उदाहरण आकस्मिक कहा जा सकता है। जॉन ब्राउन व्यापारी वृद्ध स्मिथ को ठगता है। बाजार–मूल्य की दृष्टि से यह कार्य आकस्मिक है। इस अवस्था में जॉन ब्राउन को क्या हुआ, इसका क्या महत्त्व है? हम तो अंतिम परिणाम चाहते हैं, सामाजिक प्रघटना चाहते हैं, और विशिष्ट तथ्य चाहते हैं। हम प्रायः ऐसे कथन सुना करते हैं, और वे पूर्णरूप से तर्कसंगत हैं। एकल स्थिति नगण्य महत्व की है। लेकिन इस प्रकार की बहुसंख्यक आकस्मिकताओं को संयुक्त किया जाये, तो हम अविलम्ब देखेंगे कि उनकी आकस्मिकता के स्वभाव का लोप हो रहा है। अनेक क्रियाओं का कार्य, महत्त्व, और उनका सयुंक्त प्रभाव उनकी समाप्ति पर ही अनुभव होता है। इस प्रकार एकल स्थितियाँ किसी भी दशा में शून्य नहीं हैं : क्योंकि शून्य का गुणा कभी शून्य से अधिक कुछ नहीं होगा।

अतः, हम यह देखते हैं कि समाज के ऐतिहासिक उद्‌विकास में आकस्मिक प्रघटना जैसी कोई चीज नहीं है; कालकाटस्की बोल्शेविक क्रॉंति के आतंक को स्वप्न में देखते रहने के कारण एक रात सो नहीं सका था; आस्ट्रिया का आर्कडधूक युद्ध के कुछ समय पहले ही मार डाला गया था; इंग्लैण्ड उपनिवेशवादी नीति का अनुसरण कर रहा था; विश्वयुद्ध लाया गया था; आदि जैसी छोटी–से–छोटी और अमहत्त्वपूर्ण घटनाओं से लेकर हमारे युग की अत्यधिक युगान्तरकारी घटनाएँ तक समान रूप से आकस्मिक नहीं हैं, बल्कि कारणों द्वारा समान रूप से निर्धारित हुई हैं, अर्थात्, ये समान रूप से कारणात्मक आवश्यकता का परिणाम है।

च. ऐतिहासिक आवश्यकता

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि आकस्मिकता की अवधारणा का भी समाजविज्ञानों से लोप होना चाहिए। समाज और इसका उद्‌विकास प्राकृतिक नियम के उतने ही अधीन है जितनी कि अन्य कोई चीज।

आकस्मिकतावाद की अवधारणा प्रत्यक्ष रूप से आवश्यकता (कारणात्मक आवश्यकता) की विरोधिनी है।

कोई वस्तु उस समय आवश्यक है, जब यह अपरिहार्य रूप से कुछ कारणों द्वारा निर्धारित हुई है। जब हम यह कहते हैं कि एक निश्चित घटना ऐतिहासिक आवश्यकता थी तो

हमारा आशय यह होता है कि इसे कारणों का अनुसरण करना पड़ा था; भले ही यह अच्छी हो या बुरी। जब हम कारणात्मक आवश्यकता के सम्बन्ध में कुछ कहते हैं, तो हम घटना के सम्बन्ध में अपने अभिमत, इसकी वांछनीयता या अवांछनीयता के सम्बन्ध में बिल्कुल संकेत नहीं कर रहे हैं; केवल हम उसकी अपरिहार्यता के सम्बन्ध में ही विचार कर रहे हैं। लेकिन जैसा प्रायः होता है, हमें दो पूर्णतया भिन्न अवधारणाओं में भ्रम नहीं करना चाहिये : अर्थात् ''अत्यधिक वांछनीयता'' के भाव में आवश्यकता तथा कारणात्मक आवश्यकता के भेद को भूलना नहीं चाहिये। कोई दो वस्तुएँ बहुत अधिक दूर नहीं हो सकती हैं। जब हम ऐतिहासिक आवश्यकता के सम्बन्ध में कहते हैं, तो हमारा आशय सामाजिक प्रगति की दृष्टि से ''वांछनीयता'' नहीं है, बल्कि सामाजिक उद्विकास का अपरिहार्य परिणाम है। इस भाव में, हम 19वीं शताब्दी के अन्त में होने वाली उत्पादक शक्तियों की तीव्र वृद्धि की ऐतिहासिक आवश्यकता या तथाकथित क्रीटन सभ्यता के लोप का उल्लेख कर सकते हैं। आवश्यकता का अर्थ : केवल कारणों द्वारा निर्धारण है।

अब आवश्यकता के इस जटिल विषय से सम्बन्धित अपेक्षाकृत कठिन प्रश्न आ खड़ा होता है।

मान लीजिये कि हमारे सामने एक मानव–समाज है जिसकी जनसंख्या बीस वर्षों में दुगुनी हो गई है। हमारा यह निष्कर्ष निकालना सही हो सकता है कि इस समाज में उत्पादन में वृद्धि हुई है। यदि यह वृद्धि नहीं हुई है, तो समाज की जनसंख्या दूनी नहीं हो सकती थी। यदि यह समाज संख्या में बढ़ा है, तो इसका उत्पादन भी अवश्य बढ़ना चाहिए। इस उदाहरण में और अधिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं होगी। लेकिन इसमें और क्या सन्निहित है? यहाँ पर हम सामाजिक वृद्धि के उस कारण को विशेष विधि के द्वारा खोज रहे हैं, जो इस वृद्धि की आवश्यक दशा का निर्माण करता है। यदि यह दशा वर्तमान नहीं है, तो कोई वृद्धि नहीं होगी; और यदि वृद्धि है, तो परिणामस्वरूप उस दशा को भी वर्तमान होना चाहिए।

यह उदाहरण निम्नांकित प्रकार के संघर्षों को जन्म दे सकता है। इस पुस्तक के प्रारम्भ में ही हमने प्रयोजनवाद का निर्ममतापूर्वक खण्डन किया था। अब ऐसा प्रतीत होता है

कि हम स्वयं उसे पुनः स्थापित कर रहे हैं : ''प्रकृति को दरवाजे से बाहर निकालिये और वह खिड़की से पुनः अन्दर आ जाएगी।'' क्या इस प्रश्न का हमारा सूत्रीकरण इस निष्कर्ष की अनुमति देता है? समाज की वृद्धि के लिए तथा जनसंख्या के दुगुने होने के लिये यह आवश्यक था कि उत्पादन में वृद्धि होनी चाहिए। समाज की वृद्धि और उसका विकास लक्ष्य है, प्रयोजन है। उत्पादन की वृद्धि इस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है। इस प्रकार वृद्धि का प्राकृतिक नियम प्रयोजनवादी प्राकृतिक नियम है। लेकिन यह वैज्ञानिक विधि के उल्लंघन के समान ही होगा तथा धर्माचार्यों की मुक्त बाहों में गिरने के सदृश होगा।

वास्तव में, हम नितान्त भिन्न स्थिति का विवेचन कर रहे हैं जिसकी प्रकृति पूर्णतः प्रयोजनवादी नहीं है। हम इस मान्यता से यहाँ आगे बढ़ रहे है कि समाज विकसित हुआ है। लेकिन यदि समाज विकसित नहीं हो, तो क्या है? यदि समाज विकसित नहीं होता, बल्कि घटकर आधा रह जाता है और यदि यह ह्रास अपर्याप्त भोजन के कारण होता है, तो यह स्पष्ट है कि उत्पादन निश्चित ही कम कर दिया गया है। कोई भी मनुष्य समाज का विनाश करके अपने प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकता। इस स्थिति में किसी को भी इस प्रकार तर्क करने के लिए अभिप्रेरित नहीं किया जा सकता : अपर्याप्त भोजन द्वारा समाज की जनसंख्या में कमी करने का लक्ष्य है; और इस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन उत्पादन में कमी करना है। यहाँ पर किसी भी दशा में प्रयोजनवाद नहीं देख सकते हैं। हम केवल परिणाम (प्रभाव) की दशा (कारण) को खोज रहे हैं। अगले उद्‌विकास की आवश्यक दशा भी प्रायः ऐतिहासिक आवश्यकता कहलाती है। ऐतिहासिक आवश्यकता के इस भाव में हम फ्रांसीसी क्राँति की आवश्यकता के सम्बन्ध में कह सकते हैं, जिसके अभाव में पूंजीवाद वृद्धि नहीं करता रह सकता था, अथवा, सन् 1861 में रूस में तथाकथित दासता की आवश्यकता के सम्बन्ध में कह सकते हैं, जिसके बिना रूस में पूँजीवाद नहीं विकसित हो सकता था। इस भाव में हम समाजवाद की ऐतिहासिक आवश्यकता के सम्बन्ध में ही कह सकते है; क्योंकि इसके बिना मानव–समाज विकास नहीं करता रह सकता था। यदि समाज को निरन्तर विकसित होते रहना है, तो समाजवाद अपरिहार्य रूप से आएगा। यह वही भाव है जिसमें मार्क्स और एंजेल्स ''सामाजिक आवश्यकता'' के सम्बन्ध में कहते हैं।

छ. क्या सामाजिक विज्ञान सम्भव है ? क्या इस क्षेत्र में भविष्यवाणी सम्भव है ?

जो कुछ कहा गया है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक और प्राकृतिक दोनों विज्ञानों के क्षेत्र में भविष्यवाणी सम्भव है। यह छलियों या ढोंगियों द्वारा व्यवहार होने वाली भविष्यवाणी नहीं है, अपितु यह वैज्ञानिक है। उदाहरण के लिए, हम जानते हैं कि ज्योतिषी (नक्षत्र विद्या विशेषज्ञ) चन्द्र या सूर्यग्रहण के सम्बन्ध में अधिकतम शुद्धता के साथ भविष्यवाणी करने में सक्षम हैं। वे पुच्छल ताराओं के उदय या बहुसंख्यक गिरने वाले नक्षत्रों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर सकते हैं; ऋतु–वैज्ञानिक धूप, आंधी, तूफान और वर्षा आदि ऋतु सम्बन्धी बातों के बारे में भविष्यवाणी कर सकते हैं। इन भविष्यवाणियों में कुछ भी रहस्यात्मक नहीं है, क्योंकि हम यह देख सकते हैं कि ग्रहों की गति के नियम, सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी के मार्ग तथा उनके घूमने के गति की दर तथा किस बिन्दु पर वे एक निश्चित समय में उनके मार्ग में होंगे, आदि बातें ज्योतिषी जानते हैं। इस तथ्य में कोई रहस्यात्मक बात नहीं है। इन स्थितियों में यह गणना शुद्ध रूप में की जा सकती है कि कब चन्द्रमा पृथ्वी और सूर्य के बीच में आएगा तथा हमारी दृष्टि से उसके प्रकाश को रोकेगा। अब हम इस प्रश्न पर विचार करें कि क्या इसी प्रकार की कोई चीज समाजविज्ञानों में भी है? इसका उत्तर सकारात्मक है। यदि हम सामाजिक विकास के नियमों, उन मार्गों जिन पर समाज की यात्रा आवश्यक रूप से होती है तथा इस उद्‌विकास की दिशा को जानते हैं, तो हमें भावी समाज की परिभाषा करना कठिन नहीं होगा। समाज–विज्ञान में हमें इस प्रकार की भविष्यवाणी के अनेक उदाहरण मिलते हैं जो बाद में पूर्णरूप से सृत्य हुए हैं। हम अपने सामाजिक उद्‌विकास के नियमों के ज्ञान के आधार पर आर्थिक संकट, कागजी मुद्रा के अवमूल्यन, विश्वयुद्ध, युद्ध–जन्य सामाजिक क्रांति के सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर चुके हैं। रूसी क्रांति के समय हमने विभिन्न समूहों, वर्गों और दलों के आचरण के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की थी कि सर्वहारा–वर्ग के सत्ता ग्रहण करने के पश्चात् ''सामाजिक क्रांतिकारी'' अमीर किसानों, सफेदपोसों और अनुशासनहीन गिरोहों के एक

प्रति–क्रांतिकारी दल के रूप में रूपांतरित हो जाएगा; क्रांति के बहुत पहले, रूसी मार्क्सवादियों ने रूस में पूंजीवाद के अपरिहार्य विकास तथा इसके परिणामस्वरूप श्रमिकों के आन्दोलन के अपरिहार्य विकास के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की थी। हम इस तरह की भविष्यवाणियों के सैकड़ों उदाहरण दे सकते हैं जिनमें उस व्यक्ति के लिये कुछ भी आश्चर्यजनक और रहस्यास्पद नहीं है, जो सामाजिक–ऐतिहासिक प्रक्रिया के नियमों को जानता है।

हम ऐसी किसी भी प्रघटना के प्रकट होने के समय के सम्बन्ध में भविष्यवाणी नहीं कर सकते हैं; क्योंकि अभी हमारे पास समाजिक उद्विकास के नियमों को शुद्ध रूप में व्यक्त करने की पर्याप्त सामग्री नहीं है। हम सामाजिक प्रक्रियाओं की गति की दर को नहीं जानते हैं, लेकिन हम उनकी दिशा के सम्बन्ध में निश्चय करने की स्थिति में पहले से ही हैं।

सामाजिक प्रघटनाओं के क्षेत्र के निर्णयवाद के सिद्धान्त तथा वैज्ञानिक भविष्यवाणी की सम्भावना ने अनेक प्रश्न उठाये हैं जिनमें हम आर0 स्टेमलर के शब्दों पर विचार करेंगे। स्टेमलर मार्क्स से पूछता है कि जब मार्क्सवादी यह प्रतिपादित करते हैं कि समाजवाद उसी निश्चितता के साथ आना चाहिए, जैसे सूर्यग्रहण आता है, तो ऐसी स्थिति में मार्क्सवादी समाजवाद लाने का क्यों प्रयत्न करते हैं? स्टेमलर कहता है कि दो में से एक ही सत्य है : यदि सूर्यग्रहण की तरह समाजवाद आएगा, तो इस स्थिति में किसी भी प्रकार के प्रयत्न, संघर्ष, दलीय संगठन आदि का कोई औचित्य नहीं है; क्योंकि कोई भी व्यक्ति सूर्यग्रहण के समर्थन के लिए एक दल के संगठन करने की बात नहीं सोचेगा। यदि दल का संगठन और संघर्ष का संचालन होता है, तो यह स्वीकार कर लिया जाता है कि संभव है, समाजवाद न भी आ सके। लेकिन मार्क्सवादी इसे चाहते हैं, अतः वे इसके लिये संघर्ष करते हैं।

लेकिन समाजवाद की आवश्यकता की प्रकृति ऐसी नहीं है। उपर्युक्त विवेचना की दृष्टि से स्टेमलर की भूलों को पकड़ना बहुत सरल है। सूर्यग्रहण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मानवीय इच्छाओं पर आधारित नहीं होता है; वास्तव में यह मनुष्यों पर बिल्कुल ही नहीं आश्रित होता है। संसार के मनुष्य, वर्ग, लिंग, राष्ट्रीयता और आयु के भेद के बिना मर जायें, तो भी एक निश्चित समय पर सूर्यग्रहण होगा। लेकिन सामाजिक प्रघटनाओं के साथ पूर्णतया भिन्न स्थिति

है; क्योंकि ये मनुष्यों की इच्छा द्वारा सम्पन्न होती है। सामाजिक प्रघटनाएँ बिना मनुष्यों और बिना समाज के गोल वर्ग या जलती हुई बरफ के समान होंगी। समाजवाद अपरिहार्य रूप से आएगा; क्योंकि यह भी अपरिहार्य है कि मनुष्य, निश्चित वर्गों के मनुष्य, इसकी उपलब्धि के लिए कटिबद्ध होंगे, और वे उन परिस्थितियों के अन्तर्गत ऐसा करेंगे जो उनकी विजय को निश्चित बनाएगी। मार्क्सवाद इच्छा को अस्वीकार नहीं करता है, बल्कि उसकी व्याख्या करता है। जब मर्क्सवादी साम्यवादी दल का संगठन करते हैं, और इसे युद्ध की ओर अग्रसर करते हैं, तो यह क्रिया भी उस ऐतिहासिक आवश्यकता की एक अभिव्यक्ति है, जो अपने स्वरूप को मनुष्यों की इच्छा और क्रियाओं के द्वारा प्राप्त करती है।

सामाजिक निर्णयवाद, (अर्थात् यह मत कि सामाजिक प्रघटनाएँ परिस्थितिजन्य हैं तथा इनके कारण होते हैं जिनसे ये निःसृत होती हैं) को उस भाग्यवाद से भ्रमित नहीं करना चाहिये, जो उस अन्धे और अपरिहार्य भाग्य पर विश्वास करता है जिसके अधीन मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन माना जाता है। मनुष्य की इच्छा कुछ नहीं होती है। भाग्यवाद के अनुसार मनुष्य कोई मात्रा नहीं है जिस पर कारणों के साथ विचार किया जाय, वह तो निष्क्रिय पदार्थ मात्र है। यह शिक्षा मानवीय इच्छा को उद्‌विकास के कारक के रूप में अस्वीकार करती है, लेकिन निर्णयवाद ऐसा नहीं मानता है।

3. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

क. दर्शनशास्त्र में भौतिकवाद और आदर्शवाद

हमने पिछले अध्याय में मानवीय इच्छा के प्रश्न पर विचार करते हुए इस समस्या पर विचार किया था कि क्या यह (इच्छा) स्वतंत्र है, अथवा संसार की अन्य प्रत्येक वस्तु की तरह कुछ कारणों द्वारा निर्धारित होती है। हम इस सम्बन्ध में इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि हमें निर्णयवाद का दृष्टिकोण स्वीकार करना चाहिये। हमने पाया था कि मनुष्य की इच्छा दैवी विशेषताओं से युक्त नहीं है, अपितु यह मानवीय सावयव की दशाओं तथा बाह्य कारणों पर आश्रित होती है। इससे हमारे समक्ष प्रत्यक्ष रूप से एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण समस्या आ खड़ी होती है जिसने हजारों वर्षों तक मस्तिष्क को आन्दोलित किया है। यह समस्या है भौतिक पदार्थ और मस्तिष्क के पारस्परिक सम्बंध की, जिसे सरल भाषा में शरीर और आत्मा के सम्बन्ध के रूप में व्यक्त किया जाता है। सामान्य रूप में हम दो प्रकार की प्रघटनाओं में भेद करते हैं। एक प्रकार की प्रघटनाएँ प्रसरणशील हैं, वे स्थान घेरती हैं और बाह्य इंद्रियों द्वारा पर्यवेक्षित हो सकती हैं; हम उनको देख सकते हैं, उनको सुन सकते हैं, उनको अनुभव कर सकते हैं, उनका आस्वादन कर सकते हैं। इस प्रकार की प्रघटनाओं को हम भौतिक प्रघटना कहते हैं। दूसरी प्रकार की प्रघटनाओं का न कोई स्थान होता है, और न उनको अनुभव किया जा सकता; न देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए ऐसी प्रघटना मानव–मस्तिष्क या संवेदना है। लेकिन कोई इनके अस्तित्व पर संदेह नहीं कर सकता। दार्शनिक डेकार्ट ने इसी परिस्थिति को मनुष्य के अस्तित्व का प्रमाण माना था; डेकार्ट ने कहा था : मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ। फिर भी मनुष्य के चिंतन को स्पर्श नहीं किया जा सकता या सूंघा नहीं जा सकता; इसका कोई रंग नहीं होता तथा इसे गजों या मीटरों में नापा नहीं जा सकता है। इस प्रकार की प्रघटनाऐं मनोवैज्ञानिक कहलाती हैं; सरल भाषा में आध्यात्मिक कहलाती है। अब हमें इन दो प्रकार की प्रघटनाओं के बीच के सम्बन्ध पर विचार करना है। समस्त वस्तुओं के उद्‌भव का आधार मस्तिष्क है या भौतिक पदार्थ? कौन पहले आता है; कौन आधार है; क्या भौतिक पदार्थ मस्तिष्क को उत्पन्न करता है, या मस्तिष्क भौतिक पदार्थ को? इन दोनों में क्या

सम्बन्ध है? इसी प्रश्न में दर्शनशास्त्र की आधारभूत अवधारणा सन्निहित है। इस प्रश्न के उत्तर में ही समाज–विज्ञानों के क्षेत्र के अन्य अनेक प्रश्नों का उत्तर आधारित है।

आइये इस प्रश्न पर हम यथा संभव अधिक–से–अधिक दृष्टिकोणों से विचार करें। सबसे पहले हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मनुष्य प्रकृति का एक अंश है। हम निश्चित रूप में यह नहीं जान सकते कि अन्य ग्रहों में अधिक उच्च रूप से संगठित अन्य प्राणियों का अस्तित्व है या नहीं। यद्यपि यह सम्भव है कि ऐसे प्राणियों का अस्तित्व हो; क्योंकि ग्रहों की संख्या गणनातीत है। लेकिन यह स्पष्ट है कि मनुष्य कहलाने वाला जीव एक ऐसा दैवी प्राणी नहीं है जो संसार से बाहर खड़ा हो तथा अन्य अपरिचित रहस्यात्मक लोक से प्रक्षेपित किया गया हो। हम प्राकृतिक विज्ञानों से जानते हैं कि वह प्रकृति का एक उत्पाद और एक अंश है, तथा प्रकृति के सामान्य नियमों के अधीन है। हम यह जानते हैं कि मनौवैज्ञानिक प्रघटनाएँ या तथाकथित ''आत्मा की प्रघटनाएँ'' समस्त प्रघटनाओं के योग का एक अत्यल्प अंश है। दूसरे स्थान में, हम यह जानते हैं कि मनुष्य अन्य जीवों से उद्‌भूत हुआ है, तथा जीवित प्राणियों का अस्तित्व इस पृथ्वी पर एक निश्चित समय से ही है। जब पृथ्वी एक जलता हुआ अग्नि का पिण्ड थी और आज के सूर्य के समान थी, तो उसके ठंडे होने के पूर्व इस पर कोई जीवन नहीं था, और न इस पर कोई चिंतनशील प्राणी था। सावयव प्रकृति मृत प्रकृति से उत्पन्न हुई, जीवित प्रकृति ने ऐसा स्वरूप उत्पन्न किया जो चिंतन में सक्षम था। पहले पदार्थ था, जो चिंतन में अक्षम था; इसी से चिंतनशील पदार्थ–मनुष्य–विकसित हुआ। यदि ऐसी स्थिति है, और हम प्राकृतिक विज्ञानों से जानते हैं कि ऐसा ही है, तो इससे स्पष्ट है कि पदार्थ मस्तिष्क का जनक है; मस्तिष्क पदार्थ का जनक नहीं है। संतानें अपने माता–पिता से अवस्था में कभी बड़ी नहीं हो सकती हैं। मस्तिष्क बाद में आता है, इसलिए हमें इसे संतान मानना चाहिए, न कि माता–पिता।

तीसरे, मस्तिष्क उस समय तक उत्पन्न नहीं हो सकता है, जब तक हमारे पास पहले से ही एक निश्चित रूप में संगठित पदार्थ नहीं है।

एक शून्य सोच नहीं सकता है, न एक मीठी पूड़ी ही सोच सकती है, और बिना पदार्थ के मस्तिष्क भी नहीं सोच सकता। मनुष्य का मस्तिष्क, जो मनुष्य के सावयव का एक अंग है, सोचता है। मनुष्य का सावयव एक ऐसा पदार्थ है जो अत्यन्त जटिल रूप में संगठित है।

चौथे, उपर्युक्त विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि बिना मस्तिष्क के पदार्थ का अस्तित्व क्यों हो सकता है, जबकि मस्तिष्क का अस्तित्व बिना पदार्थ के सम्भव नहीं हो सकता है। चिंतनशील मनुष्य के प्रगट होने के पूर्व पदार्थ का अस्तित्व था। पृथ्वी का अस्तित्व उसकी सतह पर किसी प्रकार के मस्तिष्क के प्रकट होने के बहुत पूर्व था। दूसरे शब्दों में, पदार्थ का अस्तित्व मस्तिष्क से निरपेक्ष और स्वतन्त्र है। लेकिन मानसिक प्रघटनाओं अर्थात् तथाकथित मस्तिष्क का अस्तित्व पदार्थ के पूर्व कभी और कहीं नहीं था, और ये पदार्थ से स्वतन्त्र कभी नहीं थीं। चिंतन का अस्तित्व बिना मस्तिष्क के नहीं होता है; जब तक कामना करने वाला सावयव नहीं है, तब तक कामनाएँ असम्भव हैं। मस्तिष्क सदा पदार्थ से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है। दूसरे शब्दों में, मानसिक प्रघटनाएँ, चेतनता की प्रघटनाएँ एक निश्चित रूप में संगठित पदार्थ की विशेषताएँ हैं, ऐसे पदार्थों की क्रियाएँ हैं। मनुष्य अत्यधिक सुकोमलता से संगठित प्राणी है। इस संगठन को नष्ट करिये, इसे विघटित करिये, इसे अलग करिये, काट डालिये तो मस्तिष्क का तुरन्त लोप हो जाएगा। यदि मनुष्य इस संस्थान को पुनः एक साथ संगठित करने की क्षमता रखता है, मनुष्य सावयव को जोड़ सकता है या दूसरे शब्दों में, जैसे घड़ी के पुर्जे अलग–अलग कर दिये जाते हैं और पुनः एक साथ सब जोड़ दिये जाते हैं, उसी प्रकार यदि मनुष्य के शरीर के समस्त अंग अलग–अलग किये जा सकते हैं और अपने मूलरूप में संगठित किये जा सकते हैं, तो चेतनता तुरन्त लौट आएगी; एक बार जब घड़ी के समस्त पुर्जे यथास्थान पुनः जुटा दिये जाते हैं, तो घड़ी चलने लगती है; इसी प्रकार मानवीय सावयव को संगठित कर दीजिये, और वह सोचना प्रारम्भ कर देगा। वास्तविकता यह है कि हम अभी इतने सक्षम नहीं हुए हैं कि ऐसा कर सकें। लेकिन पहले ही निर्णयवाद के विवेचन में हमने देख लिया है कि मस्तिष्क की चेतनता की अवस्था सावयव की अवस्था पर निर्भर होती है। सावयव में पर्याप्त मदिरा प्रवेश करिये, तो उसकी चेतनता भ्रमित हो जाएगी और मस्तिष्क असंतुलित हो जाएगा। यदि नशा दूर करने वाली किसी दूसरी वस्तु

से सावयव के नशे के प्रभाव को दूर कर दिया जाये तो मस्तिष्क सामान्य रूप में पुनः कार्य करने लगेगा। उपर्युक्त विवेचन से चेतनता की पदार्थ पर आश्रितता व्यक्त होती है, या दूसरे शब्दों में, जीवन पर चिन्तन की आश्रितता व्यक्त होती है।

हम देख चुके हैं कि भौतिक प्रघटनाएँ एक निश्चित रूप में संगठित पदार्थ का एक गुण हैं, अतः हमारे पास अनेक प्रकार के उच्चावचय, पदार्थ के संगठन के अनेक स्वरूप तथा मानसिक जीवन के अनेक रूप भी हो सकते हैं। मनुष्य, अपने मस्तिष्क से युक्त, विशेष प्रकार से संगठित होता है– पृथ्वी पर उसका सर्वाधिक पूर्ण मानसिक जीवन होता है। उसमें एक वास्तविक चेतना होती है; कुत्ता एक भिन्न रूप में संगठित होता है, इसीलिये कुत्ते का मानस मनुष्य से भिन्न होता है। कीड़े का संगठन भी एक विशेष प्रकार का होता है, और कीड़े का मस्तिष्क अत्यन्त हीन होता है जिसकी मनुष्य के मस्तिष्क से किसी प्रकार भी तुलना नहीं की जा सकती है। पत्थर का संगठन उसे अचेतन पदार्थों की श्रेणी में बैठाता है; क्योंकि उसमें कोई मानसिक जीवन बिल्कुल नहीं होता। मानसिक पक्ष के दिखाई पड़ने के लिये पदार्थ को एक विशेष और जटिल संगठन की आवश्यकता है। जटिल संगठन की आवश्यक (पहली) शर्त है कि पदार्थ का संगठन अत्यन्त जटिल हो। पृथ्वी पर यह चेतनता उसी समय दिखाई पड़ती है जब पदार्थ का संगठन हो जाता है, जैसा कि मनुष्य में होता है जिसमें अत्यधिक जटिल उपकरण–मस्तिष्क–सिर में होता है।

इस प्रकार पदार्थ के बिना मस्तिष्क का अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता है, जबकि पदार्थ का अस्तित्व बिना मस्तिष्क के भली प्रकार सम्भव होता है, पदार्थ का अस्तित्व मस्तिष्क से पहले था; मस्तिष्क विशेष रीति से संगठित पदार्थ का एक विशेष गुण है।

यह निर्णय करना कठिन नहीं है कि आदर्शवाद (वह मत जो समस्त वस्तुओं में आधारभूत रूप में आत्मा को निहित मानता है) केवल धार्मिक अवधारणा का एक दूसरा रूप है जिसमें दैवी रहस्यात्मक शक्ति को प्रकृति से भी ऊपर स्थान दिया जाता है। मानवीय चेतना इस दैवी शक्ति से निकली हुई एक छोटी–सी–चिनगारी के रूप में मानी जाती है, और मनुष्य स्वयं ईश्वर द्वारा चुना गया एक प्राणी समझा जाता है। यदि आदर्शवादी दृष्टिकोण को हम

उसके निष्कर्ष तक पहुँचाएं, तो इसमें अनेक निरर्थक बातें मिलती हैं, जिनकी परिभाषा सत्तारुढ़ दल के दार्शनिक बड़ी गंभीर मुद्रा में प्रायः करते हैं। विशेष रूप से हम आदर्शवाद से ऐसे विचारों को सम्बन्धित पाते हैं, जो बाह्य–जगत् को अस्वीकार करते हैं, अर्थात् जो वस्तुनिष्ठ रूप में, मानवीय चेतना से स्वतंत्र बाह्य–जगत् को अस्वीकार करते हैं। ये कभी–कभी अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व से भी इंकार करते हैं। आदर्शवाद का अतिवादी और अत्यधिक संश्लिष्ट रूप ''अहंमात्रवाद'' कहलाता है। अहंमात्रवादियों का तर्क इस प्रकर है : हमारे पास क्या सामग्री है? मेरी चेतना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; घर जिसमें मैं रहता हूं, वह केवल मेरी संवेदनाओं में वर्तमान है; जिस आदमी से मैं बात करता हूँ, वह भी संवेदना मात्र है। एक शब्द में, मुझसे बाहर किसी चीज का अस्तित्व नहीं है, यहाँ केवल अहम् है, मेरी चेतना है, मेरा मानसिक अस्तित्व है; मुझसे पृथक् जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है; यह केवल मेरे मस्तिष्क का प्राणीमात्र है, क्योंकि मैं अपने आभ्यान्तरिक जीवन मात्र से अवगत हूँ, जिससे पलायन करने का कोई साधन नहीं है। जिन वस्तुओं को हम देखते, सुनते और आस्वाद करते हैं, जिन वस्तुओं के सम्बन्ध में हम चिन्तन और तर्क करते हैं, वे सब मेरी संवेदना हैं, मेरी अवधारणा हैं, मेरे विचार हैं।''

यह विकृत मस्तिष्क का दर्शन मानवीय अनुभव द्वारा पग–पग पर खण्डित किया जाता है। इसके सम्बन्ध में शोपेनहर ने लिखा था कि इसके गम्भीर समर्थक केवल पागलखानों में ही पाये जा सकते हैं। जब हम खाते हैं, वर्ग–संघर्ष संचालित करते हैं, अपने जूते पहनते हैं, फूल तोड़ते हैं, किताबें लिखते हैं, पति या पत्नी होते हैं, तब हममें से कोई बाह्य–जगत् के अस्तित्व के सम्बन्ध में संदेह करने की बात नहीं सोचता है, अर्थात् जिस भोजन को हम खाते हैं, जिन जूतों को हम पहनते हैं, और जिस स्त्री से शादी करते हैं, उन सबके अस्तित्व के सम्बन्ध में हम संदेह नहीं करते हैं। यह भ्रान्त धारणा आदर्शवाद की आधारभूत मान्यता पर आधारित है। वास्तव में, यदि मस्तिष्क समस्त वस्तुओं का आधार है, तो मनुष्य के अस्तित्व के पूर्व इस स्थिति का क्या रूप था? इसके दो सम्भव उत्तर हैं : या तो हमें प्राचीन बाइबिल की कहानियों में उल्लिखित दैवी आत्मा, एक निश्चित अतिमानव के अस्तित्व को मानना चाहिये; अथवा हमें यह मान लेना चाहिए कि युगयुगीन अतीत की घटायें मेरी कल्पना की उपज हैं। पहला

समाधान हमें आदर्शवाद की ओर अग्रसर करता है जो बाह्य–जगत् के अस्तित्व को ''स्वचेतनता'' से स्वतंत्र स्वीकार करता है। इस जगत् का सार इसकी आध्यात्मिक उत्पत्ति में, ईश्वर में या ''उस सर्वोच्च मस्तिष्क'' में, जो यहाँ पर ईश्वर का स्थान लेता है, इच्छा'' अथवा किसी प्रकार की जादूगरी में है। इसका समाधान हमें व्यक्तिनिष्ठ आदर्शवाद के द्वारा सीधे अहंमात्रवाद की ओर ले जाता है, जो केवल आध्यात्मिक आ प्राणियों, चिंतनशील व्यक्तियों के अस्तित्व को ही स्वीकार करता है। आदर्शवाद के सर्वाधिक संश्लिष्ट स्वरूप के रूप में अहंमात्रवाद का पहिचानना सरल है। लेकिन आदर्शवाद को आधार कहाँ प्राप्त होता है? यह मानसिक प्रारम्भ को आदिम और आधारभूत क्यों मानता है? इसका कारण यह है कि वह स्व–सामग्री में केवल अपनी संवेदनाओं को ही अंतर्निहित मानता है। लेकिन यदि यह स्थिति है, तो मैं मैदान में खड़े खम्भे और अपने के अतिरिक्त माता–पिता सहित अन्य किसी मानव प्राणी के अस्तित्व के सम्बन्ध में भी समान रूप से शंका कर सकता हूँ। अहंमात्रवाद इस प्रकार से आत्महत्या करता है; क्योंकि यह केवल दर्शनशास्त्र के सम्पूर्ण आदर्शवाद को ही नष्ट नहीं करता है, अपितु अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण की अनवरत खोज में यह ऐसी परिपूर्ण मूर्खताओं और पूर्ण पागलपन की बातों की ओर अग्रसर करता है, जो मनुष्यों के वास्तविक व्यवहार द्वारा पग–पग खंडित होती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति यह समझ लेगा कि भौतिकवाद और आदर्शवाद के बीच का यह विचार समाज–विज्ञानों में यथासंभव व्यक्त हुए बिना नहीं रह सकता। वास्तव में, मानव–समाज विभिन्न प्रकार की बहुसंख्यक प्रघटनाएँ प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए, हम धर्म, दर्शन तथा नैतिकता जैसे ''अतिरंजित पदार्थों'' को पाते हैं; हम विभिन्न क्षेत्रों में मनुष्यों द्वारा ग्रहीत असंख्य विचार भी पाते हैं। हम वस्तुओं का विनिमय या उत्पादित वस्तुओं का वितरण भी पाते हैं। हम विभिन्न वर्गों के बीच परस्पर संघर्ष पाते हैं; स्थान और काल के भेद के साथ गेहूँ, राई, जूता, मशीन आदि का उत्पादन होता है। हम इस समाज की व्याख्या करने के लिए कैसे अग्रसर होंगे? हम किस दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या करेंगे? हम इसका आधारभूत तत्त्व क्या मानेंगे, तथा इसका द्वैतीयक या परिणामस्वरूप प्राप्त तत्त्व क्या समझेंगे? ये समस्त प्रश्न स्पष्ट रूप से वे ही हैं, जो दर्शनशास्त्र के सामने प्रस्तुत रहे हैं और जिन्होंने दार्शनिकों को दो बड़े सम्प्रदायों

में विभक्त कर दिया है : एक है भौतिकवादी और दूसरा है आदर्शवादी। एक ओर, हम ऐसे व्यक्तियों की कल्पना कर सकते हैं, जो समाज को करीब–करीब इस प्रकार से समझ रहे हैं : समाज में ऐसे व्यक्ति होते हैं जो सोचते हैं, कार्य करते हैं, इच्छा करते हैं तथा विचारों, चिंतनों और अभिमतों से आक्रॉंत होते हैं; जिससे वे यह अनुमान करते है : ''जगत् में अभिमत का आधिपत्य है''; मनुष्यों के अभिमत में परिवर्तन ही उस प्रत्येक बात का आधारभूत कारण है जो समाज में घटित हो रही है; दूसरे शब्दों में समाज–विज्ञान के भौतिक पदार्थ के इस पक्ष के सम्बन्ध में सबसे पहले सूक्ष्म रीति से खोज करनी चाहिए, अर्थात् ''सामाजिक चेतनता'' या ''समाज के मस्तिष्क'' के सम्बन्ध में सर्वप्रथम खोज करनी चाहिए। समाज–विज्ञानों में इस प्रकार का दृष्टिकोण आदर्शवादी होगा। लेकिन हमने ऊपर देखा है कि आदर्शवाद में भौतिकता से स्वतंत्र विचारों की सत्ता स्वीकार की गई है, और उनको दैवी और रहस्यात्मक स्रोतों पर आश्रित माना गया है। अतः यह स्पष्ट है कि आदर्शवादी दृष्टिकोण में प्रत्यक्ष रूप से रहस्यवाद या अन्य इसी प्रकार की मूर्खताएँ सम्मिलित हैं तथा परिणामस्वरूप यह इन विज्ञानों को विनाश की ओर अग्रसर करता है या इनके स्थान पर ईश्वर के कार्यों या अन्य इसी प्रकार की अवधारणाओं को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार फ्रांसीसी लेखक बोसिट कहता है कि ''इतिहास मानव–प्रजाति के दैवी पथ–प्रदर्शन को प्रकट करता है।'' जर्मन आदर्शवादी दार्शनिक लेसिंग घोषित करता है कि इतिहास ईश्वर द्वारा मानव–प्रजाति की शिक्षा है। फिक्टे कहता है कि तर्क इतिहास में व्यक्त है। शेलिंग के अनुसार इतिहास निरंतर और प्रगतिशील रूप में खोजा गया परम है, दूसरे शब्दों में, ईश्वर का प्रगटीकरण है। महान् आदर्शवादी दार्शनिक हीगेल ने विश्व–इतिहास की परिभाषा विश्वात्मा के सुचिंतित आवश्यक उद्विकास के रूप में की है। इसी प्रकार अन्य अनेक प्रकार के उदाहरण दिए जा सकते हैं। लेकिन उपर्युक्त उदाहरण यह दिखाने के लिए पर्याप्त होंगे कि दार्शनिक दृष्टिकोणों और समाज–विज्ञानों में प्रचलित दृष्टिकोणों के बीच कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आदर्शवादी समाज–विज्ञान और आदर्शवादी समाज–शास्त्री समाज में सबसे पहले इस समाज के विचार का अवलोकन करते हैं; वे इस समाज को मानसिक अभौतिक वस्तु के रूप में मानते हैं; उनके मत से समाज मानवीय इच्छाओं, संवेदनाओं, विचारों और कामनाओं की

एक वृहत् राशि का जटिल अनंत संयोजन है; दूसरे शब्दों में, समाज सामाजिक मनोविज्ञान है और सामाजिक चेतनता समाज का ''मस्तिष्क'' है।

लेकिन एक पूर्णतया भिन्न दृष्टिकोण से भी समाज पर विचार हो सकता है। हमने निर्णयवाद के विवेचन में यह पाया था कि मनुष्य की इच्छा स्वतंत्र नहीं है तथा यह मनुष्य के अस्तित्व की बाह्य परिस्थितियों से निर्धारित होती है। क्या समाज भी इन नियमों के अधीन नहीं है? हम सामाजिक चेतनता की व्याख्या किस प्रकार करेंगे? यह किस पर आश्रित होती हैं? केवल इन प्रश्नों का सूत्रीकरण ही समाज–विज्ञानों के भौतिकवादी दृष्टिकोण की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। मानव–समाज प्रकृति का उत्पाद है; स्वयं मानव–प्रजाति के समान ही यह प्रकृति पर आधारित है; और प्रकृति से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करके अपने अस्तित्व को बनाए रख सकता है। यह कार्य वह उत्पादन की प्रक्रिया द्वारा करता है। यह सदा इस कार्य को चेतन रूप में नहीं कर सकता है; क्योंकि चेतन प्रक्रिया केवल एक संगठित समाज में ही संभव है, जिसके अंतर्गत प्रत्येक बात एक योजना के अनुसार ही आगे बढ़ती है। एक असंगठित समाज में प्रक्रिया अचेतन रूप में चलती रहती है : उदाहरण के लिये पूंजीवाद के अंतर्गत उत्पादक अधिक लाभ प्राप्त करने को इच्छुक रहता है और इसीलिए वह उत्पादन में वृद्धि करता है (न कि मानव–समाज को सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से ऐसा करता है)। किसान अपने लिए भोजन प्राप्त करने तथा उत्पादन के एक अंश को बेच करके कर अदा करने के उद्देश्य से उत्पादन करता है; व्यापारी अपने को संकटों से मुक्त करने और समाज में अपना एक स्थान बनाने के लिए व्यापार करता है; श्रमिक भूखों मरने से बचने के लिए काम करता है। परिणामस्वरूप संपूर्ण समाज किसी–न–किसी रूप में अच्छाई या बुराई के लिए चेष्टारत रहता है। भौतिक उत्पादन और इसके साधन मानव समाज के अस्तित्व के आधार हैं। इनके बिना ''सामाजिक चेतनता'' और ''मानसिक संस्कृति'' उसी प्रकार सम्भव नहीं है, जैसे बिना मस्तिष्क के चिंतन सम्भव नहीं है। हम इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक आगे विचार करेंगे। यहाँ तो केवल निम्नांकित प्रश्नों पर ही विचार किया जायेगा; आइये हम दो मानव समाजों की कल्पना करें, जिनमें से एक आदिम समाज है और दूसरा पूंजीवाद की अन्तिम स्थिति में पहुँचा हुआ समाज है। पहले प्रकार के समाज में समस्त गतिविधियां भोजन

सामग्री, शिकार करने, मछली मारने, कंद–मूल फल एकत्र करने, आदिम ढंग की खेती करने आदि के नितान्त स्थूल कार्यों में केन्द्रित होती हैं; तथा वैचारिक या ''मानसिक संस्कृति सम्बन्धी'' कार्यों के लिए बहुत अल्प स्थान होता है, ये लोग बंदरों या जनजातीय पशुओं से मुश्किल से ही अधिक होते हैं। दूसरे में उदात्त ''मानसिक संस्कृति'' होती है; इसमें नैतिकता का एक महान् बेबीलोनियन विभ्रम, असंख्य कानूनों से युक्त न्याय, अत्यधिक विकसित असंख्य विज्ञान, दर्शन, धर्म तथा वास्तुकला से लेकर फैशन प्लेट्स तक की कलायें होती हैं। फिर भी, यह वेबीलोनियन विभ्रम ऐसा है जिसमें शोषक (बुर्जुआ) शासन करते हैं। यह उन स्थानों में पूर्णतया भिन्न है, जहाँ सर्वहारा का शासन होता है और किसानों के शासन में इसमें पुनः भिन्नता मिलती है, आदि। एक शब्द में, इस अवस्था में उदात्त मानसिक संस्कृति, समाज का मस्तिष्क और विचारों का योग अत्यधिक विकसित होता है। इस मस्तिष्क के लिये इस रूप में विकसित होना कैसे सम्भव हुआ था? उसके विकास की क्या परिस्थितियाँ थीं? भौतिक उत्पादन के विकास, प्रकृति के ऊपर मानवीय शक्ति की वृद्धि और मानवीय श्रम की उत्पादनशीलता की वृद्धि कैसे हुई? जब समस्त उपलब्ध समय शारीरिक श्रम में ही नहीं समाप्त हो जाता है तो लोगों के पास कुछ समय का अंश ऐसा बच जाता है जिसमें वे सोचने, तर्क करने, इस योजना पर कार्य करने, मानसिक संस्कृति का निर्माण करने का अवसर पा जाते हैं। जैसा कि सब जगह होता है, समाज में भी भौतिक पदार्थ ही मस्तिष्क का जनक है, न कि मस्तिष्क पदार्थ का जनक; यह सामाजिक मानसिक संस्कृति (सामाजिक चेतनता) नहीं है जो कि समाज के सारतत्त्व को जन्म देती है, बल्कि सामाजिक सारतत्व का उद्‌विकास है, अर्थात् भौतिक उत्पादन का उद्‌विकास है जो इस तथाकथित मानसिक संस्कृति की आधारभूमि का निर्माण करता है। दूसरे शब्दों में, समाज का आध्यात्मिक जीवन आवश्यक रूप से भौतिक उत्पादन की परिस्थितियों पर आधारित होना चाहिये, अर्थात् उस अवस्था पर आधारित होना चाहिए जिसे मानव–समाज की उत्पादक शक्तियों ने प्राप्त कर लिया है। समाज का मानसिक जीवन उत्पादन की शक्तियों का एक कार्य है। यह कार्य क्या है, उत्पादक शक्तियों से समाज का मानसिक जीवन किस प्रकार विकसित होता है : इन सब विषयों पर आगे चलकर विवेचन किया जायेगा। प्रस्तुत प्रसंग में हम केवल यह देख सकते हैं कि समाज सम्बन्धी यह दृष्टिकोण स्वाभाविक रूप में हमें इस बात के लिये प्रेरित करता है कि

यह समस्त प्रकार के सम्भव अभिमतों का योग नहीं है, बल्कि यह सबसे पहले एक कार्यकारी संगठन है (मार्क्स कभी–कभी इसे उत्पादनशील सावयव कहता है)।

समाजशास्त्र के क्षेत्र में यही भौतिकतावादी दृष्टिकोण है। जैसा हम जानते हैं कि इस प्रकार का दृष्टिकोण किसी भी दशा में यह इन्कार नहीं करता है कि विचारों का अपना प्रभाव होता है। मार्क्स ने चेतनता की उच्चतम अवस्था का विवेचन करते हुए स्पष्ट रूप से यहाँ तक कहा था कि प्रत्येक सिद्धान्त एक शक्ति बन जाता है, जब यह जन–समुदायों पर अपना नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है। लेकिन भौतिकवादी केवल इस तथ्य का उल्लेख करके ही संतोष नहीं कर सकते कि लोगों ने ऐसा सोचा था। वे पूछते हैं : लोगों ने एक निश्चित स्थान पर एक निश्चित समय में ऐसा क्यों सोचा और अन्य परिस्थितियों में भिन्न रूप में क्यों सोचते है? वास्तव में, तथाकथित सभ्य समाजों में इतना अधिक सोच करके असंख्य पुस्तकें तथा अन्य चीजें लोगों ने क्यों प्रस्तुत कीं, जबकि आदिवासी इस प्रकार से बिल्कुल नहीं सोचता है? हम इन प्रश्नों के उत्तर समाज के जीवन की भौतिक परिस्थितियों में पायेंगे। अतएव भौतिकवाद समाज के मानसिक जीवन की प्रघटनाओं की व्याख्या करने की स्थिति में है, जबकि आदर्शवाद नहीं कर सकता; क्योंकि आदर्शवाद विचारों के बिना किसी आधारभूमि के अपने आप विकसित होने की कल्पना करता है। इसी कारण से आदर्शवादी जब कभी वास्तविक व्याख्या करने की इच्छा करते हैं तो वे दैवी शक्ति का सहारा लेने के लिए विवश होते हैं। हीगल ने अपने इतिहास दर्शन में लिखा कि यह शुभ, यह अपनी सर्वाधिक मूर्त्त अवधारणा में तर्क, ईश्वर है। ईश्वर जगत् पर शासन करता है, उसकी सरकार की विषय–वस्तु उसकी योजनाओं का कार्यान्वयन सार्वभौम इतिहास है। जो अपने उपासकों के अनुसार परिपूर्णता निर्माण करता है तथा आदम के साथ परोपजीवियों तथा वेश्याओं, हत्यारों और कोढ़ियों, भूख और गरीबी, उपदंश और शराब, उन पापियों के लिए दण्ड, जिनको उसने जन्म दिया और जो उसकी इच्छा से ही पाप करते हैं, की भी सृष्टि करता है, उस ईश्वर को खींचना तथा इस सुखान्त नाटक को प्रफुल्ल जगत् की आँखों में सदा–सर्वदा बनाए रखना आदर्शवादी सिद्धान्त का एक आवश्यक कदम है। लेकिन विज्ञान के दृष्टिकोण से इसका आशय इस सिद्धान्त को निरर्यकता की सीमा में पहुंचा देना है।

दूसरे शब्दों में, समाज–विज्ञानों में भी भौतिकवादी दृष्टिकोण ही ठीक है।

ग. गत्यात्मक दृष्टिकोण और प्रघटनाओं के बीच सम्बन्ध

प्रकृति और समाज से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु के समझने की दो सम्भव विधियाँ हैं; कुछ लोगों की दृष्टि में प्रत्येक वस्तु निरन्तर स्थिर और अचल है। वस्तुएँ इसी प्रकार सदा से थीं और सदा रहेंगी; ''सूर्य के नीचे कुछ नया नहीं है। इसके विपरीत अन्य लोगों को यह प्रतीत होता है कि प्रकृति या समाज में कोई चीज अपरिवर्तनशील नहीं है;'' समस्त पृथ्वी की चीजें गुजर चुकी हैं; अतीत की ओर लौटा नहीं जा सकता है। यह दूसरा दृष्टिकोण गत्यात्मक दृष्टिकोण कहलाता है; पहला दृष्टिकोण अगत्यात्मक या स्थिर दृष्टिकोण कहलाता है। इन दोनों में से ठीक कौन है? क्या जगत् अगतिशील या स्थायी वस्तु है? क्या यह निरन्तर परिवर्तनशील, निरन्तर गतिशील तथा कल से आज भिन्न है? प्रकृति पर एक साधारण दृष्टिपात से ज्ञात होता है कि इसमें अपरिवर्तनशीलता या स्थिरता नहीं है, पहले लोग यह मानते थे कि आकाश में गड़ी हुई सोने की कीलों की तरह चंद्रमा और नक्षत्र गतिहीन हैं। लेकिन अब हम जानते हैं कि नक्षत्र तथा चन्द्रमा और धरती चल रहे हैं तथा बहुत अधिक दूरी को पार करते हैं। हम यह भी जानते हैं कि पदार्थ के लघुतम अणु–परमाणुओं में भी और लघुत्तर कण होते हैं जिन्हें इलेक्ट्रान कहते हैं जो परमाणु के अन्दर और चारों ओर उसी प्रकार घूमा करते हैं, जैसे सौरमंडल के नक्षत्र सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करते हैं। संपूर्ण जगत् इसी प्रकार के कणों से बना है। ऐसी स्थिति में ब्रह्माण्ड की किसी भी वस्तु को स्थिर कैसे माना जाये, जब उसके अंग वात्याचक्र की गति से परिभ्रमण करते हैं! प्हले यह भी विश्वास किया जाता था कि वृक्ष और प्शु वैसे ही हैं, जैसा उन्हें ईश्वर ने बनाया है। गधा और हींग, खटमल और कोढ़ के कीटाणु, अमरबेल और हाथी, ये सब ईश्वर द्वारा सृष्टि के पहले दिन अपने वर्तमान रूप में बनाये गये थे। हम जानते हैं कि ऐसी बात नहीं है। पशुओं और वृक्षों का आकार वैसा नहीं है, जैसा कि उन्हें ईश्वर ने पहले दिन बनाना चाहा था। जो पशु और वृक्ष आदि पृथ्वी पर हैं, वे पहले के पशुओं और वृक्षों से पूर्णतया भिन्न हैं। पुरातत्व की खोजों से पता चला है कि सुदूर अतीत में बहुत बड़े प्शु और वृक्ष थे जिनके कंकाल और अवशेष नीचे दबी हुई चट्टानों में या बर्फ में दबे मिले हैं। ये विशालकाय जीव और वृक्ष किसी समय थे, किन्तु आज उनका लोप

हो गया है। लेकिन उस समय गायें, भेड़ें, देवदारु या भोजवृक्ष आदि नहीं थे। एक शब्द में, हमारे इस पृथ्वी मण्डल में सभी चीजें परिवर्तनशील हैं। इतना ही नहीं, पहले मनुष्य नहीं थे; क्योंकि मनुष्य तो बहुत बाद में वनमानुषों से एक दीर्घ अवधि में विकसित हुआ है। हम लोग स्वयं इस क्षेत्र में सर्वशक्तिमान ईश्वर को हटा सकते हैं : किसी भी बतखों के झुण्ड में समुचित भोजन तथा समुचित नर और मादा के मिलान से एक नई प्रकार की प्रजाति को उत्पन्न किया जा सकता है। इसी प्रकार फलों, फूलों, घरेलू पशुओं और पेड़ पौधों में भी मानवीय प्रयत्न से अनेक प्रकार के परिवर्तन किये जा सकते हैं और किये जाते हैं। क्या इसका यह निष्कर्ष नहीं है कि मनुष्य स्वयं परिवर्तन का स्रोत है?

इसका यह निष्कर्ष है कि ब्रह्माण्ड में कोई भी वस्तु अपरिवर्तनशील और स्थिर नहीं है— हम स्थिर या जड़ वस्तुओं पर विचार नहीं करते, अपितु प्रक्रियाओं का विवेचन करते हैं। जिस मेज पर हम इस क्षण लिख रहे हैं उसे अपरिवर्तनशील नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह प्रति पल परिवर्तित ही रही है। यद्यपि उन परिवर्तनों को मानवीय दृष्टि ग्रहण करने में अक्षम है; लेकिन यदि मेज अनेक वर्षों खड़ी रहे, तो नष्ट हो जाएगी और मिट्टी के रूप में परिवर्तित हो जाएगी। जो कुछ पहले ही चुका है यह उसी की पुनरावृत्ति मात्र है। मेज के कणों का लोप नहीं होगा, बल्कि वे दूसरा रूप या आकार धारण कर लेंगे; हवा द्वारा उड़ कर के मिट्टी का एक अंश बन जायेंगे और पेड़ों के भोजन का काम देंगे; और इस प्रकार वृक्षों के तन्तुओं के रूप में रूपान्तरित हो जाएँगे। अतः हम कह सकते हैं कि प्रत्येक वस्तु निरन्तर परिवर्तित होती रहती है, सतत यात्रा की स्थिति में रहती है, और अबाध रूप से नए आकारों को ग्रहण करती रहती है। यह संसार गतिशील पदार्थ से बना है, अतः इसकी किसी प्रघटना के अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि इसकी उद्भव की प्रक्रिया, इसके उद्विकास और इसके विनाश का अध्ययन किया जाये। एक शब्द में इसकी दिखाई पड़ने वाली स्थिर या विश्राम की अवस्था का नहीं अपितु इसकी गति का अध्ययन होना चाहिए। यह गत्यात्मक दृष्टिकोण भी कहलाता है।

संसार निरन्तर गतिशील है। हमें प्रघटनाओं का विवेचन उनके पारस्परिक सम्बन्धों के संदर्भ में करना चाहिए, न कि उनको एक दूसरे से पृथक् कर के। इस विश्व के समस्त अंश एक दूसरे से वास्तविक रूप में सम्बन्धित हैं और एक दूसरे को परस्पर प्रभावित करते रहते हैं;

एक स्थान में होने वाली किंचित गति, किंचित परिवर्तन से अन्य स्थानों में परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है। यह परिवर्तन साधारण हो या असाधारण लेकिन परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए वोल्गा नदी के किनारे के जंगलों को मनुष्यों ने काट डाला; परिणामस्वरूप पृथ्वी कम पानी को रोक पाती है, जिसके फलस्वरूप जलवायु में एक आंशिक परिवर्तन हुआ; वोल्गा में पानी कम रह जाता है जिससे जलयानों का चलना कठिन हो जाता है, अतः नदी को गहरा करने की मशीनरी की आवश्यकता होती है; ऐसे यन्त्रों के उत्पादन में अधिक आदमी लगाए जाते हैं; दूसरी ओर जंगलों की सफाई करने से जंगलों में रहने वाले जानवरों का लोप हो जाता है, नए प्रकार के जानवर जो पहले वहाँ नहीं रहते थे रहने लगते हैं, पहले के जानवर या तो मर गए या दूसरे जंगलों में चले गए; आदि। हम इसके आगे यह भी कह सकते हैं कि जलवायु में परिवर्तन से पूरे पृथ्वी–मंडल की परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया है, और इसलिए वोल्गा की जलवायु में परिवर्तन होने से किसी सीमा तक संपूर्ण ब्रह्माण्ड की जलवायु में परिवर्तन होता है। यदि विश्व का मानचित्र थोड़ा भी परिवर्तित होता है, तो हमें यह मानना चाहिए कि पृथ्वी और सूर्य या चन्द्र आदि के पारस्परिक सम्बन्धों में भी कुछ परिवर्तन होता है। मैं अभी कलम से कागज पर लिख रहा हूँ, जिससे मेज पर कुछ दबाव पड़ रहा है, मेज का दबाव पृथ्वी पर पड़ रहा है जिससे आगे अनेक परिवर्तन हो रहे हैं। मैं अपना हाथ बढ़ाता हूँ, श्वांस लेकर के वायु में तरंगे उत्पन्न करता हूँ और ये सब गतियाँ अत्यन्त साधारण परिवर्तन उत्पन्न करती है। लेकिन इन परिवर्तनों की श्रृंखला का अंत कहाँ होता है, कोई नहीं जानता। यह तथ्य अवश्य है कि ये अत्यन्त साधारण परिवर्तन हैं, जो पदार्थ की मूलभूत प्रकृति में परिवर्तन नहीं करते हैं। ब्रह्माण्ड की समस्त वस्तुयें अविच्छेद्य बंधनों से परस्पर सम्बन्धित हैं; किसी का अस्तित्व पूर्ण पृथक् और उसके पर्यावरण से स्वतंत्र नहीं है।

वास्तव में, हम प्रति क्षण विश्व की प्रघटनाओं की ओर ध्यान नहीं दे सकते हैं। उदाहरण के लिये, मुर्गी–पालन का कार्य अनेक बातों से सम्बन्धित अवश्य है, लेकिन प्रति क्षण उस पर विचार करना उचित नहीं है। किन्तु सैद्धान्तिक प्रश्नों के विवेचन में हमें समस्त घटनाओं के सार्वभौम सम्बन्ध को ध्यान में रखना आवश्यक है, और व्यावहारिक दृष्टि से भी सदा इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। हम प्रायः कहा करते हैं कि अमुक मनुष्य अपनी

नाक से अधिक आगे नहीं देख सकता है जिसका आशय यह है कि वह मनुष्य अपने पर्यावरण को विच्छिन्न समझता है, अर्थात्, उसके पर्यावरण से परे जो कुछ है उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार एक किसान अपनी उपज बाजार में लाता है और सोचता है कि उससे पर्याप्त लाभ होगा। लेकिन बाजार में अचानक भाव बहुत नीचे गिर जाता है और उसे अपनी लागत निकालना कठिन हो जाता है, यहाँ किसान बाजार के द्वारा अन्य किसानों से बँधा हुआ है। वह समझ लेता है कि गल्ला अधिक पैदा हुआ है और बाजार में भर गया है। इससे केवल कम कीमत पाई जा सकती है। किसान ऐसी गलती कैसे कर सकता है? केवल इसलिये कि वह अपने को विश्व के बाजार से सम्बन्धित नहीं देखता। पूंजीपति युद्ध के बाद बहुत सम्पन्न हो रहे थे। लेकिन उन्हें सैनिकों की क्रान्ति का सामना करना पड़ा, क्योंकि यह युद्ध अन्य अनेक बातों से सम्बन्धित था, जिन्हें पूंजीपति नहीं समझ पाए थे। सब देशों के मैन्सेविकों और सामाजिक क्रान्तिकारियों, सामाजिक देशभक्तों ने यह घोषित किया कि बोल्शेविक सत्ता रूस में अधिक दिनों तक नहीं टिक पाएगी। उनकी इस घोषणा में आधारभूत गलती यह थी कि वे रूस को पूर्णरूप से विच्छिन्न करके देखते थे; वे उसका सम्बन्ध पश्चिमी योरोप से बिल्कुल नहीं मान रहे थे। अतः वे उसे विश्व–क्रान्ति से बिल्कुल सम्बन्धित नहीं समझते थे। ऐसी स्थिति में हम ठीक ही कहते हैं कि समस्त परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए विचार करना चाहिए, तथा समस्त परिस्थितियों से इसकी अविच्छिन्नता को दृष्टि में रखना चाहिए।

घ. समाज–विज्ञानों की ऐतिहासिक व्याख्या

अतः व्याख्या की द्वन्द्वात्मक विधि सबसे पहले यह मांग करती है कि समस्त प्रघटनाओं पर उनके अविच्छेद्य सम्बन्धों के संदर्भ में विचार किया जाए, और दूसरी मांग यह है कि इनको गत्यात्मक अवस्था में समझा जाए।

चूँकि विश्व की प्रत्येक वस्तु परिवर्तन की अवस्था में है, तथा अन्य समस्त वस्तुओं से अविच्छेद्य रूप से सम्बन्धित है, अतः हमें समाज–विज्ञानों के लिए आवश्यक निष्कर्ष निकालने चाहिये।

एक ऐसे मानव–समाज पर विचार करिए, जो किसी भी अवस्था में सदा एकसा नहीं रहा है। मानव–समाज के विभिन्न रूप हमें ज्ञात हैं। उदाहरण के लिए, रूस में नवम्बर सन् 1917 से किसानों के एक भाग द्वारा समर्थन प्राप्त करके श्रमिक–वर्ग ने शासन–सत्ता अपने हाथ में ले ली है, तब से पूंजीवाद पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया गया है। श्रमिकों के संगठन फैक्टरियों, मशीनों और रेलमार्गों पर नियंत्रण रखते हैं। सन् 1917 के पहले पूंजीपति और भू–स्वामी पूर्ण सत्तारूढ़ थे और प्रत्येक वस्तु को नियंत्रित करते थे; श्रमिक और किसान उन्हीं के लिए कार्य करते थे। इससे कुछ और पहले सन् 1861 में जब किसानों की मुक्ति नहीं हुई थी, तो शोषक–वर्ग ही अधिकांशतः व्यापारी–वर्ग था; बहुत थोड़ी फैक्टरियाँ थीं; भू–स्वामी किसानों को पशुओं की तरह नियंत्रित रखते थे, वे उनको बेच सकते थे, मार सकते थे या बदल सकते थे। यदि हम निकट शताब्दियों पर दृष्टिपात करें, तो हम अनेक अर्द्ध जंगली घुमक्कड़ पायेंगे। उन विभिन्न प्रकार के समाजों में इतनी कम समानता है कि यदि हम किसी चमत्कार के द्वारा किसी रोबीले सामन्ती भूस्वामी को पुनः जीवित कर सकें, और उसे किसी कारखाने की सभा या श्रमिकों की समिति में कोड़ों से मारें, तो सम्भवतः उसकी तुरंत ही हृदयगति रुकने से मृत्यु हो जायेगी।

हम अन्य प्रकार के समाजों से भी परिचित हैं। उदाहरण के लिए, प्राचीन ग्रीस में जब प्लेटो और हीराक्लीटस अपने दर्शनों का निर्माण कर रहे थे, तब प्रत्येक वस्तु का निर्माण उन गुलामों के श्रम से हुआ था, जो गुलामों के स्वामियों की सम्पत्ति थे। प्राचीन अमेरिकन राज्य इन्काज़ में धर्माचार्यों का एक वर्ग था, जो इस प्रकार से बौद्धिक वर्ग के रूप में प्रतिष्ठित था, जिसका वहाँ के विनियमित और संगठित समाज में प्रभुत्व था। यही वर्ग प्रत्येक बात की व्यवस्था और प्रत्येक बात का नियंत्रण करता था, तथा राष्ट्रीय अर्थ–व्यवस्था का निर्देशन करता था। यह शासक–वर्ग अन्य सब वर्गों से श्रेष्ठतर था। हम सामाजिक संरचना की निरंतर परिवर्तनशीलता के अन्य अनेक उदाहरण दे सकते हैं। इसका आशय यह भी नहीं है कि मानव–प्रजाति निरंतर सुधार की ओर अग्रसर हुई है, या, शनैः–शनैः परिपूर्णता को पहुँची है। हमने पहले ही संकेत किया है कि अत्यधिक विकसित मानव–समाजों के विनाश के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं; जैसे ग्रीक महात्माओं और गुलामों के स्वामियों का समय अब नहीं रहा,

लेकिन ग्रीस और रोम के परवर्ती इतिहास का प्रचुर प्रभाव अवश्य था, उन्होंने इतिहास के एक उर्वरक के रूप में कार्य किया। लेकिन कभी–कभी ऐसा हुआ कि संपूर्ण सभ्यता बिना अन्य लोगों पर और अन्य कालों पर प्रभाव डाले ही विलुप्त हो गई है। उदाहरण के लिए, प्रो0 इडवर्ड मियर ने फ्रांस में उत्खनन द्वारा खोजी गईं एक प्राचीन सभ्यता के प्रमाणों के सम्बन्ध में लिखा है, ''हम यहाँ पर आदिम मनुष्यों की उच्चतर विकसित सभ्यता के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं, जो कालान्तर में एक असाधारण प्राकृतिक प्रकोप द्वारा नष्ट हो गई थी और जिसका भावी युगों पर कोई प्रभाव नहीं था। इस पाषाण कालीन संस्कृति तथा नवपाषाण कालीन युग के प्रारम्भ में कोई ऐतिहासिक सम्बन्ध नहीं है।'' लेकिन जब हम सदा विकास और वृद्धि की नहीं देख सकते हैं, तो वहाँ सदा गति और परिवर्तन है; यद्यपि इसका अन्त विनाश में हो सकता है। इस प्रकार की गति का पर्यवेक्षण केवल इस तथ्य में नहीं है कि सामाजिक व्यवस्था परिवर्तन की प्रक्रिया में है; क्योंकि सामाजिक जीवन अपनी यथास्थिति में, अपनी समस्त अभिव्यक्तियों में निश्चित रूप में निरंतर परिवर्तित हो रहा है। समाज की प्रौद्योगिकी परिवर्तित हो रही है; हमें केवल प्राचीन कालीन पत्थर की कुल्हाड़ियों और भालों के फलों की तुलना वाष्प के हथौड़ों से करनी है; रीतिरिवाज और प्रथायें परिवर्तित होती हैं : उदाहरण के लिए हम जानते हैं कि कुछ प्रजातियाँ युद्ध में बंदी लोगों को खाने में आनन्द का अनुभव करती हैं, यह कार्य फ्रांस का साम्राज्यवादी व्यक्ति आज नहीं करेगा (लेकिन उसका काला दस्ता होगा जो सभ्यता की सेवा की प्रक्रिया में मृत व्यक्तियों के कान काट देगा); कुछ जनजातियाँ अपने वृद्ध पुरुषों या जवान स्त्रियों को मार डालतीं थीं और इस प्रथा को अत्यधिक नैतिक और पवित्र मानतीं थीं। राजनैतिक व्यवस्था परिवर्तित हो रही है : हमने अपनी आँखों से देखा है कि किस प्रकार निरंकुश एकतंत्र ने लोकतंत्रात्मक गणराज्य और रूसी गणराज्य के समक्ष घुटने टेके; वैज्ञानिक दृष्टिकोण, धर्म, दैनिक जीवन तथा उनके पारस्परिक समस्त सम्बन्धों में परिवर्तन हो रहा है; यहाँ तक कि जिन चीजों को हम अत्यंत आवश्यक और आधारभूत मानते हैं वे सदा नहीं थीं। हमारे पास हमेशा साबुन, अखबार और कपड़े नहीं थे; हमारे पास राज्य, ईश्वर में विश्वास, पूँजी, आग्नेयास्त्र भी सदा नहीं थे। सौंदर्य और असौंदर्य की अवधारणा भी परिवर्तन का विषय रही है। पारिवारिक जीवन का रूप स्थायी नहीं है : हम बहुपत्नीत्व, बहुपतित्व, एक विवाह–प्रणाली तथा काम–स्वच्दंता के अस्तित्व से

परिचित हैं। दूसरे शब्दों में, प्रकृति की प्रत्येक अन्य वस्तु के साथ सामाजिक जीवन भी निरंतर परिवर्तित होता है।

अतः मानव–समाज अपने विकास या पतन में विभिन्न अवस्थाओं और विभिन्न स्वरूपों से होकर गुजरता है।

सबसे पहला निष्कर्ष यह निकलता है कि हमें समाज के प्रत्येक रूप का अनुसंधान और विवेचन उसकी अपनी विशिष्ट शब्दावली में करना चाहिये। हम एक ही पात्र में समस्त युगों, कालों और सामाजिक स्वरूपों को नहीं फेंक सकते हैं। हम सामंती, गुलामी और सर्वहारा–वर्ग के लोगों की सामाजिक व्यवस्था पर एक ही शीर्षक के अन्तर्गत विचार नहीं कर सकते हैं, तथा उनके भेद को नहीं पहचान सकते हैं। हम ग्रीक गुलामों के स्वामियों और रूस के सामंती भूस्वामियों तथा पूंजीवादी निर्माताओं के बीच के भेदों की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। गुलामी–प्रथा एक चीज है, इसकी अपनी विशेषताएँ हैं, इसका अपना एक विशेष विकास है; सामंतवाद दूसरी चीज है; पूंजीवाद तीसरी चीज है, आदि–आदि। साम्यवाद–भावी साम्यवाद–की भी अपनी विशिष्ट संरचना है। संधिकाल–सर्वहारा तानाशाही–के काल की भी विशिष्ट प्रणाली है। ऐसी प्रत्येक व्यवस्था या प्रणाली के अपने विशिष्ट गुण होते हैं, जिनके विशेष अध्ययन की आवश्यकता है। इसका आशय केवल यह है कि क्या हम परिवर्तन की प्रक्रिया को आत्मसात् कर सकते हैं? चूंकि प्रत्येक स्वरूप के अपने गुण होते हैं, इसलिए इसके विकास तथा गति के विशिष्ट नियम भी होने चाहिये। उदाहरण के लिए, ''कैपिटल'' में पूंजीवादी व्यवस्था के सम्बन्ध में मार्क्स कहता है कि उसके अध्ययन का मुख्य उद्देश्य पूंजीवादी समाज की गति के नियमों की खोज करना है। इस उद्देश्य के लिए मार्क्स को पूंजीवाद की समस्त विलक्षणताओं और इसके समस्त विशिष्ट गुणों की व्याख्याएँ करनी पड़ी थीं; केवल इसी प्रकार वह गति के नियमों की खोज कर सकता था; और बड़े उद्योगों द्वारा छोटे उद्योगों के हजम करने की अपरिहार्य प्रक्रिया, सर्वहारा–वर्ग के विकास, सर्वहारा और पूंजीवाद के संघर्ष, श्रमिक–वर्ग की क्रांति तथा सन्धि कालीन सर्वहारा–वर्ग की तानाशाही के सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर सका था। अधिकांश पूंजीवादी इतिहासकार इस प्रकार से आगे नहीं बढ़ते हैं। उनका प्राचीन काल के व्यापारियों और आज के पूंजीवादियों, ग्रीस और रोम के

परोपजीवी छोटे ठेकेदार सर्वहाराओं (Parasite Lumpen Proleteriat) तथा आज के सर्वहाराओं में भ्रम उत्पन्न करने की ओर झुकाव है। पूंजीवाद की नृशंस सत्ता तथा रोम में गुलामों के जागरण की निरर्थकता, जिससे आधुनिक युग के सर्वहारा–वर्ग के जागरण की निस्सारता सिद्ध होती है, के प्रदर्शन के प्रयास में यह भ्रम पूंजीवादियों के लिये लाभप्रद है। लेकिन रोमन सर्वहारा और आज के श्रमिक तथा रोमन व्यापारियों तथा आज के पूंजीवादियों में कोई समानता और समरूपता नहीं है। पहले जीवन का संपूर्ण ढांचा ही भिन्न था। अतः यह देखना बहुत सरल है कि तब परिवर्तन का मार्ग बिल्कुल भिन्न होना चाहिये। मार्क्स कहता है : ''प्रत्येक ऐतिहासिक युग के अपने नियम होते हैं। जब किसी समाज ने विकास के एक विशेष काल को समाप्त कर लिया है और एक अवस्था से दूसरी अवस्था को पहुँच रहा है, तो यह भिन्न प्रकार के नियमों द्वारा परिचालित होना प्रारम्भ कर देता है।'' चूंकि समाजशास्त्र अत्यधिक सामान्य स्वरूप का विज्ञान है, इसलिए यह समाज के एकल स्वरूपों पर विचार न करके समाज के सामान्य रूप पर विचार करता है। यह नियम विशिष्ट समाज–विज्ञानों के पथ प्रदर्शन के लिए या निर्देशन के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इन सबके लिए समाजशास्त्र एक विधि का निर्माण करता है।

दूसरे, प्रत्येक स्वरूप का अध्ययन उसकी परिवर्तन–प्रक्रिया को आंतरिक प्रक्रिया के संदर्भ में करना चाहिए। पहले हम सामाजिक संरचना के ऐसे एकल स्वरूप पर विचार नहीं कर रहे हैं जो परिपूर्ण अपरिवर्तनीय है तथा जिसका समान रूप से अपरिवर्तनीय स्वरूप इसका स्थान लेता है। किसी समाज के सम्बन्ध में यह कहना ठीक नहीं है कि उसमें पूंजीवाद अपने सम्पूर्ण काल में अपरिवर्तित रूप में बना रहता है, तथा उसके उपरान्त उसके स्थान में समान रूप से अपरिवर्तनशील समाजवाद आता है। वास्तव में, प्रत्येक विशिष्ट स्वरूप अपने अस्तित्व की संपूर्ण अवधि में निरंतर परिवर्तित होता रहता है; यह अपने विकास में अनेक अवस्थाओं से होकर गुजरा है : व्यापारिक पूंजीवाद, औद्योगिक पूंजीवाद और आर्थिक पूंजीवाद (अपनी साम्राज्यवादी नीति के साथ) प्रथम विश्व युद्ध के काल में राज्य पूंजीवाद हुआ। इनमें से प्रत्येक अवस्था में पूंजीवाद की प्रकृति एक ही प्रकार की नहीं बनी रहती है। यदि ऐसा होता, तो एक अवस्था को दूसरी अवस्था का स्थान लेना असम्भव हो जाता। वास्तव में प्रत्येक

पूर्ववर्ती अवस्था आगामी अवस्था के लिए एक तैयारी थी; औद्योगिक पूंजीवाद के काल में पूंजी के संचयन की प्रक्रिया चल रही थी। इस आधार पर ट्रस्टों और बैंकों के साथ आर्थिक पूंजी का निर्माण हुआ था।

तीसरे, समाज के प्रत्येक स्वरूप का इसके विकास और आवश्यक विलयन के संदर्भ में अध्ययन करना चाहिये, अर्थात्, अन्य स्वरूपों को दृष्टि रखते हुए इसका अध्ययन करना चाहिए। समाज का कोई स्वरूप स्वर्ग से नहीं उतरता। प्रत्येक अपनी पूर्ववर्ती सामाजिक अवस्था का आवश्यक परिणााम है। प्रायः उनकी सीमा रेखाओं, एक के प्रारम्भ होने और दूसरे के समाप्त होने की स्थिति, को पृथक् करना कठिन होता है; क्योंकि एक काल दूसरे काल को आच्छादित करता रहता है। भौतिक वस्तुओं की तरह ऐतिहासिक युग सुदृढ़ और अविचल इकाइयां नहीं हैं अपितु वे प्रक्रियायें है, जीवन के प्रवाहमान स्वरूप हैं जो सतत परिवर्तनशील हैं। समाज के ऐसे किसी स्वरूप के समुचित अनुशीलन के लिये हमें इसकी अतीत में फैली हुई जड़ों तक पहुंचना चाहिए, निर्माण की समस्त परिस्थितियों की ओर ध्यान देना चाहिए तथा इसके विकास की समस्त प्रेरक शक्तियों का बोध करना चाहिये। हमें इसके अपरिहार्य विनाश के कारणों तथा उन प्रवृत्तियों का अनिवार्य रूप से अध्ययन करना चाहिए जो उसके इस स्वरूप के विलयन के लिए आवश्यक रूप से उत्तरदायी हैं तथा जो दूसरे स्वरूप के प्रांगण के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार प्रत्येक अवस्था श्रृंखला में एक कड़ी की तरह है। जहाँ तक अतीत का सम्बन्ध है, पूंजीवादी विद्वान इस तथ्य को स्वीकार कर सकते हैं, लेकिन वर्तमान के सम्बन्ध में वे उसे नहीं स्वीकार करेंगे। वे यह नहीं मानेंगे कि पूंजीवाद का विनाश होगा। वे पूंजीवाद के मूल तक पहुँचने के लिए तो इच्छुक हैं, लेकिन उन परिस्थितियों के बारे में सोचने में घबड़ाते हैं जो पूंजीवाद को विनाश की ओर अग्रसर करती हैं। यह अन्धापन ही उन वर्तमान अर्थशास्त्रियों की सम्पूर्ण विद्वत्ता का निर्माण करता है, जो वर्तमान सामाजिक सम्बन्धों के स्थायित्व और सामंजस्य की शिक्षा देते हैं। पूँजीवाद मध्यकालीन सामन्ती परिस्थितियों से उद्‌भूत हुआ था, पूँजीवाद सर्वहारावर्ग की तानाशाही से साम्यवाद की ओर जा रहा है। पूँजीवाद का पूरवर्ती व्यवस्था से सम्बन्ध खोज करके तथा साम्यवाद में इसके आवश्यक रूपान्तरण को समझ करके ही हम समाज के इस स्वरूप से अवगत हो सकते हैं।

समाज के प्रत्येक स्वरूप का इसी दृष्टिकोण से अनुशीलन होना चाहिए; यह द्वन्द्वात्मक विधि की मांगों में से एक है जिसे ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी कहा जा सकता है; क्योंकि यह समाज के प्रत्येक स्वरूप को स्थायी न मान करके एक ऐसी ऐतिहासिक अवस्था मानता है, जो इतिहास में एक निश्चित समय में उदय होती है और इसी प्रकार अस्त हो जाती है।

ङ. ऐतिहासिक प्रक्रिया में विरोधों का उपयोग

अतः समस्त वस्तुओं का आधार है परिवर्तन का नियम, सतत् गति का नियम विशेषतः दो दार्शनिकों (प्राचीन कालीन हीराक्लीटस और आधुनिक कालीन हीगेल) ने इस परिवर्तन के नियम का सूत्रीकरण किया, लेकिन वे यहीं नहीं रुक गए। उन्होंने उस विधि के प्रश्न का भी निर्माण किया जिसके द्वारा प्रक्रिया क्रियाशील होती है। इसका उत्तर उन्होंने यह खोजा था कि परिवर्तन सतत् आन्तरिक विरोधों और आंतरिक संघर्षों द्वारा उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार हीराक्लीटस ने घोषित किया : ''संघर्ष समस्त घटनाओं का जनक है'', जबकि हीगेल ने कहा : ''विरोध ही वह शक्ति है जो समस्त वस्तुओं को परिचालित करती है।''

इस नियम की शुद्धता के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं है। क्षणभर का चिन्तन ही पाठक को विश्वस्त कर देगा; क्योंकि यदि शक्तियों में कोई संघर्ष न होता तो यह जगत अपरिवर्तन और स्थायी संतुलन की अवस्था में होता, पूर्ण और निरपेक्ष स्थायित्व होता, समस्त गतियों से हीन विश्राम की स्थिति होती। इस प्रकार की विश्राम की स्थिति ऐसी व्यवस्था में ही मानी जा सकती है जिसके अंग और शक्तियाँ इस प्रकार से सम्बन्धित हैं जिससे किसी प्रकार के संघर्ष के प्रवेश की सम्भावना न हो और पारस्परिक अंतरक्रियायें और अव्यवस्थायें न घटित हो सकें। जैसा कि हम पहले से जानते हैं कि समस्त वस्तुयें परिवर्तित होती हैं, समस्त वस्तुएँ एक द्रावण पात्र में होती हैं, तो यह निश्चित है कि विश्राम की इस निरपेक्ष स्थिति का अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता। अतः हमें ऐसी परिस्थिति का परित्याग करना चाहिए जिसमें परस्पर विरोधी और संघर्षशील शक्तियों के बीच विरोध नहीं है, जहां संतुलन भंग नहीं होता है बल्कि केवल एक निरपेक्ष स्थिरता है। आइये हम इस विषय पर विशेष स्थिति से विचार करें।

जीवशास्त्र में जब हम अनुकूलन की बात करते हैं, तो हमारा आशय यह होता है कि जब प्रक्रिया द्वारा एक वस्तु दूसरी वस्तु से सम्बंध स्थापित करती है तो वह दोनों के अस्तित्व को साथ–साथ बनाए रखने में समर्थ रहती है। एक पशु जो पर्यावरण से अनुकूलन कर चुका है ऐसा पशु है जो उस प्र्यावरण में अपने जीवन के साधनों को उपलब्ध कर सका है। इसके आसपास की वस्तुएँ इसके अनुकूल हैं, इसकी ऐसी विशेषताएँ हैं जो उसे आगे जीवित रहने के योग्य बनाती हैं। छछूंदर पृथ्वी के नीचे की परिस्थितियों में रहने योग्य अपना अनुकूलन कर चुकी है। मछली पानी के अंदर की परिस्थितियों के अनुसार अपने जीवन की रक्षा कर सकती है। यदि ये जीव अपने–अपने पर्यावरण से पृथक् कर दिए जाएँ तो इनका अस्तित्व अविलम्ब समाप्त हो जाएगा।

इसी प्रकार की प्रघटना तथाकथित अचेतन प्रकृति के सम्बंध में भी देखी जा सकती है : पृथ्वी सूर्य के ऊपर नहीं गिरती है बल्कि उसके चारों ओर बिना किसी दुर्घटना के घूमती है। सौर–प्रणाली तथा ब्रह्माण्ड के बीच का सम्बंध दोनों को साथ–साथ अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए सक्षम बनाता है। यह सम्बन्ध भी इसी प्रकार का है। बाद वाले उदाहरण के सम्बन्ध में हम अनुकूलन की बात प्रायः नहीं कहते हैं, अपितु हम विभिन्न ग्रहों या इन ग्रहों की प्रणालियों में संतुलन मानते हैं, यही बात हम समाज में भी देख सकते हैं। हम चाहें या न चाहें लेकिन समाज प्रकृति के अंतर्गत रहता है और इस प्रकार किसी न किसी रूप में प्रकृति के साथ संतुलन रखता है। यदि समाज जीवित रहने में सक्षम है तो इसके विभिन्न अंग एक दूसरे के साथ इस प्रकार अनुकूलित होते हैं कि उनका अस्तित्व साथ–साथ बना रहता है : पूंजीवाद, जिसमें पूँजीपति और श्रमिक दोनों सम्मिलित हैं, का अस्तित्व बहुत दीर्घकालीन है।

इन समस्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि हम एक प्रघटना पर विचार कर रहे हैं और वह है संतुलन की प्रघटना। यदि ऐसी स्थिति है तो फिर विरोध का कहाँ स्थान रह जाता है? इसमें संदेह नहीं है कि संघर्ष संतुलन का भंग होना है। यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रकृति और समाज में जिस प्रकार का संतुलन हम देखते हैं यह निरपेक्ष अपरिवर्तनीय संतुलन नहीं है, बल्कि परिवर्तन की अवस्था का संतुलन है जिसका आशय यह है कि संतुलन स्थापित हो

सकता है और नष्ट हो सकता है, नए आधार पर पुनः स्थापित हो सकता है तथा पुनः भंग हो सकता है।

दूसरे शब्दों में, जगत में ऐसी शक्तियाँ निहित हैं जो विभिन्न दिशाओं की ओर क्रियाशील हैं तथा परस्पर एक दूसरे का विरोध कर रही हैं। ये शक्तियाँ अपवाद की स्थिति में ही केवल एक क्षण के लिए संतुलित होती हैं तो उसी समय विश्राम की स्थिति होती है अर्थात् उनका वास्तविक संघर्ष रुकता है। लेकिन यदि हम इन शक्तियों में से किसी एक को परिवर्तित करें तो ''आंतरिक विरोध'' अविलम्ब प्रकट हो जायेगा, संतुलन भंग हो जायेगा और यदि नया संतुलन पुनः स्थापित किया जाता है तो यह नये आधार पर होगा अर्थात् शक्तियों के नये संयोग के आधार पर होगा। इसका निष्कर्ष यह है कि ''संघर्ष'', ''विरोध'' अर्थात् विभिन्न दिशाओं में क्रियाशील शक्तियों की प्रतिवादिता से व्यवस्था की गति निर्धारित होती है।

दूसरी ओर यहाँ हमारे पास प्रक्रिया का स्वरूप भी है : पहले, संतुलन की दशा आती है; और दूसरे, संतुलन के भंग होने की दशा आती है; और तीसरे, एक नए आधार पर संतुलन के पुनः प्रतिष्ठित होने की दशा आती है और तब इस कहानी की बार–बार पुनरावृत्ति होती है : नया संतुलन नई अवस्था के लिए पृथक् होने का बिन्दु है जिसके बाद दूसरी संतुलन की अवस्था आती है, आदि। यह क्रिया अनंत रूप से चला करती है। समग्र रूप से हम गति की उस प्रक्रिया पर विचार कर रहे हैं जो आंतरिक विरोधों के विकास पर आधारित है।

हीगेल ने गति की इस विशेषता का पर्यवेक्षण किया और उसे निम्नांकित रूप में अभिव्यक्त किया : उसने संतुलन की मूल अवस्था को वाद, संतुलन के भंग होने को प्रतिवाद और नए आधार पर संतुलन के पुनः स्थापित होने को समवाद कहा। समस्त वस्तुओं में वर्तमान गति की विशेषतायें इस त्रिसूत्र में अभिव्यक्त होती हैं जिसे वह द्वन्द्वात्मकता कहता है।

कोई वस्तु, एक पत्थर, एक जीवित प्राणी, एक मानव–समाज आदि एक ऐसी सम्पूर्ण इकाई के रूप में माने जा सकते हैं जिसके अंग (तत्व) परस्पर सम्बन्धित हैं; दूसरे शब्दों में इस संपूर्ण को एक व्यवस्था या प्रणाली माना जा सकता है और इस प्रकार की किसी प्रणाली का अस्तित्व शून्यमय नहीं होता; यह अन्य ऐसी प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा भिन्न होती है जिन्हें

इसके संदर्भ में प्र्यावरण कहा जा सकता है। जंगल के एक पेड़ के पर्यावरण में अन्य समस्त वृक्ष, सोते, पृथ्वी, झाड़ियाँ, घास आदि सब अपनी विशेषताओं सहित आते हैं। मनुष्य का पर्यावरण समाज है जिसमें वह रहता है। मानव समाज का पर्यावरण बाह्य प्रकृति है। पर्यावरण और प्रणाली में सतत् सम्बन्ध रहता है और प्रणाली को पर्यावरण और पर्यावरण को प्रणाली प्रभावित करते रहते हैं। हमें सबसे पहले इस आधारभूत प्रश्न की खोज करनी चाहिए कि पर्यावरण और प्रणाली के सम्बन्धों की प्रकृति क्या है; उन्हें कैसे परिभाषित किया जाए; उनके क्या स्वरूप हैं; उनकी प्रणाली के लिए उनकी क्या महत्ता है ? ऐसे सम्बन्ध तीन प्रकार के हो सकते हैं।

(1) स्थिर संतुलन :– यह उस समय उपस्थित होता है, जब पर्यावरण और प्रणाली की पारस्परिक क्रिया की परिणति अपरिवर्तित दशा में या उस प्रथम दशा के अवस्थित होने में होती है, जो पुनः अपनी मूल अवस्था में प्रतिष्ठित की जाती है। उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि हम ऐसे जीवों पर विचार करें, जो मरुस्थल में रह रहे हैं। यहाँ प्र्यावरण अपरिवर्तित रहता है। उस प्रकार के जानवरों के लिए उपलब्ध भोजन की मात्रा न तो घटती है और न बढ़ती है; उनका शिकार करने वाले जानवारों की संख्या भी समान बनी रहती है; समस्त रोगों, समस्त जीवाणुओं का अस्तित्व अपने मूल अनुपात में ही बना रहता है। ऐसी स्थिति में क्या परिणाम होगा? समग्र रूप से विचार करने पर जानवरों की संख्या वही बनी रहेगी। कुछ तो मर जायेंगे या अन्य जानवरों के शिकार में नष्ट हो जायेंगे तो अन्य जानवर पैदा भी होंगे; लेकिन जानवरों का यह प्रदत्त रूप और पर्यावरण की प्रदत्त दशाएं वही बनी रहेंगी, जो पहले थीं।

इसका आशय विश्राम की वह स्थिति है, जो प्रणाली जानवरों के प्रदत्त रूप और पर्यावरण के पारस्परिक सम्बन्ध के अपरिवर्तित होने के कारण उत्पन्न हुई है। स्थिर संतुलन में गति का सदा पूर्ण रूप से अभाव नहीं होता है; उसमें गति हो सकती है, लेकिन इसका परिणाम ऐसी अव्यवस्था हो सकता है जिसके बाद पहले के आधार पर पुनः संतुलन की स्थापना हो सकती है। पर्यावरण और प्रणाली के बीच का विरोध निरंतर उसी परिमाणात्मक सम्बन्ध में पुनरुत्पादित होता रहता है।

यही स्थिति रूढ़िवादी समाज में भी होती है। यदि प्रकृति और समाज का सम्बन्ध एक रूप रहता है, अर्थात्, यदि समाज उत्पादन की प्रक्रिया के द्वारा प्रकृति से उतनी शक्ति शोषण करता रहता है जितनी वह खपत कर सकता है, तो प्रकृति और समाज का विरोध पुनः अपने पूर्व रूप में ही पुनः उत्पन्न हो जाता है; समाज केवल समय काटेगा, तथा इसका परिणाम स्थिर संतुलन की अवस्था होता है।

(2) अनुकूल संकेतों से युक्त अस्थिर संतुलन (एक प्रसरणशील प्रणाली) – वास्तव में, स्थिर संतुलन का कोई अस्तित्व नहीं होता है। इसका निर्माण केवल कल्पना में होता है; कभी–कभी आदर्श उदाहरण की संज्ञा दी जाती है। वस्तुतः पर्यावरण और प्रणाली का सम्बन्ध सूक्ष्म रूप से एक ही अनुपात में कभी भी नहीं पुनरुत्पादित होता है; संतुलन की अवस्था कभी भी वास्तविक रूप में ठीक–ठीक उसी आधार पर पुनः प्रतिष्ठा के लिए अग्रसर नहीं करती है जो पहले था, बल्कि एक नए आधार पर एक नए संतुलन की सृष्टि होती है। उदाहरण के लिए ऊपर उल्लिखित जानवरों की अवस्था के सम्बन्ध में हम यह मान लें कि उनका शिकार करने वाले जानवरों की संख्या किसी कारण से घट जाती है और उपलब्ध भोजन बढ़ जाता है, तब इसमें कोई संदेह नहीं है कि इन जानवरों की संख्या में भी वृद्धि होगी; तब हमारी प्रणाली विकसित होगी; एक पहले से अच्छे आधार पर नए संतुलन की स्थापना होगी; इसका आशय उद्विकास है। दूसरे शब्दों में, पर्यावरण और प्रणाली का विरोध परिमाणात्मक रूप से भिन्न हो चुका है।

यदि हम इन जानवरों के स्थान पर विचार करें और यह मानें कि समाज और प्रकृति का सम्बन्ध इस प्रकार परिवर्तित होता है कि समाज जितनी शक्ति खपत करता है उससे अधिक शक्ति उत्पादन के द्वारा प्रकृति से खींचता है (या तो भूमि अधिक उपजाऊ हो जाती है अथवा नए औजार खोज लिए जाते हैं या दोनों बातें होती हैं), तो समाज का उद्विकास होगा, न कि केवल समय काटेगा। प्रत्येक अवस्था में समाज और प्रकृति के बीच का विरोध नए और ऐसे उच्चतर आधार पर पुनरुत्पादित होगा, जिससे समाज की वृद्धि होगी और उसका विकास होगा। यह अनुकूल संकेतों से युक्त अस्थिर संतुलन की एक स्थिति है।

(3) प्रतिकूल संकेतों से युक्त अस्थिर संतुलन (पतनशील प्रणाली) – आइये हम उस नए संतुलन का पूर्णरूप से भिन्न उदाहरण लें, जो निम्नस्तर आधार पर प्रतिष्ठित हुआ है। उदाहरण के लिए, हम कल्पना करें कि जानवरों के उपलब्ध भोजन की मात्रा में ह्रास हुआ है या शिकार हुए जानवरों की संख्या में वृद्धि हुई है। ऐसी स्थिति में समस्त जानवर मरकर समाप्त हो जायेंगे। प्रत्येक अवस्था में प्रणाली और पर्यावरण के बीच का संतुलन इस प्रणाली के एक अंश के विलयन या परिसमाप्ति के आधार पर स्थापित होगा। विरोध नकारात्मक संकेतों से युक्त नए आधार पर पुनः प्रतिष्ठित किया जायेगा। या समाज की स्थिति में हम यह मान लें कि समाज और प्रकृति के बीच का सम्बन्ध इस प्रकार से परिवर्तित किया गया है कि समाज अधिक–से–अधिक खपत करता है, और कम–से–कम प्राप्त करता है (जमीन की उर्वरा शक्ति क्षींण हो चुकी है, यान्त्रिक साधन अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध हो रहे हैं)। समाज के एक अंश के विनाश के कारण से यहाँ पर प्रत्येक अवस्था में निम्नस्तर आधार पर नया संतुलन स्थापित होगा। यहाँ हम अब पतनोन्मुख समाज पर विचार कर रहे हैं, विलीन होने जा रहे समाज का विवेचन कर रहे हैं; दूसरे शब्दों में, प्रतिकूल संकेतों से युक्त गति का विश्लेषण कर रहे हैं।

प्रत्येक विचारणीय स्थिति इन तीन शीर्षकों में से किसी एक के अंतर्गत आयेगी। जैसा कि हमने देखा है कि गति के आधार में पर्यावरण और प्रणाली के बीच एक वास्तविक विरोध है, जो निरंतर पुनः प्रतिष्ठित किया जा रहा है।

लेकिन इस विषय का एक दूसरा पक्ष भी है। अभी तक जो कुछ हमने कहा है, वह केवल पर्यावरण और प्रणाली के पारस्परिक विरोधों के सम्बन्ध में है, अर्थात्, बाह्य विरोधों के सम्बन्ध में है। लेकिन बाह्य विरोधों के अतिरिक्त आंतरिक विरोध भी होते हैं, जो उस प्रणाली के अंतर्गत होते हैं। प्रत्येक प्रणाली में इसके संघटक भाग (तत्त्व) होते हैं, जो किसी–न–किसी रूप में एक दूसरे के साथ संग्रथित होते हैं। मानव–समाज में मनुष्य; जंगल; पेड़; हैं। इनमें परस्पर अनेक विरोध, अन्तर, अपूर्ण अनुकूलन आदि होते हैं। दूसरे शब्दों में, यहाँ भी कोई परिपूर्ण संतुलन नहीं होता है। यदि पर्यावरण और प्रणाली में कोई परिपूर्ण संतुलन नहीं हो सकता है, तो स्वयं प्रणाली के तत्त्वों में भी कोई ऐसा संतुलन नहीं हो सकता है।

इसका स्पष्टीकरण सर्वाधिक जटिल प्रणाली, मानव–समाज, के देखने से हो सकता है। यहाँ हमें असंख्य विरोधों का सामना करना पड़ता है; हम वर्गों के बीच संघर्ष पाते हैं, जो सामाजिक विरोधों या विसंवादों की प्रखरतम अभिव्यक्ति है, और हम जानते हैं कि वर्गों का संघर्ष ''इतिहास की प्रेरक शक्ति है।'' वर्गों का संघर्ष, समूहों का संघर्ष, आदर्शों का संघर्ष, व्यक्तियों द्वारा किए गए श्रम की मात्रा और इनमें वितरित की गई वस्तुओं की मात्रा का अनुचित अनुपात, उत्पादन में, योजना–हीनता (उत्पादन में पूँजीवादी अराजकता) ये सब मिलकर विरोधों या विसंवादों की अनन्त श्रृंखला का निर्माण करते हैं, तथा ये सब प्रणाली के अन्तर्गत ही होते हैं तथा इसकी विसंवाद संरचना (या संरचनात्मक विरोध) से ही उत्पन्न होते हैं, लेकिन ये विसंवाद स्वयं समाज का विनाश नहीं करते हैं। ये इसका विनाश कर सकते हैं (उदाहरण के लिए, यदि परस्पर विरोधी वर्ग गृह–युद्ध में एक दूसरे को समाप्त कर दें), लेकिन यह भी संभव है कि वे कभी–कभी विनाश न भी कर सकें।

बाद की स्थिति में समाज के विभिन्न तत्त्वों में परस्पर अस्थिर संतुलन होगा। आगे चलकर हम इस संतुलन की प्रकृति पर विचार करेंगे; यहाँ पर अभी हमें इस पर विशेष विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन हमें उन अधिकांश पूँजीवादी विद्वानों की तरह समाज को मूर्खतापूर्ण रीति से नहीं समझना चाहिये जो इसके आंतरिक विरोधों पर दृष्टिपात नहीं करते। इसके विपरीत समाज के एक वैज्ञानिक विवेचन के लिए यह आवश्यक होता है कि हम स्वयं समाज में सन्निहित विरोधों को दृष्टि में रखते हुए इस पर विचार करें। ऐतिहासिक उद्विकास विरोधों का विकास है।

हमें पुनः इस तथ्य की ओर संकेत करना चाहिए जिस पर हमें इस पुस्तक में एक से अधिक बार विचार करना होगा। हमने कहा है कि विरोध दो प्रकार के होते हैं : पर्यावरण और इस प्रणाली में तथा प्रणाली के तत्त्वों और स्वयं प्रणाली में। क्या इन दो प्रघटनाओं में कोई सम्बन्ध है ? एक क्षण ही विचार करने पर यह ज्ञात हो जायेगा कि इस प्रकार के सम्बन्ध का अस्तित्व होता है। यह पूर्णतया स्पष्ट है कि प्रणाली की आंतरिक संरचना प्रणाली और इसके पर्यावरण के बीच वर्तमान सम्बन्ध के साथ–साथ परिवर्तित होनी चाहिए। यह बाद का सम्बन्ध

निर्णायक कारक है; क्योंकि प्रणाली की सम्पूर्ण स्थिति तथा इसकी गति (पतन, सम्पन्नता और जड़ता) आधारभूत रूप में केवल इस सम्बन्ध द्वारा ही निर्धारित होती है।

आइए हम इस प्रश्न पर निम्नांकित रूप में विचार करें : हम ऊपर देख चुके है कि समाज और प्रकृति के बीच के संतुलन की विशेषता समाज की गति के आधारभूत मार्ग को निर्धारित करती है। इन परिस्थितियों के अन्तर्गत क्या आंतरिक संरचना एक दीर्घ अवधि तक विरुद्ध दिशा में विकसित होती रह सकती है ? वास्तव में नहीं। विकासशील समाज की स्थिति में समाज की आंतरिक संरचना के पतन की ओर सतत् विकसित होते रहने की संभावना नहीं होगी। यदि उद्विकास की दशा में समाज की संरचना निकृष्टर हो जाये अर्थात्, इसकी आंतरिक अव्यवस्थायें और अधिक बुरी हो जायें, तो यह नए विरोध के उदय के समान होगा : बाह्य और अतिरिक संतुलन के बीच एक ऐसा विरोध होगा जिससे समाज के लिए यह आवश्यक होगा कि यदि इसको विकासशील बना रहना है, तो उसे पुनर्निर्माण को हाथ में लेना होगा, अर्थात्, इसकी आंतरिक संरचना को अपने बाह्य संतुलन के लक्ष्यों के अनुरूप अनुकूलन करना चाहिए। फलतः आंतरिक (संरचनात्मक) संतुलन एक मात्रा है जो बाह्य संतुलन पर आधारित है, अर्थात् इस बाह्य संतुलन का एक ''कार्य'' है।

च. क्रांतिकारी परिवर्तनों का सिद्धांत और समाज विज्ञानों में क्रांतिकारी रूपान्तरणों का सिद्धांत

अब हमें द्वंद्वात्मक विधि के अंतिम पक्ष, अर्थात्, आकस्मिक परिवर्तनों के सिद्धान्त पर विचार करना है। निःसंदेह, यह बहुप्रचलित धारणा है कि ''प्रकृति आकस्मिक छलांगें नहीं मारती है।'' यह चतुर कहावत क्रांतियों की अखंडनीय असम्भावना को व्यक्त करने के लिये प्रायः व्यवहार की जाती है, यद्यपि क्रान्तियाँ हमारे प्राध्यापक मित्रों के संशोधनों के बाद भी घटित होते रहने की अभ्यासी हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में प्रकृति इतनी उदार और सहिष्णु हैं जितनी कि वे मानते हैं ?

हीगेल अपने ''तर्क–विज्ञान'' में कहता है : यह कहा गया है कि प्रकृति में कोई आकस्मिक परिवर्तन नहीं होते हैं और सामान्य व्यक्ति की यह धारणा है कि जब हम उद्विकास या विनाश की चर्चा करते हैं, तो हम क्रमिक उद्विकास या विलयन की सदा कल्पना करते हैं।

हमने ऐसे उदाहरण भी देखे हैं जिनमें अस्तित्व के परिवर्तन से केवल एक अंश का रूपान्तरण केवल दूसरे में नहीं होता है, बल्कि आकस्मिक रूप से परिमाणात्मक रूप में भी रूपानान्तरण होता है, और दूसरी ओर, गुणात्मक भिन्न चीज का भी जन्म होता है; क्रमिक प्रक्रिया में बाधा पहुँचती है जो पूर्ववर्ती, पहली अवस्था से गुणात्मक, रीति से ही भिन्न होती है।

हीगेल मात्रा के गुण में रूपान्तरित होने की बात कहता है; इस प्रकार के रूपान्तरण का बड़ा सरल उदाहरण है। यदि हम पानी गरम करें, तो हम पाते हैं कि 100 डिग्री सेन्टीग्रेड के तापमान के पूर्व गरम करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया में पानी उबलेगा नहीं और वाष्प में रूपान्तरित नहीं होगा। जल के अंश तेजी से गतिवान होंगे, लेकिन वे पानी की सतह पर वाष्प के रूप में नहीं उठेंगे। इस प्रकार अब तक केवल परिमाणात्मक परिवर्तन हुआ; पानी तीव्रतर गति से चलता है, तापमान ऊंचा उठता है, लेकिन पानी अपनी समस्त विशेषताओं को रखते हुए पानी बना रहता है। इसकी मात्रा शनैः शनैः परिवर्तित हो रही है; लेकिन इसका गुण वही बना रहता है। किन्तु जब हम इसको 100 डिग्री सेन्टीग्रेड तक गरम करते हैं, तो हम इसे क्वथनांक तक ले आये हैं। अब यह तुरंत उबलने लगता है। इसके कण जो बड़ी बेचैनी से गति कर रहे थे पृथक्–पृथक् हो जाते हैं और पानी की सतह से भाप के रूप में ऊपर उठने लगते हैं। अब पानी पानी नहीं रहा है; यह वाष्प या गैस बन जाता है। उसके पहले के गुणों का लोप हो गया है, अब इसमें नए गुण है और नई विशेषतायें हैं। इस प्रकार हमने परिवर्तन की प्रक्रिया की दो महत्त्वपूर्ण विशेषतायें देखीं।

पहले तो गति की एक निश्चित अवस्था में पहुँच कर परिमाणात्मक परिवर्तन को लाते हैं (या अधिक संक्षेप में कहें तो मात्रा गुण बन जाती है); दूसरे यह मात्रा से गुण में रूपान्तरण आकस्मिक रूप से सम्पन्न होता है जो क्रमिक रूप से चल रही प्रक्रिया में एक बाधा का निर्माण करता है। पानी निरंतर एक समय में जल–वाष्प के रूप में परिवर्तित नहीं हो रहा था। बहुत देर तक यह बिल्कुल उबला ही नहीं; लेकिन क्वथनांक पर पहुँचने पर यह उबलने लगा। हमें इसे आकस्मिक परिवर्तन मानना चाहिये। मात्रा से गुण में रूपान्तरण पदार्थ की गति के आधारभूत नियमों में से एक है; इसका प्रकृति और समाज दोनों में अत्यन्त सूक्ष्म वर्णन हो सकता है। एक तार के सिरे में एक भार बांध दीजिये और धीरे–धीरे इसमें और भार बढ़ाते

जाइये। प्रत्येक भार उतना छोटा हो जितना आप चाहें। एक निश्चित सीमा तक तार भार को वहन करेगा; लेकिन जब इस सीमा का अतिक्रमण होगा तो यह आकस्मिक रूप से टूट जायेगा। एक ब्वायलर में वाष्प (स्टीम) भरना प्रारम्भ करिये। थोड़ी देर तक सब ठीक रहेगा, लेकिन बाद में ब्वायलर में लगी दबाव की घड़ी ब्वायलर की दीवालों में वाष्प के पड़ने वाले दबाव की ओर संकेत करेगी, जैसे ही सुई की नोक खतरे के निशान से आगे पहुँचेगी वैसे ही ब्वायलर फट जायगा; क्योंकि वाष्प का दबाव ब्वायलर की दीवालों की प्रतिरोध की शक्ति से अधिक था। इस क्षण के पूर्व परिमाणात्मक परिवर्तनों ने क्रांतिकारी या गुणात्मक परिवर्तनों की ओर अग्रसर नहीं किया। लेकिन जैसे ही वह क्षण या बिन्दु आया, तो ब्वायलर फट गया।

अनेक पुरुष एक पत्थर को उठाने में असमर्थ हैं। कुछ और पुरुष उनमें आकर मिल जाते हैं, लेकिन वे सब मिलकर भी असमर्थ रहते हैं। लेकिन एक निर्बल वृद्धा जब उनमें आकर मिल जाती है, तो उनकी सबकी मिली–जुली शक्ति पत्थर को उठाने में समर्थ हो जाती है। यहाँ पर केवल थोड़ी–सी अतिरिक्त शक्ति की आवश्यकात थी। जैसे ही यह थोड़ी–सी शक्ति उस काम में लगा दी गई, तो काम पूरा हो गया। आइए दूसरा उदाहरण लें। लियो टालस्टाय ने ''तीन रोल और एक कूकी'' कहानी लिखी। कहानी का सारांश इस प्रकार है : एक व्यक्ति ने अपनी भूख शांत करने के लिए एक के बाद दूसरा रोल (एक प्रकार का विस्कुट) खाया; प्रत्येक रोल ने उसकी भूख को शांत नहीं किया; वास्तव में तीसरा रोल खाने के बाद भी वह भूखा रहा; तब उसने थोड़ी–सी कूकी (माल पुआ) खाई और उसकी भूख शांत हो गई। अब उसने अपनी मूर्खता को कोसा कि उसने कूकी पहले क्यों नहीं खाई जिससे उसे रोल नहीं खाने पड़ते। वास्तव में हम उसकी भूल से परिचित हैं; हम यहाँ पर उस गुणात्मक परिवर्तन पर विचार कर रहे हैं, भूख के अनुभव की परितृप्ति के उस रूपान्तरण पर विचार कर हैं, जो (रूपान्तरण) एक बार में कूकी खाने के उपरांत सम्पन्न हुआ। यह गुणात्मक अंतर परिमाणात्मक अन्तरों के पश्चात् आया : बिना रोलों के खाए कूकी का कोई उपयोग नहीं होता।

इस प्रकार हम पाते हैं कि आकस्मिक परिवर्तनों से इन्कार करना और केवल इच्छित क्रमिक प्रक्रियाओं को स्वीकार करना मूर्खता है। प्रकृति में प्रायः आकस्मिक परिवर्तन देखे जाते

हैं। प्रकृति ऐसे आकस्मिक और हिंसक परिवर्तनों को अनुमति नहीं देती है– यह धारणा केवल समाज में इस प्रकार होने वाले आकस्मिक परिवर्तनों के प्रति भय की भावना प्रतिबिम्वित करती है। वास्तव में, आकस्मिक परिवर्तन की मान्यता लोगों के मन से सामाजिक क्रांति का भय उत्पन्न करती है।

पूंजीवादी विद्वानों द्वारा उद्विकास की विसंवादी या विरोधी प्रकृति से इंकार किये जाने का आधार उनके वर्ग–संघर्ष का भय तथा सामाजिक विसंवाद को छिपाने की भावना है। उनका आकस्मिक परिवर्तनों का भय उनके क्रांति के भय पर आधारित है; उनकी सम्पूर्ण योग्यता निम्नांकित तर्कों पर आश्रित है : प्रकृति में कोई हिंसक परिवर्तन नहीं होते हैं, इस प्रकार के हिंसक परिवर्तन कहीं नहीं हो सकते हैं; अतः ऐ सर्वहारा वर्ग के लोगों! तुम क्रान्ति करने का साहस न करो। लेकिन यहाँ यह असामान्य रूप से स्पष्ट हो जाता है कि पूंजीवाद विज्ञान की समस्त आधारभूत आवश्यकताओं का विरोधी है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि समाज में अनेक क्रांतियां हुई हैं। क्या कोई यह इंकार करेगा कि इंग्लैण्ड की क्रांति या फ्रांस की क्रांति या सन् 1848 की क्रांति या सन् 1917 की क्रांति नहीं हुई थी? यदि इस प्रकार के हिंसक परिवर्तन समाज में हुए हैं और आज भी हो रहे हैं; तो विज्ञान को उनसे इंकार नहीं करना चाहिए; तथ्यों को स्वीकार करने से पीछे नहीं हटना चाहिए, बल्कि इन आकस्मिक परिवर्तनों को समझना चाहिए, और उनकी व्याख्या करनी चाहिए।

समाज में क्रांतियाँ उसी प्रकार हैं, जिस प्रकार प्रकृति में हिंसक परिवर्तन। ये आकस्मिक रूप से ''आसमान से नहीं गिरती हैं।'' वे विकास की संपूर्ण पूर्ववर्ती अवधि में तैयार की जाती हैं, जैसे उबलता हुआ पानी गरम करने के पूर्व पूर्ववर्ती प्रक्रिया से तैयार किया जाता है, या जैसे स्टीम ब्वाइलर का विस्फोट उसकी दीवालों पर भाप के दबाव को बढ़ाने से किया जाता है। समाज में क्रांति का अर्थ इसका पुनर्निर्माण है, ''प्रणाली या व्यवस्था का संरचनात्मक रूपान्तरण'' है। इस प्रकार की क्रांति समाज की संरचना तथा इसकी विकास की मांगों में पारस्परिक विरोध का अपरिहार्य परिणाम है। हम इस प्रक्रिया की प्रकृति पर आगे चलकर विचार करेंगे। यहाँ पर हमें केवल निम्नांकित बात जानने की आवश्यकता है : प्रकृति की तरह ही समाज में भी हिंसक परिवर्तन होते हैं; प्रकृति की तरह ही समाज में आकस्मिक परिवर्तन

वस्तुओं की पूर्ववर्ती गतिविधियों द्वारा तैयार होते हैं; दूसरे शब्दों में, प्रकृति की तरह समाज में उद्विकास क्रमिक विकास क्रांति (आकस्मिक परिवर्तन की ओर अग्रसर करता है : ''हिंसक परिवर्तनों में पूर्ववर्ती उद्‌विकास पहले से ही निहित होता है और क्रमिक परिवर्तन आकस्मिक परिवर्तनों की ओर अग्रसर करते हैं। इस एकल प्रक्रिया में ये दो आवश्यक कारक हैं।''

4

समाज

क. समष्टि की अवधारणा; तार्किक और वास्तविक समष्टियाँ

हमें केवल ऐसी सरल वस्तुएँ ही नहीं मिलती हैं, जो हमें तुरन्त संघटक इकाइयों के रूप में प्रतीत होती हैं (उदाहरण के लिए कागज का एक टुकड़ा, गाय, जॉनस्मिथ), बल्कि हमें यौगिक इकाइयाँ और जटिल मात्रायें भी मिलती हैं। जब हम जनसंख्या की गतिविधि पर विचार करते हैं, तो हम कह सकते हैं : एक निश्चित अवधि में उत्पन्न लड़कों की संख्या में अमुक वृद्धि हुई है। तब हम इन ''लड़कों की संख्या'' को सम्पूर्ण मात्रा मानते हैं, जिसका विभिन्न इकाइयों से पृथक् अस्तित्व है और जो स्वयं में एक इकाई के रूप में मानी जाती है। हम जंगल, वर्ग, मनुष्य–समाज की भी बात करते हैं, और तुरन्त यह पाते हैं कि हम यौगिक मात्राओं पर विचार कर रहे हैं; हम इन मात्राओं को व्यक्तिगत मात्रा के रूप में मानते हैं, लेकिन साथ–ही–साथ हम यह भी जानते हैं कि इन समष्टियों के तत्त्व होते हैं, जो एक निश्चित सीमा तक स्वतंत्र होते हैं : जैसे जंगल में अनेक वृक्ष, झाड़ियाँ आदि हैं, वर्ग में अनेक व्यक्ति हैं। इस प्रकार की सम्मिश्र मात्राओं को समष्टि कहते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण से हम यह जान सकते हैं कि समष्टियाँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं : जब हम एक निश्चित वर्ष में उत्पन्न लड़कों के सम्बन्ध में कहते हैं, तथा जब हम नगर के जंगल से सम्बन्ध पर बात करते हैं, तो यह स्पष्ट है कि उन दोनों में अन्तर है। लड़कों की स्थिति में हम यह जानते हैं कि ये व्यक्ति या व्यष्टि जीवन में वास्तविक रूप में साथ–साथ नहीं पाए जाते हैं : एक एक स्थान में होता है दूसरा दूसरे में; किसी का दूसरे पर प्रभाव नहीं होता; प्रत्येक अपने लिए होता है। हम लोग ही उन्हें समष्टि का रूप दे देते हैं, यह मानसिक समष्टि या योग है, कागजी समष्टि है, न कि जीवन्त या वास्तविक समष्टि। इस प्रकार की कृत्रिम समष्टियों को हम काल्पनिक या तार्किक समष्टियाँ कह सकते हैं। जब हम समाज, वर्ग या जंगल के सम्बन्ध में कहते हैं तो स्थिति पूर्णतया भिन्न होती है; यहां संघटक तत्त्वों का सम्मिलन केवल मानसिक या तार्किक सम्मिलन ही नहीं है, क्योंकि हमारे समक्ष जंगल में

अनेक वृक्ष, झाड़ियां और घास आदि होते हैं जो निश्चित रूप में वास्तविक जीवंत सम्पूर्णताओं का निर्माण करते हैं। जंगल विभिन्न तत्त्वों का योगमात्र ही नहीं है। ये समस्त तत्त्व एक दूसरे पर निरंतर अंतरक्रिया करते रहते हैं, दूसरे शब्दों में, वे पारस्परिक सतत् अंतरक्रिया की स्थिति में हैं। कुछ वृक्षों को काट डालिये, तो संभवतः अन्य वृक्ष नमी की कमी के कारण नष्ट हो जाएंगे या अधिक धूप मिलने के कारण विकसित हो जाएंगे। यहाँ पर हम स्पष्ट रूप में जंगल का निर्माण करने वाले अंगों की अंतरक्रिया पर विचार कर रहे हैं। यहां पर अंतरक्रिया पूर्णरूप से वास्तविक है; उसका वास्तविक अस्तित्व है, न कि किसी–न–किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमारे द्वारा कल्पित है। इतना ही नहीं, यह दीर्घ अवधि से चलने वाली अबाध अन्तरक्रिया है; यह उस समय तक चलने वाली है, जब तक सम्पूर्ण का अस्तित्व बना रहता है। इस प्रकार की समष्टियों को वास्तविक समष्टियां कहते हैं।

ख. समाज एक वास्तविक समष्टि या प्रणाली

आइए अब हम इस दृष्टिकोण से समाज पर विचार करें। निःसंदेह समाज एक वास्तविक समष्टि का निर्माण करता है, क्योंकि इसके विभिन्न अंगों के बीच पारस्परिक अंतरक्रिया की सतत् अबाध प्रक्रिया चला करती है। स्मिथ बाजार गया; वहाँ उसने व्यापार किया, और बाजार के मूल्यनिर्धारण में अपना प्रभाव डाला जिसने विश्व के बाजार को प्रभावित किया, संभवतः बहुत ही अल्प अंश में, लेकिन फिर भी यह विश्व के मूल्यों पर एक प्रभाव था; विश्व मूल्य उस देश के बाजार को प्रभावित करते हैं जिसमें वह रहता है तथा जिस छोटे से बाजार में वह प्रायः जाता है; दूसरी ओर, मान लीजिए कि वह बाजार में एक मछली खरीदता है, यह उसके बजट पर प्रभाव डालेगी क्यों कि इसके कारण उसे अवशेष धन को एक निश्चित प्रकार से व्यय करना होगा, आदि–आदि। इस प्रकार से ऐसे छोटे–छोटे हजारों प्रभाव बताए जा सकते हैं। जान स्मिथ शादी करता है; इसके लिए उसने अनेक उपहार खरीदे हैं और इस प्रकार उसने अन्य लोगों पर आर्थिक प्रभाव डाला है। एक रूढ़िवादी ईसाई होने के कारण, वह पादरी को बुलाता है। इस प्रकार चर्च के संगठन को सुदृढ़ करता है, और यह कार्य चर्च के प्रभाव पर अपनी छोटी–छोटी तरंगों द्वारा प्रभाव डालेगा तथा प्रदत्त समाज की संवेदनाओं और प्रवृत्तियों की संपूर्ण प्रणाली को प्रभावित करेगा; उसने पादरी को पैसा दिया

और इस प्रकार पादरी द्वारा वांछित वस्तुओं की मांगों को बढ़ा दिया है, आदि; उसके पत्नी के बच्चे होते हैं, और इससे हजारों प्रकार के हजारों परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं। यह देखना सरल है कि अनेक व्यक्ति जॉन स्मिथ की शादी से प्रभावित होते हैं, भले ही यह प्रभाव बहुत न्यून मात्रा में हो। स्मिथ एक नागरिक के रूप में अपना कर्तव्य–पालन के लिए उदार दल में प्रवेश करता है। वह अपने तरह के सैकड़ों लोगों के साथ सभाओं में भाग लेने लगता है और दल के अन्य लोगों की तरह बोल्शेविकों के प्रति घृणा का भाव अनुभव करने लगता है। सभा में उनका प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अन्य बहुसंख्यक लोगों को स्पर्श और परिचालित करने लगता है। निश्चित ही, इस प्रभाव को निर्धारित करना बहुत कठिन हो सकता है; फिर भी यह प्रभाव कितना भी अल्प हो, लेकिन होता अवश्य है। स्मिथ दल की किसी भी शाखा की गतिविधियों में भाग ले सकता है, लेकिन उसका अन्य लोगों पर प्रभाव तुम्हें सदा देखने को मिलेगा, और इसके साथ–साथ अन्य लोगों का प्रभाव भी उस पर होगा। इसी प्रकार समाज में समस्त वस्तुएँ छोटे–छोटे लाखों सूत्रों द्वारा आबद्ध हैं।

हमने एक व्यक्ति से प्रारम्भ किया है, और उसका अन्य व्यक्तियों पर प्रभाव दिखाया है। अब हम इस बात पर भी विचार कर सकते हैं कि समाज इस पर किस प्रकार से क्रिया करता है। एक बहुत बड़ा औद्योगिक प्रतिष्ठान है जिसमें स्मिथ एक मुख्य मुनीम के रूप में कार्य कर रहा है और अधिक लाभ प्राप्त कर रहा है; स्मिथ की कुछ तरक्की हो जाती है। युद्ध छिड़ जाता है; स्मिथ का नाम सैनिकों की सूची में आ जाता है, वह अपने मालिक के देश की सुरक्षा करता है क्योंकि उसका विश्वास है कि वह सभ्यता की रक्षा कर रहा है और वह युद्ध में मारा जाता है। ऐसी है सामाजिक सम्बन्धों की शक्तिं।

यदि हम मानव–समाज में वर्तमान बहुसंख्यक पारस्परिक अन्तर–क्रियाओं की ओर दृष्टिपात करें, या यदि हम केवल अपने एक दिन की गतिविधियों पर ध्यान दें, तो हमारे समक्ष एक अत्यन्त मोहक चित्र आकार ग्रहण करता हुआ प्रतीत होगा। इनमें से कुछ सम्बन्ध स्थूल तात्त्विक शक्ति से सम्बन्धित हैं; वे किसी प्रकार से या किसी के द्वारा विनियमित नहीं होते हैं; व्यक्तियों की पारस्परिक अन्तरक्रियाओं की अपनी अभिव्यक्तियाँ असंख्य समाज तक अनेक न्यूनाधिक विनियमित और संगठित अन्तरक्रियाओं के रूप भी हैं। यदि हम यह विचार करते हैं

कि ये समस्त असंख्य अन्तरक्रियायें निरन्तर एक दूसरे को काट रही हैं, तो हम यह समझलेंगे कि प्रभावों का बैबीलोनियन विभ्रम कितना अधिक है और समाज की पारस्परिक अन्तर क्रियायें वास्तव में कितना अधिक हैं !

जहाँ कहीं पारस्परिक अन्तरक्रिया दीर्घकालीन है, वहाँ वास्तविक ''समष्टि'' या ''प्रणाली'' है। हमें यह अवश्य निर्देश करना चाहिए कि वास्तविक समष्टि नहीं होती है। यह कथन सजीव प्रकृति और निर्जीव प्रकृति, यांत्रिकता और सावयव, दोनों के सम्बन्ध में सत्य है। कुछ लोग समाज के अस्तित्व को ही इन्कार करने की सीमा तक पहुँच जाते हैं, क्योंकि समाज के अन्तर्गत अन्य प्रकार की प्रणालियों (वर्गों, समूहों, दलों, वृत्तों आदि अन्य अनेक प्रकार के संगठनों) का अस्तित्व होता है। लेकिन इसमें संदेह नहीं है कि इन प्रणालियों और समूहों की पारस्परिक अन्तरक्रिया समाज के अन्तर्गत होती है (वर्गों और दलों का संघर्ष, सहकारिता आन्दोलन, आदि); पुनः इन समूहों का निर्माण करने वाले व्यक्ति अवशिष्ट व्यक्तियों को अन्य संदर्भों में पूर्णतया भिन्न रूप से प्रभावित कर सकते हैं। पूँजीपति और श्रमिक अपने उपभोग के लिये एक ही पूंजीपति से सामान खरीदते हैं। पुनः, ये समूह अपनी पारस्परिक अन्तरक्रियाओं में संगठित नहीं होते हैं। यहाँ पर हमारे पास तत्त्व सम्बन्धी सामाजिक उत्पाद होता है; ''सामाजिक परिणाम'' इस असंगठित और तत्त्वात्मक प्रक्रियाओं में नहीं उपलब्ध होता है (जो उस समय तक चलता रहेगा जब तक साम्यवादी समाजवाद की उपलब्धि नहीं होगी)। फिर भी, इस प्रकार के सामाजिक उत्पाद हैं। उनका अस्तित्व है; यह वास्तविकता का एक अकाट्य तथ्य है; विश्वमूल्य निश्चित तथ्य है; और इसी प्रकार विश्व–साहित्य, व्यापार के विश्व–मार्ग या विश्व–युद्ध है; ये तथ्य यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि विभिन्न राष्ट्रों की प्रणालियों में सन्निविष्ट मानव–समाज का अस्तित्व वास्तव में आजकल है।

सामान्य रूप में जहाँ कहीं सतत् पारस्परिक अन्तरक्रियाओं का क्षेत्र होता है वहाँ एक विशिष्ट प्रणाली, एक विशेष वास्तविक समष्टि भी होती है। पारस्परिक अन्तरक्रियाओं की एक ऐसी व्यापक प्रणाली, जो विभिन्न व्यक्तियों के बीच की प्रायः समस्त स्थायी अन्तरक्रियाओं का समाहार करती है, समाज है।

इस प्रकार समाज इसकी रचना करने वाले व्यक्तियों को एक वास्तविक समष्टि है, पारस्परिक अन्तरक्रियारत तत्त्वों की एक प्रणाली के रूप में है। जैसा हम देख चुके हैं कि इस प्रणाली में पारस्परिक अन्तर–क्रियाओं की संख्या अनन्त है। लेकिन समाज का अस्तित्व ही यह संकेत करता है कि ये समस्त असंख्य शक्तियां अत्यधिक भिन्न दशाओं में क्रियाशील होकर के किसी भूलभुलैया का निर्माण नहीं करती हैं, बल्कि एक आंतरिक नियम के आदेशानुसार कुछ निश्चित मार्गों से होकर जाती हैं। यदि पूर्णरूप से अव्यवस्था की स्थिति होती, तो समाज में अस्थायी सन्तुलन की भी सम्भावना न होती, दूसरे शब्दों में, किसी भी दशा में समाज का अस्तित्व ही न होता। हमने ऊपर व्यक्ति के दृष्टिकोण से मनुष्य की क्रियाओं के नियम पर विचार किया है। अब हम इस प्रश्न पर समाज के दृष्टिकोण तथा इसके सन्तुलन की परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए विचार करेंगे। यद्यपि परिणाम एक ही है, फिर भी हम सामाजिक प्रक्रिया की विनियमितता को पहचानने में समर्थ होते हैं। सामाजिक सन्तुलन की परिस्थितियों की खोज करके सामाजिक प्रक्रिया की इस एकरूपता को खोजना बहुत सरल है। लेकिन इस विषय पर आगे बढ़ने के पहले हमें स्वयं समाज की प्रकृति के सम्बन्ध में विशेष विस्तारपूर्वक विचार कर लेना चाहिए। इस प्रणाली की प्रकृति की व्याख्या करना आवश्यक है– इसका अन्य प्रणालियों से कैसे भेदकरण किया जाता है, इसकी जीवन की आवश्यक दशा क्या है, तथा सन्तुलन के लिए इसकी क्या शर्त है ?

ग. सामाजिक सम्बन्धों का लक्षण

सामाजिक प्रघटनाओं का निर्माण करने वाली मनुष्यों के बीच की पारस्परिक क्रिया अत्यन्त निम्न प्रकार की है। इसके सम्बन्धों के स्थायित्व की शर्त क्या है? दूसरे शब्दों में, इन समस्त अन्तरक्रियाओं के बीच सम्पूर्ण प्रणाली के सन्तुलन की आधारभूत शर्त कहाँ है? सामाजिक सम्बन्ध का आधारभूत रूप क्या है, जिसके बिना अन्य रूपों को समझना सम्भव 'नहीं होगा?

आधारभूत सामाजिक सम्बन्ध श्रम का है, जैसा मुख्य रूप से ''सामाजिक श्रम'' शब्द से व्यक्त होता है, जिसका आशय है चेतन या अचेतन रूप में व्यक्तियों द्वारा एक दूसरे के लिए

किया गया कार्य। यह बात विपरीत स्थिति की कल्पना करने से तुरन्त स्पष्ट हो जाती है। हम थोड़ी देर के लिए मान लें कि यदि व्यक्तियों के बीच के श्रम–सम्बन्ध नष्ट कर दिये जायें; यदि वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थानों में न भेजा जाय, अपनी सामाजिक विशेषता का परित्याग कर दें, तो इसका परिणाम समाज का लोप होगा और समाज पूर्णरूप से क्षत–विघत हो जायेगा। हम दूसरा उदाहरण ले सकते हैंः कुछ ईसाई धर्म–प्रचारक उष्णकटिबन्धीय देशों में भगवान और शैतान के ज्ञान की शिक्षा देने के लिए भेजे जाते हैं। ये प्रचारक वहाँ के लोगों से तथाकथित उच्च बौद्धिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यदि प्रचारकों के देश तथा उष्टाकटिबन्धीय देश के लोगों में प्रायः आवागमन नहीं होता, कोई नियमित विनिमय नहीं होता, अर्थात, यदि ''सभ्य देशों तथा जंगली लोगों के देशों (उष्णकटिबन्धीय देशों) के बीच कार्य से सम्बन्धित सम्बन्धों की स्थापना नहीं होती तो क्या प्रचारकों द्वारा स्थापित सम्बन्धों के लिए यह सम्भव होगा कि वे दोनों देशों के बीच में स्थायी सम्बन्ध स्थापित कर सकें ? ''इस प्रकार के समस्त सम्बन्ध उसी समय स्थायी हो सकते हैं, जब ये सम्बन्ध कार्य से सम्बन्धित हों। मानव–समाज की व्यवस्था में आंतरिक संतुलन की संभावना की आधारभूत शर्त श्रम का सम्बन्ध है।

हम इस प्रश्न पर दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार कर सकते हैं। मानव–समाज सहित कोई भी प्रणाली शून्य में नहीं रह सकती है। यह पर्यावरण से परिवेष्ठित होती है जिस पर उसकी समस्त दशाएँ अंततोगत्वा आश्रित होती हैं। यदि मानव–समाज पर्यावरण के अनुसार अपना अनुकूलन नहीं करता है, तो वह इस जगत् के लिए निरर्थक है; इसकी सम्पूर्ण संस्कृति का अनिवार्य रूप से लोप हो जाएगा और समाज स्वयं धूल में मिल जाएगा। आदर्शवादी विचारक चाहे जितना अधिक विचार करें, लेकिन वे हमारी इस मान्यता के विरोध में हलका प्रमाण भी नहीं प्रस्तुत कर सकते हैं कि समाज का सम्पूर्ण जीवन, इसके जीवन और मृत्यु का प्रश्न, समाज और इसके र्प्यावरण अर्थात् प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित होता है। हमने इस सम्बन्ध में ऊपर बताया है, अतः यहाँ इसके ऊपर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्यों के बीच का सामाजिक सम्बन्ध कार्य का सम्बन्ध है। सामाजिक सम्बंध स्पष्ट रूप और प्रत्यक्ष रूप में प्रकृति से अपने सम्बन्ध को व्यक्त करता है। कार्य समाज और प्रकृति के

बीच के संपर्क की प्रक्रिया है। कार्य के द्वारा प्रकृति से समाज को शक्ति प्राप्त होती है। इसी शक्ति पर समाज जीवित रहता है और इसी के द्वारा विकसित होता है (यदि इसका कोई विकास होता हो)। श्रम भी प्रकृति के साथ सक्रिय अनुकूलन है। दूसरे शब्दों में, उत्पादन की प्रक्रिया समाज की आधारभूत जीवंत प्रक्रिया है। फलतः, श्रम–सम्बन्ध ही आधारभूत सामाजिक सम्बन्ध है। मार्क्स के शब्दों में, हमें, ''समाज की शरीर–रचना को इसकी अर्थ–व्यवस्था में खोजना चाहिए'', अर्थात्, समाज की संरचना इसकी श्रम–संरचना है (''इसकी आर्थिक संरचना है'')। फलतः, हमारे समाज की परिभाषा इस प्रकार होगी : समाज परस्पर अंतरक्रियारत व्यक्तियों की व्यापकतम प्रणाली है, जो उनकी समस्त स्थायी पारस्परिक अंतरक्रियाओं का समाहार करती है तथा जो उनके श्रम–सम्बन्धों पर आधारित है।

इस प्रकार हम समाज के पूर्णतया भौतिकतावादी दृष्टिकोण पर आ पहुँचे हैं। इसकी संरचना का आधार उसी प्रकार कार्य सम्बन्धी सम्बन्ध है, जैसे जीवन का आधार उत्पादन की भौतिक प्रक्रिया है।

प्रायः निम्नांकित आपत्ति प्रस्तुत की जाती है : ''जैसा तुम कहते हो यदि यही बात है, तो श्रम–सम्बन्ध कैसे स्थापित होते हैं ? क्या व्यक्ति श्रम की प्रक्रिया में एक साथ बोलते और एक साथ चिंतन नहीं करते हैं ? तब क्या श्रम–सम्बन्ध मानसिक या आध्यात्मिक सम्बन्ध नहीं हैं ? तब तुम्हारा भौतिकवाद कहाँ है ? यदि तुम्हारा सम्पूर्ण श्रम और तुम्हारे श्रम–सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध नहीं हैं तो फिर क्या हैं ?''

इस प्रश्न पर यहाँ विचार कर लेना उचित है जिससे आगे के भ्रमों का निवारण हो सके। आइए हम एक चलती हुई फैक्ट्री का उदाहरण लें। इस फैक्ट्री में अकुशल श्रमिक और विभिन्न प्रकार के कुशल श्रमिक हैं, वे भिन्न–भिन्न मशीनों पर कार्य कर रहे हैं; इनके अतिरिक्त फोरमैन और इंजीनियर आदि भी हैं। मार्क्स अपनी 'कैपिटल' में इस परिस्थिति का इस प्रकार वर्णन करता है : आवश्यक विभाजन कर्मियों तथा इन कर्मियों के आदेश–पालन करने वालों का है। कर्मी वे हैं जो वास्तव में मशीनों पर काम करते हैं (जिनमें वे थोड़े से लोग भी सम्मिलित हैं जो मशीनों की देख रेख करते हैं), तथा आज्ञा–पालकों में वे लड़के आते हैं जो

कर्मियों की सहायता के लिए होते हैं। ये आज्ञा–पालक प्रायः मशीनों में उस वस्तु को पहुँचाते हैं जिससे उत्पादन किया जाता है। इन दो प्रमुख वर्गों के अतिरिक्त, संख्या की दृष्टि से अमहत्त्वपूर्ण वर्ग उन लोगों का होता है जिनका कार्य सम्पूर्ण यंत्र की देखभाल करना तथा उसकी खराबियों को दूर करना होता है; जैसे इंजीनियर, मैकेनिक, आदि। फैक्ट्री के लोगों के बीच इस प्रकार के श्रम–सम्बन्ध होते हैं। इन सम्बन्धों की मुख्य प्रकृति क्या है ? वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने काम में लगा होता है, लेकिन उसका काम सम्पूर्ण काम का एक अंश होता है। प्रत्येक कामगर एक निश्चित स्थान पर नियुक्त होता है, एक निश्चित गति से काम करता है, उसका वस्तुओं से तथा अन्य कामगरों से एक निश्चित भौतिक सम्बन्ध होता है तथा वह एक निश्चित मात्रा में भौतिक शक्ति का उपयोग करता है। ये समस्त सम्बन्ध भौतिक सम्बन्ध होते हैं। इनका अपना मनोवैज्ञानिक पक्ष हो सकता है; क्योंकि लोग सोचते हैं, विचार–विनिमय करते हैं, वार्तालाप करते हैं, आदि। उनकी ये गतिविधियाँ, कारखाने के भवन में उनके वितरण तथा उन मशीनों जिनमें उनकी नियुक्ति होती है, से निर्धारित होती हैं। दूसरे शब्दों में, वे पृथक् भौतिक शरीरों के रूप में फैक्ट्री द्वारा बंटे होते हैं; अतः वे एक निश्चित स्थान और काल में भौतिक दृष्टि से सम्बद्ध होते हैं। एक कारखाने के कर्मियों का कार्यकारी संगठन या भौतिक संगठन इसी प्रकार का है जिसे मार्क्स "सामूहिक कर्मी" कहता है; अब हम भौतिक मानवीय कार्यकारी प्रणाली पर विचार कर रहे हैं। जब यह प्रणाली अपनी सक्रिय अवस्था में होती है, तो वहाँ भौतिक श्रम की प्रक्रिया होती है; मनुष्य शक्ति या ऊर्जा निःसृत करते हैं और भौतिक उत्पादों को निकालते हैं। यह भी एक भौतिक प्रक्रिया है, जिसका अपना मनोवैज्ञानिक पक्ष भी होता है।

जो कुछ हमने अभी कारखाने के सम्बन्ध में देखा है, वही अतिव्यापक स्तर पर तथा अधिक जटिल रूप में सम्पूर्ण मानव–समाज पर भी लागू होता है; क्योंकि सम्पूर्ण मानव–समाज एक विलक्षण मानवीय कार्यकारी उपकरण का निर्माण करता है जिसमें बहुसंख्यक व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह कार्यकारी प्रक्रिया में एक निश्चित स्थान ग्रहण करते हैं। उदाहरण के लिए, वर्तमान समाजों में, जिनमें समस्त तथाकथित सभ्य मानव सम्मिलित हैं, गेहूँ मुख्य रूप से कुछ देशों में पैदा होता है, कोको कुछ अन्य देशों में होता है, धातु की वस्तुओं का उत्पादन अन्य

देशों में होता है, आदि। विभिन्न देशों में कुछ कारखाने एक प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करते हैं, और अन्य कारखाने दूसरे प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। ये समस्त कर्मी, किसान औपनिवेशिक दास और यहाँ तक कि इंजीनियर, ओवरसियर, फोरमैन, संगठनकर्त्ता, आदि जो पृथ्वी के विभिन्न कोनों में नियुक्त हैं, भूमण्डल के विभिन्न भागों में बंटे हुए हैं, सब अचेतन रूप में वस्तुतः एक दूसरे के लिए कार्य कर रहे हैं। जब प्रचुर मात्रा में वस्तुयें एक देश से दूसरे देश, कारखाने से बाजार, बाजार से उपभोक्ता के पास जाती हैं, तो ये सब क्रियाएँ इन समस्त व्यक्तियों के बीच भौतिक बंधन का एक कार्यकारी उपकरण हैं। जब हम मधुमक्खियों के जीवन का अध्ययन करते हैं, तो हम मधुमक्खियों के समाज के भौतिक कार्यकारी का पता लगाना विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं मानते हैं। कोई भी व्यक्ति मधुमक्खियों को एक मानसिक समष्टि या समुच्चय का आध्यात्मिक बन्धुत्व के रूप में नहीं मानेगा; यद्यपि वह मधुमक्खियों की नैसर्गिक प्रवृत्तियों, उनके मानसिक जीवन, उनकी आदतों के सम्बन्ध में कुछ अवश्य कह सकता है, आदि। लेकिन ''दैवी'' स्वभाव से युक्त मनुष्य के साथ वही व्यवहार नहीं होना चाहिए, जो मधुमक्खियों के साथ किया जाता है।

यह स्वतः स्पष्ट है कि उच्चतर विकसित वनमानुसों के एक झुँड की अपेक्षा मानव–समाज में मानसिक अंतरक्रियाएँ बहुत अधिक प्रकार की है। मानव–समाज का मस्तिष्क वनमानुसों के झुँड की अपेक्षा अधिक उच्चस्तर का होता है, क्योंकि एक मनुष्य का मस्तिष्क एक बनमानुस के मष्तिष्क से अधिक श्रेष्ठ है। लेकिन अनन्त प्रकार के जटिल और असाधारण रूप से समृद्ध इन मानसिक और आध्यात्मिक ऐसे अन्तर सम्बन्धों का अपना निकाय भी होता है, जो इन्द्रधनुष के समस्त रंगों को व्यक्त करते हैं, तथा वर्तमान समाज के मस्तिष्क का निर्माण करते हैं। इस निकाय के बिना इन अंतर–सम्बन्धों का अस्तित्व उसी प्रकार सम्भव नहीं है, जैसे बिना शरीर के मस्तिष्क का अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता है। यह निकाय श्रम का एक ढांचा है, अर्थात्, श्रम की प्रक्रिया में लगे हुए व्यक्तियों के बीच के भौतिक सम्बंधों की एक प्रणाली है, अथवा, मार्क्स के शब्दों में उत्पादन का सम्बन्ध है।

घ. समाज और व्यतिव

समाज का निर्माण व्यक्तियों से होता है। इसका अस्तित्व इनके बिना सम्भव नहीं हो सकता है, जिसका अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है। लेकिन समाज केवल व्यक्तियों का समुच्चय मात्र नहीं है या केवल उनका योग नहीं है; समाज विभिन्न व्यक्तियों के योग से बहुत कुछ अधिक है। हमने पीछे देखा है कि समाज एक वास्तविक समष्टि या एक प्रणाली है; हमने यह देखा है कि यह विभिन्न व्यक्तियों के बीच की पारस्परिक अंतरक्रियाओं की एक अत्यधिक जटिल प्रणाली है। ये अंतरक्रियाएँ गुण और मात्रा में अत्यधिक भिन्न होती हैं। इसका आशय यह है कि समाज, समग्र रूप में, अपने अंगों के योग की अपेक्षा अधिक बृहत्तर है। इसे किसी भी दशा में केवल इसके अंगों तक ही सीमित नहीं किया जा सकता है जो जीवन्त सावयवों के साथ–साथ निर्जीव यंत्रों के सम्बन्ध में भी सत्य है। उदाहरण के लिए, हम किसी यन्त्र जैसे घड़ी को लें। इसके यंत्रों को अलग–अलग करके और उन सब यंत्रों को एक ढेर में एकत्र कर दें। यह ढेर अंगों का योग मात्र होगा, लेकिन यह यन्त्र नहीं होगा; यह घड़ी नहीं होगी, क्योंकि इस ढेर में एक निश्चित सम्बन्ध का अभाव है, विभिन्न अंगों की उस निश्चित पारस्परिक अंतरक्रिया का लोप है जो विभिन्न अंगों को यान्त्रिकता में रूपान्तरित करती है। इन अंगों को क्या चीज एक समष्टि का रूप प्रदान करती है? एक निश्चित व्यवस्था उनकी समष्टि का रूप देती है। यही बात समाज के सम्बन्ध में भी सत्य है; समाज में व्यक्ति होते हैं; लेकिन यदि ये व्यक्ति श्रम–प्रक्रिया में प्रत्येक प्रदत्त क्षण में अपने–अपने निश्चित स्थान पर न हों, तथा यदि वे श्रम–सम्बन्ध द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित न हों, तो समाज का कोई अस्तित्व न होगा।

हमें यहाँ एक अन्य प्रघटना का उल्लेख करना चाहिए जिसे हमने समाज में देखा है और वह यह है कि समाज में केवल प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परस्पर अंतरक्रियारत विभिन्न प्रकार के व्यक्ति ही नहीं होते हैं, अपितु परस्पर अंतरक्रियारत व्यक्तियों के समूह भी होते हैं, जो वास्तविक समष्टियों का निर्माण भी करते हैं और जो समाज और व्यक्ति के बीच में स्थित होते हैं। उदाहरण के लिए, वर्तमान समाज अत्यधिक वृहत् है। सुदूर देशों के लोग पहले से ही एक–दूसरे से सम्बन्धित हो गए हैं, और श्रम–बंधन के द्वारा एक दूसरे के अधिक निकट

आते जा रहे हैं; वास्तव में एक विश्व–समाज का निर्माण हो गया है। परस्पर अंतरक्रियारत आधारभूत श्रम–सूत्र तथा अन्य असंख्य बंधनों से आबद्ध करीब–करीब 1,500,000,000 व्यक्तियों के समाज में किसी–न–किसी रूप में आबद्ध व्यक्तियों की आंशिक प्रणालियाँ समाविष्ट हैं; जैसे सामाजिक वर्ग, राज्य, धार्मिक संगठन, राजनीतिक दल आदि। इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन आगे किया जायेगा। यहाँ पर केवल हमें यह देखना है कि समाज में मनुष्यों के बहुसंख्यक समूह हैं, और इन समूहों में भी व्यक्ति होते हैं। अपने वृत्तों के अन्तर्गत इन समूहों के व्यक्तियों की पारस्परिक अंतरक्रियाएँ सामान्य रूप से मनुष्यों की पारस्परिक अंतरक्रियाओं की अपेक्षा अधिक और घनिष्ठ होती हैं। जर्मन दार्शनिक और समाजशास्त्री जी० सिमेल ने ठीक ही कहा है कि व्यक्तियों की पारस्परिक अंतरक्रिया का वृत्त जितना ही अधिक सीमित होता है उतना ही अधिक उनमें घनिष्ट सम्बन्ध होता है; इसके अतिरिक्त ये समस्त समूह स्वयं ही सम्पर्क में आते हैं। दूसरे शब्दों में, समाज का निर्माण करने वाले विभिन्न प्रकार के व्यक्ति सदा एक दूसरे को प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित नहीं करते हैं, अपितु मानव–समाज की एक वृहत् प्रणाली के अंतर्गत सक्रिय आंशिक प्रणालियों और समूहों के द्वारा एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए हम पूंजीवादी समाज के एक कर्मी पर विचार करते हैं। यह कर्मी अधिकांशतः किससे मिलता है, किससे बात करता है, और किससे विचार–विमर्श करता है, आदि? अधिकांशतः वह कर्मियों से ही मिलता है तथा उनके संपर्क में रहता है; वह बहुत कम किसानों या पूंजीपतियों से मिलता है। यह वर्ग–सम्बन्ध के अस्तित्व का उदाहरण है। यह कर्मी बहुत अधिक अन्य वर्गों के सम्पर्क में आता है, लेकिन एक व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि अपने वर्ग के एक सदस्य के रूप में, कभी–कभी चेतन रूप से संगठित, निकाय, दल या यूनियन के सदस्य के रूप में, आदि। यह बात समाज के अन्य समूहों के सम्बन्ध में भी सत्य है, विद्वान अधिकांशतः विद्वानों के सम्पर्क में आते हैं, पत्रकार पत्रकारों के; धर्माचार्य धर्माचार्यों के, आदि।

भौतिक क्षेत्र में हम पाते हैं कि समाज व्यक्तियों का संकलन मात्र नहीं है, यह उनके योग से अधिक है तथा श्रम की प्रक्रिया में उनकी समूहीकरण की क्रिया और निश्चित ''अवस्थिति'' (मार्क्स इसे उनका ''वितरण'' कहता है), उनके योग या समुच्चय की अपेक्षा, उन्हें

कुछ महान् और कुछ नवीन रूप प्रदान करती है। यही बात मनोवैज्ञानिक या मानसिक जीवन के सम्बन्ध में सत्य है, जिसका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। हमने पहले कई बार बाजार में मूल्य–निर्धारण करने के उदाहरण का उपयोग किया है। मूल्य एवं सामाजिक प्रघटना, एक सामाजिक परिणाम, व्यक्तियों की पारस्परिक अंतरक्रिया का एक उत्पाद है। मूल्य न तो अनुमानों का औसत है, और न यह व्यक्तिगत अनुमानों के करीब–करीब निकट होता है, क्योंकि वैयक्तिक अनुमान व्यक्तिगत विषय है, केवल एक व्यक्ति से सम्बन्धित है, केवल उसी के मस्तिष्क में उसका अस्तित्व है, जबकि वास्तविक मूल्य वह है जो सबको प्रभावित करता है। यह एक स्वतंत्र तथ्य है जिसे सबको परिगणित करना चाहिए; एक वस्तुनिष्ठ तत्त्व है; दूसरे शब्दों में, मूल्य कुछ नवीन वस्तु है, कुछ ऐसी वस्तु है जो स्वयं अपने सामाजिक जीवन को परिचालित करती है तथा पृथक्–व्यक्तियों से न्यूनाधिक रूप में स्वतंत्र है, यद्यपि के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। भाषा, राजनीतिक प्रणाली, विज्ञान, कला, धर्म तथा बहुसंख्यक कम महत्त्वपूर्ण प्रघटनायें तथा उनके उपभेद, जैसे फैशन, प्रथायें, सदाचरण आदि सब सामाजिक जीवन के उत्पाद हैं, व्यक्तियों की परस्परिक अंतरक्रियाओं के परिणाम हैं, ये उनके पारस्परिक सतत् सम्पर्क के प्रतिफल है।

जिस प्रकार समाज केवल व्यक्तियों का योग नहीं है, उसी प्रकार समाज का मानसिक जीवन, समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों के विचारों और संवेदनाओं का योगमात्र नहीं है, बल्कि यह एक दूसरे के संपर्क का उत्पाद है, तथा किसी सीमा तक एक नवीन वस्तु है जिसकी व्याख्या केवल गणितीय योग से नहीं हो सकती है; यह व्यक्तियों की पारस्परिक अंतरक्रियाओं से प्रतिफलित नवीन तत्त्व है।

समाज के बाहर या समाज के बिना व्यक्तिगत मनुष्यों का अस्तित्व विचारणीय नहीं है, और न हम यह कल्पना कर सकते हैं कि अपनी प्राकृतिक अवस्था में रहते हुए विभिन्न व्यक्तियों ने समाज की स्थापना की; वे समाज के निर्माण के लिए एक दूसरे के निकट आए थे और परस्पर एक सूत्र में आबद्ध हुए थे। यह अवधारणा एक समय में बहुत अधिक प्रचिलित थी, लेकिन यह नितान्त भ्रामक है। यदि हम मानव–समाज के विकास का अंकन करें, तो हम पाएँगे कि मूलरूप में यह एक झुंड था, न कि मानवीय आकार के व्यक्तिगत प्राणी विभिन्न

स्थानों में रह रहे थे, जो एक शुभ दिन अचानक एक सम्मेलन में इस विषय पर विचार विमर्श करके सर्वसम्मति से समाज के निर्माण के लिए एक साथ हो गए। कार्ल मार्क्स ने लिखा हैः ''समाज के उद्‌भव में प्रारम्भकर्ता व्यक्ति है, तदुपरांत सामाजिक परिस्थितियों द्वारा उत्पादित ये व्यक्ति आते हैं। व्यक्ति तथा पृथक्–शिकारी और मछुवे 18वीं शताब्दी के मूर्खतापूर्ण ढंग की उपज है; समाज से बाहर पृथक् व्यक्तियों द्वारा उत्पादन की बात उसी प्रकार से एक बहुत बड़ी मूर्खता है जैसे यह कहना कि भाषा का विकास उन व्यक्तियों द्वारा हुआ है, जो साथ–साथ नहीं रहते थे और साथ–साथ बातचीत नहीं करते थे।''

मनुष्य की सामाजिक विशेषतायें केवल समाज में ही विकसित हो सकती हैं। यह मानना मूर्खता है कि आदिम अवस्था में मनुष्य ने बिना समाज देखे ही समाज के लाभों को पहचान लिया था। वास्तव में, यह बात उसी प्रकार है जैसे व्यक्तियों के पारस्परिक सम्पर्क के बिना भाषा के विकास को मानना। अरस्तू ने कहा है कि मनुष्य सदा सामाजिक प्राणी था, अर्थात्, जो समाज में रहता था और जो समाज से बाहर कभी नहीं रहा। हम यह कल्पना नहीं कर सकते हैं कि मानव–समाज की स्थापना हुई थी। (एक व्यापारी, जिसने स्वयं अपनी व्यापारिक संस्था की स्थापना की है, कल्पना कर सकता है कि मानव–समाज भी उसी प्रकार उत्पन्न किया गया था।) मानव–समाज का अस्तित्व उस समय से है, जबसे मनुष्य का है। मनुष्यों का अस्तित्व समाज से बाहर कभी नहीं रहा है। मनुष्य अपनी प्रकृति के कारण सामाजिक प्राणी है; उसकी प्रकृति सामाजिक प्रकृति है जो समाज के साथ परिवर्तित होती है; वह अपने स्वभाव के कारण ही समाज में रहता है, अन्य व्यक्तियों के साथ संविदा या अनुबन्ध होने के कारण नहीं।

जब मनुष्य सदा समाज में रहा, अर्थात् सदा सामाजिक मनुष्य रहा है, तो इससे निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति का पर्यावरण सदा समाज रहा है। चूँकि समाज सदा व्यक्ति के पर्यावरण का निर्माण करता रहा है, तो इससे यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक है कि पर्यावरण ने ही विभिन्न व्यक्तियों का निर्धारण किया है : ''एक समाज या एक पर्यावरण एक प्रकार के व्यक्ति उत्पन्न करता है, दूसरे प्रकार का समाज दूसरे प्रकार के व्यक्ति को; ''एक मनुष्य उस संगति से जाना जाता है जिसमें वह रहता है।''

एक रोचक प्रश्न, जो अनेक विवादों का स्रोत रहा है, यह है कि इतिहास में व्यक्ति का क्या योगदान है?

यह प्रश्न उतना कठिन नहीं है, जितना प्रतीत हो सकता है। क्या घटनाओं के क्रम में व्यक्ति का कोई योगदान होता है या वह शून्य है? वस्तुतः चूंकि समाज व्यक्तियों से निर्मित होता है, इसलिए किसी भी व्यक्ति की क्रिया का प्रभाव सामाजिक प्रघटना पर होगा। व्यक्ति का योगदान होता है; उसकी क्रियायें, संवेदनायें, इच्छायें सामाजिक प्रघटनाओं के संघटक के रूप में प्रवेश करती हैं; ''मनुष्य इतिहास का निर्माण करते हैं:'' सामाजिक प्रघटनायें विभिन्न व्यक्तियों की पारस्परिक अंतरक्रियाओं से संरचित होती हैं।

आगे यह प्रश्न उठता है कि यदि विभिन्न व्यक्ति समाज को प्रभावित करते हैं, तो क्या यह निर्धारण संभव है कि विभिन्न व्यक्तियों की क्रियायें कैसे घटित होती है? हाँ; क्योंकि हम जानते हैं कि मनुष्य की इच्छा स्वतंत्र नहीं है, यह बाह्य परिस्थितियों द्वारा निर्धारण होती है। चूंकि व्यक्ति के संदर्भ में बाह्य परिस्थितियाँ, सामाजिक परिस्थितियाँ होती हैं, तो उसकी इच्छा सामाजिक परिस्थितियों द्वारा ही निर्धारित होगी; उनसे ही वह अपनी गतिविधियों के लिए प्रेरणा प्राप्त करेगा। उदाहरण के लिए, रूसी सेना के सिपाही के सम्बन्ध में यह देखा गया कि उसका खेत नष्ट–भ्रष्ट हो रहा था, उसका जीवन अधिक कठिन हो रहा था, निकट भविष्य में युद्ध का कोई अंत नहीं हो रहा था, पूँजीपति अधिक भ्रष्ट हो रहे थे और किसानों को भूमि नहीं दे रहे थे, तब उसकी क्रिया के प्रेरक जाग्रत हुए : युद्ध को बंद करने के लिए, भूमि को हस्तगत करने के लिए, और इस उद्देश्य के लिए सरकार को बदलने के लिए। इस प्रकार सामाजिक परिस्थितियाँ व्यक्ति के प्रेरकों को निर्धारित करती हैं।

ये परिस्थितियाँ व्यक्ति द्वारा प्रस्तावित लक्ष्यों की उपलब्धि में सीमायें निर्धारित करती हैं। सन् 1917 में मिल्यूको ने पूंजीपतियों के प्रभाव को अधिक सुदृढ़ करने के लिये मित्र राष्ट्रों की सहायता करनी चाही, लेकिन उसकी इच्छा की पूर्ति नहीं हुई। परिस्थितियों में ऐसा परिवर्तन हुआ कि मिल्यूको ने जो चाहा था उसमें से कुछ नहीं हो सका। यदि हम प्रत्येक व्यक्ति के विकास का परीक्षण करें, तो हम पायेंगे कि उसकी सतह में उसके प्र्यावरण के

प्रभाव भरे हुए हैं। मनुष्य परिवार में, सड़क में और विद्यालय में प्रशिक्षित होता है। जो भाषा बोलता है वह सामाजिक उद्विकास का उत्पाद है; वह जिन विचारों को सोचता है, वे पूर्ववर्ती पीढ़ियों की संपूर्ण श्रृंखला के द्वारा खोजे गए हैं। उसके चारों ओर अन्य अनेक प्रकार के व्यक्ति होते हैं, जिनकी अपनी–अपनी जीवन–विधियां होती हैं; उसकी आँखों के समक्ष जीवन की सम्पूर्ण प्रणाली होती है जो क्षण–प्रतिक्षण उसे प्रभावित करती रही है; स्पंज के समान वह नए प्रभावों को निरन्तर ग्रहण करता रहता है और इस प्रकार वह एक व्यक्ति बनता है। प्रत्येक व्यक्ति के मूल में सामाजिक तथ्य निहित होते हैं; व्यक्ति स्वयं ऐसे संचित सामाजिक प्रभावों का एक संकलन हैं, जो एक लघु इकाई में एकीकृत हैं।

एक अन्य परिस्थिति भी द्रष्टव्य है। चूंकि व्यक्ति का एक विशिष्ट स्थान होता है और वह विशिष्ट कार्य सम्पन्न करता है, इसीलिए व्यक्ति का योगदान प्रायः प्र्याप्त व्यापक होता है। उदाहरण के लिए, एक सेना के सामान्य अधिकारी वर्ग में बहुत थोड़े से लोग होते हैं, लेकिन सेना में हजारों और लाखों व्यक्ति होते हैं। यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्पष्ट है कि सेना के बहुसंख्यक सैनिकों की अपेक्षा सामान्य अधिकारी–वर्ग के थोड़े से लोगों का महत्त्व बहुत अधिक होता है। यदि शत्रु उस अधिकारी–वर्ग को अधीन करने में सफल हो जाये, तो कुछ परिस्थितियों के अंतर्गत संपूर्ण सेना को पराजित करने के समान ही होगा। अतः इन थोड़े से व्यक्तियों का बहुत अधिक महत्त्व है। लेकिन यदि सामान्य अधिकारी–वर्ग के पास टेलीफोनों, सूचनाओं, घोषणाओं, नक्शों, आदेश देने के अवसरों, अनुशासन आदि की व्यवस्था न हो, तो क्या होगा ? स्पष्ट है कि इस अधिकारी–वर्ग का कोई महत्त्व नहीं होगा। सामान्य अधिकारी–वर्ग के ये व्यक्ति सेना के सिपाहियों से अधिक नहीं होंगे। उनकी शक्ति तथा उनकी महत्ता, विशिष्ट सामाजिक सम्बन्धों और उस संगठन का परिमाण है जिसमें वे व्यक्ति कार्य कर रहे हैं। निस्संदेह, वे अपने दायित्व को पालन करने में पूर्ण सक्षम हो सकते हैं, लेकिन इस विशिष्ट सम्बंध से पृथक् वे अपनी महत्ता को पूर्ण रूप से खो देते हैं। सामान्य अधिकारी–वर्ग का सेना पर शक्ति–सम्पन्न प्रभाव स्वयं सेना द्वारा, इसकी संरचना द्वारा, इसकी अवस्थितियों द्वारा और पारस्परिक अंतरक्रियाओं के समुच्चय द्वारा निर्धारित होता है।

समाज के सम्बन्ध में भी यही बात है। राजनीतिक नेताओं का योगदान, किसी दल या वर्ग के औसत मनुष्य की तुलना में, बहुत अधिक होता है। वास्तव में, एक राजनीतिक नेता बनने के लिए विशेष प्रकार की अभिव्यक्तियों, गुणों और अनुभवों की आवश्यकता है। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि आवश्यक संगठनों (दलों, संघों जनसंपर्क के उचित साधनों आदि) के अभाव में नेता इतना महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते हैं। यह सामाजिक बंधनों की शक्ति है जो प्रमुख व्यक्तियों को शक्ति प्रदान करती है। बिल्कुल यही स्थिति अन्वेषकों, विद्वानों के सम्बन्ध में भी है; वे केवल कुछ परिस्थितियों के अंतर्गत ही अपना विकास कर सकते हैं। मान लीजिए कि एक प्रतिभा–सम्पन्न अन्वेषक को आगे बढ़ने का अवसर नहीं मिला है, उसने कुछ सीखा और पढ़ा नहीं है तथा पूर्णतया भिन्न प्रकार का काम करने के लिए विवश हुआ है, जैसे गूदड़ बेचने का कार्य। उसकी प्रतिभा अनुद्‌घाटित रह जाएगी, उसकी ओर कभी कोई ध्यान नहीं देगा; जिस प्रकार से बिना सेना के सेनानायक का कोई महत्त्व नहीं है, उसी प्रकार एक यान्त्रिक अन्वेषक बिना मशीनों और बिना उपकरणों के विचारणीय नहीं होता है। दूसरी ओर, यदि गूदड़ बेचने वाला संसार में सफल हो जाता है, सामाजिक सम्बन्धों की प्रणाली में एक निश्चित स्थान बना लेता है तो वह दूसरा एडीसन हो सकता है। हम इस प्रकार के अनेक उदाहरण दे सकते हैं। लेकिन यह स्वतः स्पष्ट है कि इन समस्त स्थितियों में समाज का एक निश्चित प्रभाव है और बिना इस सामाजिक प्रभाव के आधार के विकास करना असम्भव है।

इस प्रकार सामाजिक सम्बन्ध स्वयं भी विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों को महत्त्व प्रदान करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति सदा सामाजिक व्यक्ति के रूप में कार्य करता है, वह एक समूह, वर्ग या समाज के संघटक अंग रूप में कार्य करता है, व्यक्ति सदा सामाजिक विषय–वस्तु से आपूरित होता है जिसके कारण यह आवश्यक है कि समाज के विकास को समझाने में सामाजिक परिस्थितियों के विचार से प्रारम्भ किया जाये, और उन्हीं से आगे बढ़ा जाये; इसके विपरीत प्रक्रिया निरर्थक है। सामाजिक सम्बन्धों के द्वारा हम न्यूनाधिक रूप से व्यक्ति के विकास की व्याख्या कर सकते हैं, लेकिन व्यक्ति के विकास के द्वारा समाज–विकास की व्याख्या किसी भी दशा में नहीं की जा सकती है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में वह सब कुछ होता है, जो समाज में पहले घटित हो चुका है। उदाहरण के लिए,

जब एक खरीददार बाजार में जूते या रोटी खरीदने जाता है, तो उसके मूल्य का अनुमान बाजार में उस समय प्रचिलित मूल्य या पहले से प्रचिलित मूल्य के आधार पर आधारित होता है। जब कोई अन्वेषक नई मशीन खोजता है, तो वह पहले से विद्यमान मशीन, उपलब्ध प्रविधि और विद्वानों द्वारा प्रस्तुत समस्याओं, प्रायोगिक कार्य की मांगों, आदि के आधार पर आगे बढ़ता है। एक शब्द में, कुछ पूंजीवादी विद्वानों की तरह यदि हम वैयक्तिक प्रघटनाओं के आधार पर सामाजिक प्रघटनाओं की व्याख्या का प्रयत्न करें, तो हमें व्याख्या के स्थान पर कोई मूर्खतापूर्ण बात हाथ लगेगी, सामाजिक प्रघटनाओं की व्याख्या व्यक्तिगत प्रघटना के आधार पर नहीं हो सकती है। अतः हमने देखा कि व्यक्ति अपने प्रेरक समाज से ग्रहण करता है, सामाजिक पर्यावरण से लेता है; जिन परिस्थितियों के अंतर्गत सामाजिक पर्यावरण का विकास होता है वे व्यक्ति की गतिविधियों को सीमित करती हैं; व्यक्ति के क्रियाकलापों का निर्धारण सामाजिक परिस्थितियों द्वारा होता है। व्यक्ति की तुलना में समाज अग्रगन्ता है।

ङ निर्माण की प्रक्रिया में समाज

मनुष्य सदा समाज में रहा है – यह तथ्य किसी दशा में यह व्यक्त नहीं करता है कि नए समाज निर्मित नहीं हो सकते हैं या पुराने समाज विकसित नहीं हो सकते हैं।

मान लीजिए कि एक निश्चित समय में विभिन्न मानव–समूह पृथ्वीतल के विभिन्न भागों में हैं और इन मानव–संघटनों का एक–दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है; वे पर्वतों, नदियों, और समुद्रों द्वारा एक दूसरे से पृथक् हैं, और उन्होंने सामाजिक– सांस्कृतिक विकास की अवस्था अभी तक प्राप्त नहीं की है जिससे वे उन बाधाओं को पार कर सकें। यदि वे यदाकदा अनियमित रूप से एक दूसरे से संपर्क स्थापित करने में सफल होते हैं, तो उनमें स्थायी सम्बंध नहीं होता है।

इन परिस्थितियों में इन विभिन्न समूहों का समाहार करने वाले एक वृहत् समाज की बात हम नहीं कर सकते हैं। एक सार्वभौम समाज की अपेक्षा यहां उतने समाज हैं जितने प्रकार के समूह हैं, क्योंकि समाज का आधार मुख्य रूप से स्थायी श्रम–बंधन है, उत्पादन–सम्बंधों की एक श्रृंखला है जो संपूर्ण प्रणाली के ढांचे का निर्माण करती है। उपर्युक्त

उदाहरण में विभिन्न समूहों के बीच कोई इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं है और न कोई सार्वभौम समाज है, बल्कि अनेक छोटे–छोटे समाज हैं जिनमें से प्रत्येक का अपना विशेष इतिहास है।

अतः हम एक समाज के अंतर्गत मनुष्यों के संघ की बात नहीं कर सकते हैं, अपितु हम उन्हें केवल मनुष्यों के रूप में वर्गीकृत कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में हम उन्हें जैविकीय समूह में एकीकृत तो मान सकते हैं लेकिन समाज–विज्ञान या समाजशास्त्र की दृष्टि से एक सामाजिक समूह नहीं कहते है; हम एक प्रकार के प्राणी पर विचार कर रहे हैं, न कि एक समाज पर। जैविकीय एकता की दृष्टि से यह पर्याप्त है कि इन समस्त प्राणियों की स्वरूप रचना एक प्रकार की है, उनके अंग एक प्रकार के हैं, आदि–आदि। लेकिन समाज शास्त्रीय एकता के लिए यह आवश्यक है कि इन प्राणियों को किसी–न–किसी रूप में एक साथ कार्य करना चाहिए, न कि केवल समानान्तर रूप में।

कुछ लोग इस बात से भी इन्कार करते हैं कि समाज एक इकाई के रूप में है। केवल उदाहरण के लिए, प्रो० विपर कहते हैं : ''सभ्यता के आदिकाल से प्राकृतिक अर्थव्यवस्था की पूर्ण रूप से अमुक्त प्रणाली का अस्तित्व संभवतः कभी नहीं रहा है। सदा व्यापारिक सम्बन्धों, औपनिवेशीकरण, स्थानान्तरणों, प्रचार का ही प्राधान्य रहा था। निस्संदेह कुछ स्थानों में स्वतंत्र कार्य किया गया है तथा विभिन्न भौगोलिक सीमाओं और परिस्थितियों में समानान्तर स्वतंत्र प्रयास से कार्य संपन्न हुआ है, लेकिन उद्‌विकास की दूसरी क्रमिक अवस्था आकस्मिक रूप से ही प्राप्त हुई है – एक अपरिपक्व पाठ के रूप में जो बहुत स्थूल रूप में और अपरिपूर्ण रूप में दिया गया हो, लेकिन फिर भी जिसकी पुनरावृत्ति अन्य लोगों द्वारा की गई हो और जिसे बाद में सीखा गया हो।'' लेकिन जब कोई निरपेक्ष और पूर्ण प्रणाली कभी नहीं रही, तो इसमें संदेह नहीं है कि विभिन्न समाजों के बीच में चाहे जो विनिमय–सम्बंध रहे हों वे बहुत अल्प थे। उदाहरण के लिए, कोलम्बस के पहले योरोप और अमेरिका के लोगों के बीच कौन सम्बन्ध थे? मध्ययुग में स्वयं योरोप के लोगों में भी पारस्परिक सम्बंध बहुत क्षीण थे। अतः ऐसी स्थितियों में सफल मानव–समाज की बात करना असंभव है; उस समय मानवता केवल जैविकीय दृष्टिकोण से एक इकाई थी।

मान लीजिए कि हमारे विभिन्न समाजों में सम्पर्क प्रारम्भ होते हैं जिनमें पहले सैनिक सम्पर्क और बाद में व्यापारिक सम्बंध होता है। ये व्यापारिक सम्बंध अधिकाधिक स्थायी होते जाते हैं, और अंततः एक ऐसा समय आता है, जब एक समाज का अस्तित्व दूसरे के बिना नहीं रह सकता; कुछ समाज मुख्य रूप से एक चीज उत्पादित करते हैं और दूसरे समाज दूसरी चीज; ये वस्तुयें परस्पर विनिमय की जाती हैं, और इस प्रकार विभिन्न समाज एक दूसरे के लिए कार्य करते हैं; ये कार्य केवल आकस्मिक न होकर नियमित होते हैं जो दोनों प्रकार के समाजों के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। अब हमारे पास पहले से ही एक वृहत एकल समाज है जो भिन्न समाजों के पास्परिक सम्मिलन से बना है।

इससे विपरीत प्रक्रिया भी हो सकती है; कुछ परिस्थितियों के अंतर्गत एक समाज अनेक समाजों में विघटित हो सकता है। (प्रायः ऐसा पतन की अवस्था में होता है)।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज स्थायी वस्तु नहीं है जो अनन्तकाल से चली आ रही हो; क्योंकि हम इसके निर्माण की प्रक्रिया का अंकन कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, हमने इस प्रक्रिया को 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में चलते हुए देखा है। औपनिवेशिक युद्धों, वस्तुओं के विनिमयों की वृद्धि, पूँजी का आयात–निर्यात, एक देश से दूसरे देश में जनसंख्या के स्थानान्तरण, आदि अनेक विधियों से विभिन्न देशों के बीच अधिकतम घनिष्ठ सम्बंध स्थापित हुए हैं; समस्त देश स्थायी आर्थिक बंधन से परस्पर संयुक्त हुए हैं जिसका आशय है श्रमबंधन। एक विश्व–अर्थ–प्रणाली प्रतिफलित हुई है और विश्व पूंजीवाद विकसित हुआ है। इसके समस्त अंग एक दूसरे से अंतर सम्बंधित हैं। वस्तुओं और व्यक्तियों के अन्तर–राष्ट्रीय आवागमन से विचारों की एक तीव्र धारा एक देश से दूसरे देश में प्रवाहित हुई है; भौतिक वस्तुओं के विश्व–व्यापार ने मानसिक उत्पादों के विश्व–विनिमय को अवसर प्रदान किया है। फलतः एकल मानव–समाज का अस्तित्व प्रारम्भ हो गया है, जिसका अपना एक इतिहास है।

5

समाज और प्रकृति में संतुलन

क. प्रकृति समाज का पर्यावरण

प्रणाली के रूप में समाज के अनुशीलन में, इसके पर्यावरण के रूप में ''बाह्य प्रकृति'' की स्वीकृति सन्निहित है, अर्थात्, भौमिक भूमण्डल अपने समस्त प्राकृतिक गुणों के साथ इस पर्यावरण के रूप में आता है। मानव–समाज बिना इस पर्यावरण के अकल्पीनय है। प्रकृति मानव–समाज के भोजन स्रोत है। इस प्रकार यह उसके जीवन की दशाओं को निर्धारित करती है। लेकिन प्रकृति को प्रयोजनवादी दृष्टिकोण से देखना नितान्त अनुचित होगा : सृजन के स्वामी मनुष्य ने अपने उपयोग के लिए प्रकृति से अनेक चीजों की सृष्टि का है और प्रकृति की अनेक चीजों को मानवीय आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया। वस्तुतः, प्रायः प्रकृति सृजन के स्वामी मनुष्य पर इस बर्बर रीति से आघात करती है कि वह उसकी परमोच्चता को स्वीकार करने के लिए विवश हो जाता है। शताब्दियों के कठोर संघर्ष के उपरांत मनुष्य प्रकृति पर कुछ नियंत्रण पा सका है।

अब मनुष्य और मानव–समाज प्रकृति के उत्पाद हैं, इस महान् और अनन्त समष्टि के अंग हैं। मनुष्य प्रकृति से परे कभी नहीं हो सकता है, और जब कभी वह प्रकृति को नियंत्रित करता है, तो वह उपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए केवल प्रकृति के नियमों का उपयोग करता है। इससे स्पष्ट है कि मानव–समाज के सम्पूर्ण विकास पर प्रकृति का प्रभाव कितना अधिक है। मानव और प्रकृति के बीच वर्तमान सम्बन्धों को अध्ययन करने के पूर्व हमें पहले यह विचार करना चाहिए कि मनुष्य मुख्य रूप से प्रकृति के किन पक्षों के सम्पर्क में आता है। हमें केवल अपने आस–पास देखना है जिससे हम प्रकृति पर समाज की निर्भरता समझ सकें:, ''मिट्टी (इसमें आर्थिक भाषा में पानी भी अंतर्निहित है) आवश्यकताओं की पूर्ति करती है या जीविका के साधन प्रदान करती है, जो उससे पूर्ण स्वतंत्र होते हैं तथा मानवीय श्रम का सार्वभौम विषय हैं। वे समस्त वस्तुयें श्रम के अधीन हैं जिन्हें श्रम उनके पर्यावरण से केवल पृथक् कर देता है, जैसे मछली को हम पकड़ लेते हैं और उसके जल के पर्यावरण से पृथक् कर देते हैं; लकड़ी

जंगल से उठा ली जाती है और उस जंगल के पर्यावरण से पृथक् कर दी जाती है; आदि। जैसे पृथ्वी मनुष्य की उदरपूर्ति का आश्रय है, उसी प्रकार यह उसका मूल यन्त्रागार भी है; यह उसको फेंकने के लिए; पीसने के लिए; काटने के लिए पत्थर प्रदान करती है।'' अर्जक उद्योगों में प्रकृति श्रम का निकतम लक्ष्य है, जैसे–खान खोदना, शिकार खेलना, खेती करना आदि। दूसरे शब्दों में, प्रकृति यह निर्धारित करती है कि इस कच्चे माल का उपयोग किया जाय। जैसा हम पीछे देख चुके हैं कि मनुष्य निरंतर प्रकृति से संघर्ष करते हुए उसके नियमों का उपयोग कर रहा है। ''वह कुछ वस्तुओं के यान्त्रिक, भौतिक और रासायनिक गुणों का उपयोग, अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अन्य वस्तुओं का उपयोग करने में, करता है।'' मनुष्य बिजली आदि की शक्तियों का उपयोग कर लेता है। अतः यह असम्भव है कि एक निश्चित स्थान में और एक निश्चित समय में प्रकृति मनुष्य–समाज पर अपनी क्रिया न करे। जलवायु (आर्द्रता, हवा, तापमान आदि की मात्रा), पृथ्वीतल की आकृति (पर्वत या घाटियां, जल का वितरण, नदियों की प्रकृति, धातुओं, खनिज पदार्थों तथा पृथ्वी के अंदर के अन्य समस्त स्रोतों का वर्तमान होना), समुद्री किनारे की विशेषता (यदि समाज समुद्री किनारे पर रहता है तो), जल और थल का विभाजन, विभिन्न प्रकार के पशुओं और वृक्षों की स्थिति, आदि ये सब प्रकृति के मुख्य तत्त्व हैं, जो मानव–समाज को प्रभावित करते हैं। ह्वेल तथा अन्य मछलियों को भूमि पर नहीं पकड़ा जा सकता है; कृषि को चट्टानी और पहाड़ी स्थान में नहीं किया जा सकता है; रेगिस्तानों में जंगल लगाना कठिन है; शीत प्रधान देशों में शीतकाल में तम्बुओं में नहीं रहा जा सकता है; गर्म प्रधान देशों में घरों को गर्मी में गर्म नहीं किया जाता है; यदि धरती में कोई धातुएँ नहीं हैं तो तुम उनको आकाश से नहीं ला सकते हो या अपनी अंगुलियों से नहीं खींच सकते हो।

ख. समाज और प्रकृति का सम्बन्ध; उत्पादन और पुनरुत्पादन की प्रक्रिया

हम पहले से जानते हैं कि किसी प्रणाली में परिवर्तन का कारण, इसके पर्यावरण के साथ इसका जो सम्बंध है, उसमें खोजना चाहिए, और विकास की आधारभूत दिशा प्रगति, विश्राम या प्रणाली का विनाश इस बात पर निर्भर करती है कि प्रदत्त प्रणाली और इसके पर्यावरण के बीच क्या सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का कोई परिवर्तन स्वयं प्रणाली में उत्पन्न

परिवर्तन के कारण को खोजने के लिए प्रेरित करता है। समाज और प्रकृति के बीच का सतत परिवर्तनशील सम्बन्ध हम कहाँ खोजेंगे?

हमने पहले ही देखा है कि यह परिवर्तनशील सम्बन्ध सामाजिक श्रम के क्षेत्र में है। वास्तव में, मानव–समाज की प्रकृति से अनुकूलन की प्रक्रिया अपने को किस प्रकार सम्पन्न करती है।

समाज और प्रकृति के बीच अस्थिर संतुलन की क्या विशेषता है? मानव–समाज जब से प्रारम्भ हुआ है, तब से उसे बाह्य प्रकृति से भौतिक शक्ति ग्रहण करनी पड़ी है; इन ऋणों के बिना इसका अस्तित्व सम्भव नहीं था। समाज प्रकृति से अधिक–से–अधिक शक्ति शोषण करके ही प्रकृति के अनुकूल अपने को बनाता है; केवल इस शक्ति की मात्रा में वृद्धि करके ही समाज अपने विकास में सफल होता है। उदाहरण के लिए, हम मान लें कि एक निश्चित दिन सब श्रम रुक जाए : सब कारखाने, मशीन की दुकानें, खानें, रेलमार्ग, जल–थल के आवागमन के साधन, खेत और जंगल के सब कार्य रुक जाएँ, तो समाज एक सप्ताह भी अपना अस्तित्व बनाए रखने में सक्षम नहीं होगा। ''प्रत्येक बालक जानता है कि एक साल के लिए नहीं, बल्कि कुछ सप्ताहों के लिए ही यदि काम रुक जाए, तो राष्ट्र भूखों मरने लगे।'' मनुष्य खेती करता है, गेहूँ, राई और मक्का पैदा करता है, जानवरों को खाना और घास खिलाता है; रुई, सन और बीज पैदा करता है, पेड़ काटता है; पत्थर तोड़ता और इस प्रकार भोजन वस्त्र और आश्रय की पूर्ति करता है। वह धरती से कोयले और लोहे के खनिजों को प्राप्त करता है तथा लोहे से बड़ी–बड़ी मशीनें बनाता है और प्रकृति में विभिन्न दिशाओं में प्रवेश करता है, संपूर्ण धरती को विशाल कारखानों में परिणत करता है जिनमें मनुष्य हथौडे चलाते हैं, बेचों में बैठकर काम करते हैं, धरती में छेद करते हैं, रेलों के चलने के लिए पहाड़ों में सुरंगे बनाते हैं, समुद्र की छाती चीरते हुए विशालकाय जहाज चलाते हैं, विपुल भारवाही वायुयान आकाश में उड़ाते हैं, धरती पर रेलों का जाल बिछाते हैं, सुदूर गांवों से लेकर कोलाहलपूर्ण नगरों तक वे अपनी उदरपूर्ति के लिए कार्य करते हैं और सदा प्रकृति से अपना अनुकूलन करते हैं तथा प्रकृति को अपने अनुकूल बनाते हैं। प्रकृति का एक भाग बाह्य प्रकृति, जिसे हम पर्यावरण कहते हैं, उस दूसरे भाग के प्रतिकूल है जिसे हम मानव–समाज कहते हैं। इस एक समष्टि के इन दो भागों

के बीच के संपर्क का स्वरूप मानव–श्रम की प्रक्रिया है। ''सर्वप्रथम श्रम एक प्रक्रिया है, जिसमें मनुष्य और प्रकृति दोनों भाग लेते हैं और जिसमें मनुष्य अपनी इच्छानुसार मनुष्य और प्रकृति के बीच की भौतिक प्रक्रियाओं को प्रारम्भ, विनियमित और नियंत्रित करता है। वह प्रकृति का एक शक्ति के रूप में स्वयं प्रतिरोध करता है।'' समाज और प्रकृति के बीच का निकटतम सम्बन्ध, अर्थात् प्रकृति से शक्ति–शोषण का कार्य, एक भौतिक प्रक्रिया है। ''प्रकृति के उत्पादनों को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल विनियोग करने के लिए मनुष्य अपने हाथों, पैरों, सर और बाजुओं को क्रियाशील करता है।''

प्रकृति और समाज के बीच की उपापचयन (मेटाबोलिज्म) की भौतिक प्रक्रिया, पर्यावरण और प्रणाली, भौतिक दशाओं और मानव–समाज के बीच का आधारभूत सम्बन्ध है।

यदि समाज को जीवित बनाए रखना है, तो उत्पादन की प्रक्रिया का सतत पुनर्नवीकरण करते रहना चाहिए। यदि हम मानते हैं कि किसी काल में एक निश्चित मात्रा में गेहूँ, जूते, कमीजें आदि उत्पादित किए गए हैं, और उसी काल में ये सब खा डाले गए हैं, पहन कर फाड़ डाले गए हैं तथा प्रयुक्त किए जा चुके हैं, तो इससे स्पष्ट है कि उत्पादन को अपने चक्र की तुरन्त पुनरावृत्ति करनी चाहिए, वास्तव में इसकी पुनरावृत्ति निरंतर होती रहनी चाहिए। प्रत्येक चक्र के बाद एक दूसरा चक्र प्रारम्भ होना चाहिए। इन उत्पादक चक्रों के आवर्तन की दृष्टि से उत्पादन की प्रक्रिया पुनुरुत्पादन की प्रक्रिया कहलाती है। पुनरुत्पादन की प्रक्रिया की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि इसकी समस्त भौतिक दशाओं की पुनरावृत्ति की जाए। उदाहरण के लिए, सूत के उत्पादन के लिए हमें कर्घे की आवश्यकता है; कर्घे के लिए हमें स्टील की आवश्यकता है, स्टील के लिए हमें कच्चे लोहे और कोयले की आवश्यकता है; इन वस्तुओं को भेजने के लिए रेलवे मार्ग की आवश्यकता है, इस प्रकार रेल की पटरियों, डिब्बों और इंजनों की आवश्यकता है; इनके अतिरिक्त सड़कों, जलयानों, कारखानों के भवनों आदि अनेक वस्तुओं की आवश्यकता है, दूसरे शब्दों में, हमें विभिन्न प्रकार के भौतिक उत्पादनों की बहुसंख्यक वस्तुओं की आवश्यकता है। वास्तव में, उत्पादन की प्रक्रिया में इन भौतिक उत्पादों का क्षरण होता है। कुछ वस्तुओं का क्षरण बहुत तीव्र गति से होता है और कुछ का कम; जुलाहों द्वारा प्राप्त किया गया भोजन पूर्ण रूप से खा लिया जाता

है और कर्घे टूट–फूट जाते हैं, गोदाम पुराने हो जाते हैं जिन्हें मरम्मत की आवश्यकता हो जाती है, इंजनों की सफाई आवश्यक हो जाती, मोटरों और टाइपों को बदलने की आवश्यकता हो जाती है। वास्तव में, समस्त नष्ट, प्रयुक्त की गई और उपभोग की गई वस्तुओं के स्थान में निरंतर नए उत्पादनों को स्थान देना पुनरुत्पादन की प्रक्रिया की आवश्यक दशा है। किसी भी प्रदत्त क्षण में पुनरुत्पादन की प्रगति को बनाए रखने के लिए मनुष्य–समाज को एक निश्चित मात्रा में खाद्य–पदार्थों, भवनों, खनिज उत्पादों, औद्योगिक उत्पादों आदि की आवश्यकता होती है। इन समस्त वस्तुओं का उत्पादन होना चाहिए, यदि समाज अपने रहन–सहन के स्तर को नीचा नहीं गिराना चाहता है। गेहूं से लेकर राई, कोयला, लोहा माइक्रोस्कोप, खड़िया, स्कूल, पुस्तकों की जिल्दों, अखवारों आदि सभी के उत्पादन की आवश्यकता है, क्योंकि ये समस्त वस्तुयें समाज के भौतिक उलट–फेर का एक आवश्यक अंग हैं, वे पुनरुत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के भौतिक संघटक हैं।

अतः समाज और प्रकृति के बीच के उपापचयन को हम भौतिक प्रक्रिया के रूप में मानते हैं, क्योंकि यह भौतिक वस्तुओं से सम्बन्धित है (श्रम के लक्ष्यों, श्रम के उपकरणों, श्रम से उत्पादित वस्तुओं आदि समस्त भौतिक वस्तुओं से सम्बन्धित है); दूसरी ओर श्रम की प्रक्रिया स्वयं ही शरीर क्रियात्मक ऊर्जा, स्नायु ऊर्जा मांसपेशियों की ऊर्जा का व्यय है। इन ऊर्जाओं की भौतिक अभिव्यक्ति काम में लगे हुए व्यक्तियों की भौतिक गतिशीलता में होती है। ''यदि हम इसके परिणामों की दृष्टि से संपूर्ण प्रक्रिया की परीक्षा करें तो यह स्पष्ट है कि श्रम के विषय और उपकरण दोनों उत्पादन के साधन हैं, तथा श्रम स्वयं उत्पादक श्रम है।''

जैसा हमने देखा है कि मनुष्य और प्रकृति बीच के उपापचयन में बाह्य प्रकृति से समाज में भौतिक ऊर्जा हस्तान्तरित होती है। मानवीय ऊर्जा का व्यय प्रकृति से ऊर्जा का शोषण है जो समाज को प्रदान की जाती है (समाज के सदस्यों के बीच उत्पादित वस्तुओं का विवरण) तथा समाज द्वारा विनियोजित (उपभोग) होती है; यह विनियोजन पुनः व्यय करने का आधार है, आदि, इस प्रकार पुनरुत्पादन का चक्र सतत गतिशील रहता है। समग्र रूप में पुनरुत्पादन की प्रक्रिया में अनेक पक्ष सन्निहित हैं, जो परस्पर मिलकर एक इकाई का कार्य करते हैं, जिनके आधार में पुनः वही उत्पादन की प्रक्रिया होती है। यह स्पष्ट है कि उत्पादन

की प्रक्रिया में ही मानव–समाज बाह्य प्रकृति के प्रत्यक्ष संपर्क में आता है। यहीं पर यह प्रकृति से कंधे–से–कंधा मिलाता है; अतः पुनरुत्पादन की प्रक्रिया में उत्पादक पक्ष वितरण और उपभोग का भी निर्धारण करता है।

सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया मानव–समाज का बाह्य प्रकृति से अनुकूलन है। प्रक्रिया सक्रिय है। जब कभी एक प्रकार का प्राणी प्रकृति से अनुकूलन करता है, तो यह प्राणी मूल रूप से अपने पर्यावरण की सतत क्रिया का विषय है। जब मानव–समाज अपने पर्यावरण से अनुकूल करता है, न कि एक पदार्थ के रूप में प्रकृति की क्रिया का विषय बना रहता है, बल्कि साथ–साथ पदार्थ के रूप में प्रकृति को मानवीय क्रिया के लिए रूपांतरित करता रहता है। उदाहरण के लिए, कुछ कीड़े–मकोड़ों और चिड़ियों का रंग उनके प्र्यावरण से मिलता–जुलता होता है, तो यह प्रघटना इन जीवों के किसी प्रयत्न का परिणाम नहीं है और न बाह्य प्रकृति पर उनकी किसी क्रिया का परिणाम है। यह परिणाम सहस्रों जीवों के विनाश के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है। सहस्रों वर्षों के उपरांत जो जीव अनुकूलन कर सके, वही अवशिष्ट रहे, और उन्हीं की संख्या में वृद्धि हुई। मानव–समाज प्रकृति से संघर्ष करता है : मनुष्य धरती जोतता है, बीहड़ जंगलों के बीच मार्ग बनाता है, प्रकृति की शक्तियों पर विजय पाता है, उन्हें अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयोग करता है, पृथ्वी के संपूर्ण स्वरूप को परिवर्तित करता है; यह निष्क्रिय नहीं, सक्रिय अनुकूलन है तथा मानव–समाज और अन्य प्रकार के जीवों में यही आधारभूत अंतर है।

ग. उत्पादक शक्तियाँ; समाज और प्रकृति के सम्बन्ध की सूचक उत्पादक शक्तियाँ

इस प्रकार समाज और प्रकृति के बीच का अंतर सम्बन्ध सामाजिक पुनरुत्पादन की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में समाज अपने मानव–श्रम की ऊर्जा का प्रयोग करता है और प्रकृति से निश्चित मात्रा में ऊर्जा प्राप्त करता है। व्यय और उपलब्धि के बीच का संतुलन ही स्पष्ट रूप से यहाँ पर समाज के विकास का निर्णायक तत्त्व है। जो कुछ प्राप्त होता है, यदि वह व्यय किए गए श्रम से अधिक है, तो समाज के लिए इसके परिणाम महत्त्वपूर्ण होते हैं। ये परिणाम इस वृद्धि की मात्रा के अनुसार भिन्न–भिन्न होते हैं।

मान लीजिए, किसी समाज को अपनी अत्यधिक आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने काम करने का पूरा समय लगाना पड़ता है। स्पष्ट है कि जैसे ही नई वस्तुओं का उत्पादन होगा, तो तुरन्त ही उनका उपभोग हो जाएगा। अतः इस समाज के पास आवश्यक वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए पर्याप्त समय नहीं होगा, जिससे वह समाज अपनी नई आवश्यकतायें नहीं बढ़ा सकेगा एवं अपने उत्पादनों को प्रचिलित नहीं कर सकेगा, इसे दोनों वक्त भोजन प्राप्त करना ही मुश्किल होगा; जो कुछ उत्पन्न करेगा उसको खा लेगा। केवल जीवित रहने के लिए ही उत्पादन सम्भव हो सकेगा, इसका संपूर्ण समय वस्तुओं की एक ही प्रकार की मात्रा के उत्पादन में व्यय होगा। समाज का स्तर वही नीचा बना रहेगा। इसे अपनी आवश्यकताओं का बढ़ाना सम्भव नहीं होगा; उसे अपने स्रोतों के अनुसार आवश्यकताओं को बनाना होगा और इस प्रकार दोनों अपरिवर्तित रहेंगे। अब मान लीजिए कि किसी कारण से आवश्यक वस्तुओं की वही मात्रा समाज का पूरा श्रम व्यय करने के बजाय आधे समय में ही प्राप्त हो जाती है।

ऐसी स्थिति में यह समाज जितने समय पहले काम करता था उसके आधे समय में ही उसका काम पूरा हो जाएगा और आधा समय खाली रहेगा। इस खाली समय में यह नए प्रकार के उत्पादन कर सकता है, नए औजारों और यन्त्रों का निर्माण कर सकता है; नया कच्चा माल प्राप्त कर सकता है; आदि तथा कुछ मानसिक श्रम भी कर सकता है। यहां हर नए प्रकार की मांगों का जन्म सम्भव हो जाता है, क्योंकि सबसे पहली बार तथाकथित ''मानसिक संस्कृति'' के जन्म और विकास के लिए अवसर प्राप्त हुआ है। यदि अब इस खाली समय को पहले प्रकार के श्रम को परिपूर्ण बनाने में आंशिक रूप से लगाया गया है, तो भविष्य में पहले की माँगें, पहले के काम करने के समय के आधे से भी कम समय में पूरी हो सकती है (श्रम–प्रक्रिया में नई परिपूर्णता उत्पन्न होती है); पुनरुत्पादन के दूसरे चक्र में और भी कम समय की आवश्यकता होती है आदि, इस प्रकार जो समय बचता है, वह एक ओर विकसित औजारों, उपकरणों और यंत्रों के बनाने में लगाया जाएगा और दूसरी ओर उत्पादन की नई शाखाओं, नई आवश्यकताओं की पूर्ति में लगाया जाएगा, तथा तीसरी और ''मानसिक संस्कृति''

के उन पक्षों का विकास किया जाएगा, जो न्यूनाधिक रूप से उत्पादन की प्रक्रिया से सम्बन्धित है।

मान लीजिए कि आवश्यक वस्तुओं की उसी मात्रा को प्राप्त करने के लिए अब पहले से आधे समय के बजाय दुगने समय की आवश्यकता होती है; इससे स्पष्ट है कि जब तक श्रम की नई विधियों की खोज नहीं होती, नई जमीन नहीं खोजी जाती तो इस समाज का पतन हो जाएगा, इसके कुछ सदस्यों की मृत्यु हो जाएगी। आगे यह मान लें कि एक उच्च विकसित समाज, जो ''मानसिक संस्कृति'' से सुसम्पन्न है, जिसकी आवश्यकतायें बहुविध हैं, जिसके उत्पादन की अनन्त शाखायें हैं, जो कला और संस्कृति की दृष्टि से पूर्ण उत्कर्ष पर है, एक समय अचानक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में कठिनाई अनुभव करता है; संभवतः कुछ कारणों से समाज अपने यान्त्रिक साधनों का उपयोग नहीं कर पाता है (उदाहरण के लिए वहां पर निरंतर वर्ग–संघर्ष चल सकता है और कोई वर्ग विजयी नहीं हो पाता है तथा अपनी उच्च विकसित प्रौद्योगिकी के साथ उत्पादन–प्रक्रिया नष्ट हो जाती है); तब यह आवश्यक है कि समाज श्रम की पुरानी अवस्था में लौटे जिसमें पहले की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बहुत अधिक समय की आवश्यकता होगी, यह वर्तमान परिस्थितियों में एक असम्भव–सा कार्य होगा; उत्पादन कम हो जाएगा, रहन–सहन का स्तर नीचे गिर जाएगा, उदीयमान कलाओं और विज्ञानों का विकास अवरुद्ध हो जाएगा, मानसिक जीवन क्षीण होने लगेगा। यदि रहन–सहन के स्तर का पतन या **ह्रास** केवल अस्थायी कारणों के परिणाम स्वरूप नहीं है, तो समाज बर्वर अवस्था में पहुंच जाएगा, सुषुप्तावस्था में पहुंच जाएगा।

इन समस्त उदाहरणों में सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि समाज का विकास उपज या सामाजिक श्रम की उत्पादनशीलता द्वारा निर्धारित होता है; श्रम की उत्पादनशीलता का आशय है प्राप्त उत्पादित वस्तुओं की मात्रा तथा व्यय हुए श्रम की मात्रा के बीच का सम्बंध; दूसरे शब्दों में श्रम की उत्पादनशीलता, काम के समय की प्रति इकाई में उत्पादित वस्तुओं की मात्रा है, उदाहरण के लिए एक दिन, एक घंटे या एक वर्ष में उत्पादित वस्तु की मात्रा। यदि यह उत्पादित वस्तु की मात्रा प्रति काम के घंटे में, दुगनी हो जाए, तो हम कहते

हैं कि श्रम की उत्पादनशीलता 100 प्रतिशत बढ़ गई है और यदि यह आधी हो जाए तो हम कहते हैं कि यह घट कर 50 प्रतिशत रह गई है।

स्पष्ट है कि श्रम की उत्पादनशीलता समाज और प्रकृति के बीच के संतुलन की सूक्ष्म माप है; यह पर्यावरण तथा उस प्रणाली के बीच की पारस्परिक अंतर–क्रिया की माप है जिससे प्रणाली की स्थिति पर्यावरण में निर्धारित होती है और जिसमें परिवर्तन करने से समाज के सम्पूर्ण आन्तरिक जीवन में अपरिहार्य रूप से परिवर्तन सूचित होंगे।

समाजिक श्रम की उत्पादनशीलता पर विचार करने में, हमें श्रम के व्यय पर विचार करते समय मानवीय श्रम की उस मात्रा को भी ध्यान में रखना चाहिए, जो श्रम के उपयुक्त उपकरणों के उत्पादन में लगायी जाती है। उदाहरणार्थ, यदि पहले कोई वस्तु केवल मनुष्यों के हाथों द्वारा बनायी गई है, व्यावहारिक रूप से उसमें किसी यंत्र का उपयोग नहीं हुआ है और अब उसका निर्माण एक जटिल यंत्र की सहायता से किया जाने लगा है और यदि इस मशीन का उपयोग उत्पादित वस्तुओं की मात्रा के उत्पादन को उतने ही समय में पहले से दुगुना कर देता है, तो इसका आशय यह नहीं होगा कि सम्पूर्ण समाज के श्रम की उत्पादनशीलता दुगनी हो जाएगी। इसका कारण यह है कि हमने उस मानवीय श्रम के व्यय का हिसाब नहीं लगाया है, जो मशीनों के निर्माण में लगा था (या यह कहना अधिक ठीक होगा कि हमने उस श्रम का हिसाब नहीं लगाया है जो अप्रत्यक्ष रूप से वस्तुओं के उत्पादन में लगा है; क्योंकि यह श्रम प्रत्यक्ष रूप से मशीनों के निर्माण में लगा था)। अतः श्रम की सम्पूर्ण उत्पादनशीलता दुगने की अपेक्षा कुछ कम होगी।

इस प्रकार प्रकृति और समाज के बीच का सम्बंध प्राप्त उपयोगी ऊर्जा की मात्रा तथा व्यय हुए सामाजिक श्रम, अर्थात् सामाजिक श्रम की उत्पादनशीलता, के बीच के सम्बन्ध में व्यक्त होता है। श्रम के व्यय के दो संघटक होते है : वह श्रम जो उत्पादन के उपकरणों में सन्निहित और संचित होता है तथा जीवंत श्रम अर्थात् काम करने की ऊर्जा का प्रत्यक्ष व्यय। यदि इस मात्रा के संघटक भौतिक कारकों की दृष्टि से मात्रा के रूप में श्रम की उत्पादनशीलता को माना जाए, तो हम पाते हैं : प्रथम, प्राप्त उत्पादित वस्तुओं की मात्रा;

द्वितीय, उत्पादन के उपकरणों की मात्रा; तृतीय, उत्पादक शक्तियों की मात्रा अर्थात् चेतन कर्मी। ये समस्त मात्रायें अन्योन्याश्रित हैं क्योंकि यदि हम जानते हैं कि कौन से कर्मी सम्बंधित हैं तो यह भी जानेंगे कि वे निश्चित अवधि में क्या–क्या उत्पादन करेंगे, ये दो मात्रायें तीसरी मात्रा निश्चित करती हैं अर्थात् जो उत्पादन हुआ है, उसकी मात्रा निश्चित करती हैं। ये दोनों मात्राएं एक साथ मिलकर समाज की भौतिक उत्पादक शक्तियों का निर्माण करती है। किसी निश्चित समाज के संदर्भ में यदि हम यह जानते हैं कि यह उत्पादन के किन उपकरणों का उपयोग करता है, इस प्रकार के उपकरण कितने हैं, किस प्रकार के कर्मी हैं और कितने हैं, तो हम यह भी जानेंगे कि सामाजिक श्रम की उत्पादनशीलता क्या होगी, तथा किस अंश तक यह समाज प्रकृति पर विजय पाएगा आदि। दूसरे शब्दों में, उत्पादन के उपकरण और उत्पादन की कार्यकारी शक्तियां सामाजिक विकास या वृद्धि में प्राप्त अवस्था के लिए एक सूक्ष्म भौतिक माप प्रदान करती हैं।

अब हम इस विषय पर और अधिक गंभीरता से विचार कर सकते हैं। हम यहाँ तक कह सकते हैं कि उत्पादन के उपकरण, कर्मी की प्रकृति का भी निर्धारण करते हैं। उदाहरण के लिए, जब सामाजिक श्रम की प्रणाली में लीनो टाइप मशीन आ जाती है तो कर्मी मशीन को चलायेंगे। अतः श्रम–प्रक्रिया में क्रियाशील तत्त्व केवल व्यक्तियों और वस्तुओं का संकलन मात्र नहीं हैं, बल्कि वे एक ऐसी प्रणाली के अन्तर्गत व्यवस्थित हैं, जिसमें समस्त वस्तुएं और समस्त व्यक्ति अपने–अपने स्थानों में एक दूसरे के अनुकूल हो गए हैं। किसी प्रकार के उत्पादन के साधनों के होने में उन साधनों को चलाने वाले कर्मियों का होना भी निहित है। हम इन उत्पादन के साधनों को भी दो स्थूल समूहों में विभक्त कर सकते हैं : कच्चा माल और श्रम के उपकरण। श्रम के उपकरण (औजार) भी सक्रिय योगदान करते हैं, इन्हीं की सहायता से कर्मी कच्चे माल को नया रूप देता है। किसी समाज में इसी प्रकार के औजारों के होने पर वहां उस कच्चे माल का होना भी निश्चित है, जो इन उपकरणों के उपयोग के लिए आवश्यक होता है (निश्चित ही पुनरुत्पादन की सामान्य अवस्था में)। अतः हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि श्रम के सामाजिक उपकरणों की प्रणाली अर्थात् किसी समाज की प्रौद्योगिकी, समाज और प्रकृति के सम्बन्ध की सूक्ष्म भौतिक सूचक है। समाज की

भौतिक उत्पादक शक्तियां तथा सामाजिक श्रम की उत्पादनशीलता इस प्रौद्योगिक प्रणाली में अपनी अभिव्यक्ति पायेंगे। ''समाज के विलुप्त आर्थिक स्वरूपों की खोजने के लिए श्रम के विगत उपकरणों के अवशेषों का वही महत्त्व है, जो जीवों की विलुप्त जातियों के निर्धारण के लिए पुराने अस्थिपंजर और हड्डियों का है। विभिन्न आर्थिक युगों में भेदकरण करने के लिए उन युगों की वस्तुओं का महत्त्व नहीं है, बल्कि यह जानना आवश्यक है कि ये कैसे बनायी गयी हैं और किन उपकरणों द्वारा बनायी गई हैं।

इस प्रश्न पर हम दूसरे दृष्टिबिन्दु से भी विचार कर सकते हैं। जीव जब प्रकृति से अनुकूलन करते हैं, तो उनके विभिन्न अंगों में परिवर्तन होता है, जो निष्क्रिय जैविकीय अनुकूल होता है। लेकिन मानव–समाज प्रकृति से अपना अनुकूलन जैविकीय रीति से नहीं करता बल्कि प्रौद्योगिक और सक्रिय रूप में करता है। मार्क्स कहता है, ''श्रम का उपकरण एक वस्तु है या वस्तुओं का योग है जिसे श्रमिक अपने तथा अपने श्रम के विषय के बीच में रखता है। वह अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए कुछ वस्तुओं को काम में लाने के लिए कुछ पदार्थों के यांत्रिक, भौतिक और रासायनिक गुणों का उपयोग करता है। इस प्रकार प्रकृति उसकी क्रियाशीलता का एक अंग बन जाती है, यह वह है जिसे वह अपने शारीरिक अंगों में जोड़ लेता है और जिससे वह अपनी स्वाभाविक ऊंचाई में संवृद्धि कर लेता है।'' मानव–समाज अपनी प्रौद्योगिकी के द्वारा उन अंगों की कृत्रिम प्रणाली का निर्माण करता है, जो स्वयं प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष, निकटतम और सक्रिय अनुकूलन है। (प्रासंगिक रूप में यह कहा जा सकता है कि इससे मनुष्य का प्रकृति के साथ सतही प्रत्यक्ष शारीरिक अनुकूलन होता है, गुरिल्ला तक की तुलना में मनुष्य एक निर्बल प्राणी है; वह प्रकृति के साथ संघर्ष करने में अपने जबड़ों की सहायता नहीं लेता है, बल्कि एक यांत्रिक प्रणाली का उपयोग करता है।) जब हम इस दृष्टिकोण से विचार करते हैं, तो यह प्रश्न उसी निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि समाज की प्रौद्योगिक प्रणाली समाज और प्रकृति के बीच के सम्बन्ध की सूक्ष्म भौतिक सूचक (मैटेरियल इंडीकेटर) के रूप में कार्य करती है।

घ. प्रकृति और समाज में संतुलन; इसकी अव्यवस्थाएँ और पुनर्व्यवस्था

समग्र रूप में विचार करने पर हम पाते हैं कि पुनरुत्पादन की प्रक्रिया समाज और प्रकृति के बीच के संतुलन की सतत अव्यवस्था और पुनर्प्रतिष्ठा की प्रक्रिया है।

मार्क्स सरल पुनरुत्पादन और प्रसरणशील पुनरुत्पादन में अन्तर करता है।

आइए, पहले हम सरल पुनरुत्पादन पर विचार करें। हमने देखा है कि उत्पादन की प्रक्रिया में उत्पादन के साधन प्रयुक्त हो चुके हैं (कच्चे माल पर काम किया जा चुका है, विभिन्न सहायक वस्तुएँ आवश्यक हैं, जैसे–तेल, गूदड़ आदि; मशीनें, कारखानों के भवन तथा सभी प्रकार के उपकरण और उनके अंग टूट–फूट चुके हैं); दूसरी ओर श्रम–शक्ति चुक चुकी है (जब व्यक्ति काम करते हैं तो वे भी क्षीण होते हैं, उनकी श्रम शक्ति चुक जाती है तथा उनकी श्रम–शक्ति को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए निश्चित धन व्यय करने की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है)। उत्पादन की प्रक्रिया चलती रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें पुनरुत्पादन हो। उदाहरण के लिए, सूत की वस्तुओं के उत्पादन में कच्चे माल के रूप में रुई की खपत होती है, जबकि कर्घा यंत्र का क्षरण होता है। उत्पादन को बनाए रखने के लिए कहीं पर रुई का उत्पादन होता रहना चाहिए तथा कर्घे भी बनते रहने चाहिये। एक अवसर पर रुई के सूत में रूपान्तरित होने के कारण रुई का अभाव हो जाता है और दूसरे अवसर पर सूत का लोप हो जाता है (क्योंकि कर्मी उनका उपयोग कर डालते हैं) और रुई पुनः प्रकट हो जाती है। एक अवसर पर कर्घे शनैः–शनैः नष्ट होते रहते हैं, जबकि दूसरे अवसर पर वे बनाए जाते हैं। दूसरे शब्दों में, एक स्थान के लिए आवश्यक उत्पादन के तत्त्व दूसरे स्थान में उत्पन्न किए जाने चाहिए; उत्पादन के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु का निरन्तर प्रतिस्थापन होता रहना चाहिए। यदि यह प्रतिस्थापन सरलता से होता रहता है तथा उसी गति से होता है जिस गति से वस्तुओं का लोप होता है, तो हम इसे सरल उत्पादन का उदाहरण कहेंगे, जिसमें उत्पादक सामाजिक श्रम समान रूप में बना रहता है, उत्पादित शक्तियाँ अपरिवर्तित रहती हैं और न समाज आगे बढ़ता है न पीछे। इससे स्पष्ट है कि यह समाज और प्रकृति के बीच के स्थिर संतुलन का उदाहरण है। इसमें संतुलन का सतत भंग होना

(उपभोग की वस्तुओं का लोप तथा क्षरण) और संतुलन की सतत पुनर्प्रतिष्ठा (उत्पादित वस्तुओं का पुनः प्रकट होना) सन्निहित है; लेकिन यह पुनर्प्रतिष्ठा एक पुराने आधार पर होती है : जितना उपभोग होता है, उतना ही उत्पादन होता है; और पुनः जितना उत्पादन होता है, उतना ही उपभोग होता है। यहां पुनरुत्पादन की प्रक्रिया उसी पुरानी धुन का नृत्य है।

लेकिन जहाँ उत्पादक शक्तियां बढ़ रही हैं, वहाँ स्थिति भिन्न है। जैसा हमने देखा है, यहाँ सामाजिक श्रम का एक अंश मुक्त हो जाता है और सामाजिक उत्पादन के प्रसार में लगा दिया जाता है (उत्पादन की नई शाखाओं के खोजने और पुरानी शाखाओं के विस्तार में लगा दिया जाता है)। इसमें पहले से वर्तमान उत्पादन के तत्त्वों का प्रतिस्थापना ही नहीं होती है, बल्कि उत्पादन के नवीन चक्र में नए तत्त्वों का समावेश भी होता है। यहां उत्पादन उसी मार्ग पर नहीं चलता और उसी वृत्त में परिभ्रमण नहीं करता, बल्कि उसके क्षेत्र में वृद्धि होती है। यह विस्तृत उत्पादन है, जिसमें संतुलन की प्रतिष्ठा सदा नए आधार पर होती है; साथ ही साथ एक निश्चित उपभोग की तुलना में अधिक उत्पादन होता है; फलतः उपभोग भी बढ़ता है, लेकिन उत्पादन और भी अधिक बढ़ता है। प्रत्येक अवस्था में संतुलन व्यापक आधार पर होता है; अब हम सकारात्मक संकेतों से युक्त अस्थिर संतुलन पर विचार कर रहे हैं।

अंतिम और तीसरी स्थिति उत्पादक शक्तियों के ह्रास की है। इस स्थिति में पुनरुत्पादन की प्रक्रिया निष्क्रिय हो जाती है : लघु से लघुतम मात्राओं में पुनरुत्पादन होता है। एक निश्चित मात्रा का उपभोग होता है, लेकिन पुनरुत्पादन उससे अल्प मात्रा में ही होता है; तब कम उपभोग होता है और फिर उससे भी कम पुनरुत्पादन होता है, आदि–आदि। यहाँ पुनः पुनरुत्पादन प्रत्येक अवस्था में उसी पुराने चक्र की आवृत्ति नहीं करता है; समाज के जीवन की दशा निर्धनता की ओर बढ़ती जाती है। समाज और प्रकृति के बीच के संतुलन की पुनर्प्रतिष्ठा उस स्तर पर होती है जो प्रत्येक बार नीचे की ओर चलता रहता है।

इस बीच समाज निरंतर गिरते हुए जीवन के स्तर से अपना अनुकूलन कर रहा है, जो केवल समाज के आंशिक विघटन के द्वारा ही हो सकता है। यहां पर हम नकारात्मक संकेतों

से युक्त अस्थिर संतुलन पर विचार कर रहे हैं। इस स्थिति में पुनरुत्पादन को नकारात्मक रूप से विस्तृत पुनरुत्पादन या पुनरुत्पादन की विस्तृत अपर्याप्तता कहा जा सकता है।

समस्त दृष्टिकोणों से विचार करने पर हमने सदा एक ही परिणाम पाया है, अर्थात्, प्रत्येक अवस्था समाज और प्रकृति के बीच के संतुलन की विशेषता पर आधारित है। चूंकि उत्पादक शक्तियाँ इस संतुलन की सूक्ष्म अभिव्यक्ति का कार्य करती हैं, इसलिए ये शक्तियाँ इसके लक्षणों को समझने में हमें सहायता करती हैं। यही बात उस समय भी लागू होती है, जब हम समाज की प्रौद्योगिकी की चर्चा कर रहे होते हैं।

ङ– समाजशास्त्रीय विश्लेषण में उत्पादक शक्तियां विचलन–विन्दु के रूप में

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे अपरिहार्य रूप से निम्नाकिंत वैज्ञानिक नियम प्रतिफलित होता है : समाज, इसके विकास की परिस्थितियों, इसके स्वरूपों, आदि के किसी अन्वेषण को उत्पादक शक्तियों के विश्लेषण अथवा समाज के प्रौद्योगिक आधारों से प्रारम्भ करना चाहिए। आइए हम पहले कुछ उन आपत्तियों पर विचार कर लें, जो इस दृष्टिकोण के विरुद्ध की गई हैं या की जा सकती हैं।

सबसे पहले हम उन कुछ आपत्तियों पर विचार करें जो उन विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं जो सामान्य रूप से भौतिकवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं। इनमें से एक हैनरिच कनाऊ हैं; जो कहते हैं कि औद्योगिकी ''बहुत अधिक सीमा तक प्रकृति की दशाओं से सम्बंधित है। उदाहरण के लिए, कुछ कच्चे माल की उपलब्धि यह निर्धारित करती है कि अमुक प्रकार की प्रौद्योगिकी विकसित होगी या नहीं; और यदि विकसित होगी, तो उसकी क्या दिशा होगी। जैसे, किसी स्थान में विशेष प्रकार के पत्थर, लकड़ियां, धातुएँ या रेशे अथवा मछलियां नहीं उपलब्ध हैं, तो वहां के मूल निवासी इन प्राकृतिक पदार्थों को स्वयं उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होंगे, अथवा उनसे अपने औजार और हथियार नहीं बना सकेंगे''। इस अध्याय के प्रारम्भ में प्राकृतिक दशाओं के प्रभाव के सम्बंध में हमने कुछ आंकड़े दिए थे। हम प्रकृति की इन दशाओं से क्यों न प्रारम्भ करें? हमारे विधिशास्त्र (मैथडोलाजी) का प्रारम्भ स्वयं प्रकृति से ही क्यों न होना चाहिए। इसमें संदेह नहीं है कि जैसा कनाऊ कहता है, प्रौद्योगिकी

पर इसका प्रचुर प्रभाव है; इसके अतिरिक्त समाज से पहले प्रकृति का निश्चित ही अस्तित्व था। ऐसी स्थिति में जब हम इसे मानवीय समाज के भौतिक यांत्रिक उपकरण के विश्लेषण पर आधारित करते हैं, तो क्या हम सच्चे भौतिकतावाद के प्रति पाप नहीं कर रहे है?

फिर भी, समस्या के सूक्ष्म परीक्षण से ज्ञात होगा कि कनाऊ के निष्कर्ष कितने भ्रामक हैं! निश्चित ही जहाँ पर प्रकृति के गर्भ में कोयला नहीं खोदा जा सकता है। लेकिन इसके साथ ही हम यह भी जोड़ सकते हैं कि तुम इसे अपनी अंगुलियों से नहीं खोद सकते हो और यदि तुम इसके गुणों को नहीं जानते हो, तो तुम्हारे लिए इसका उपयोग करना कठिन होगा। कनाऊ कहता है कि कच्चे माल का अस्तित्व प्रकृति में होता है। लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। मार्क्स के अनुसार कच्चा माल श्रम का उत्पाद है। कनाऊ यह पूर्णतया भूल जाता है कि लकड़ी या रेशे आदि के कच्चे माल की अवस्था में पहुँचने के पूर्व एक निश्चित प्रौद्योगिकी अवश्य विकसित हो जानी चाहिए। कोयला केवल उसी समय कच्चा माल बनता है, जब इस प्रकार की प्रौद्योगिकी विकसित हो गई हो, जिसने धरती के गर्भ से कोयले को निकाल कर, दिन के प्रकाश में उसे प्रस्तुत करने की क्षमता प्रदान की होगी। पदार्थ प्रदान करने आदि की दृष्टि से प्रकृति का प्रभाव स्वयं ही प्रौद्योगिकी के विकास का एक उत्पाद है; कोयले पर प्रौद्योगिकी के विजय पाने के पूर्व कोयले का कोई प्रभाव नहीं था। कच्चे लोहे तक प्रौद्योगिकी के पहुंचने के पूर्व यह कच्चा लोहा अपनी अनंत निद्रा में लीन था; इसका मनुष्य पर प्रभाव शून्य था।

मानव–समाज प्रकृति में और प्रकृति पर कार्य करता है। लेकिन जिस रूप में प्रकृति में तत्त्वों का अस्तित्व होता है, वे न्यूनाधिक रूप में अचल होते हैं, अतः वे परिवर्तन की व्याख्या नहीं कर सकते। यह सामाजिक प्रौद्योगिकी ही है, जो परिवर्तन करती है और जो कुछ प्रकृति में विद्यमान होता है उसके अनुसार अपना अनुकूलन करती है (शून्य स्थान में अनुकूलन करने की कोई संभावना नहीं है)। प्रौद्योगिकी परिवर्तनशील मात्रा है और सूक्ष्म रूप से इसके परिवर्तनों से समाज और प्रकृति के बीच के सम्बन्धों में परिवर्तन होता है; अतः सामाजिक परिवर्तनों के विश्लेषण में प्रौद्योगिकी को एक विचलन बिन्दु (डेविएशन प्वाइण्ट) बनना चाहिए।

सामाजिक विकास की अवधारणा के सम्बन्ध में दूसरी आपत्तियां ये हैं कि हमने जो प्रगति की है, वह जनसंख्या की वृद्धि की निर्णयात्मक और आधारभूत महत्ता पर आधारित है; क्योंकि मानव–स्वभाव में संख्या–वृद्धि की प्रवृत्ति अपरिहार्य रूप से विद्यमान है जो इतिहास के प्रारम्भ से चली आ रही है। यह प्रवृत्ति पशुओं में भी है, यह एक जैविकीय स्वभाव है तथा यह मानव–समाज से भी पुरानी है। क्या सम्पूर्ण उद्विकास का प्रारम्भ इसी प्रक्रिया पर आधारित है? क्या जनसंख्या की वृद्धि के परिणाम और घनत्व से सामाजिक उद्‌विकास का मार्ग निर्धारित नहीं होता है?

वास्तव में, यह प्रकृति के नियम के साथ एक पिछड़ा हुआ तर्क करना होगा; क्योंकि उत्पादक शक्तियों के विकास की अवस्था या प्रौद्योगिक विकास की अवस्था पर ही जनसंख्या की संख्यात्मक वृद्धि की संभावना आधारित होती है। न्यूनाधिक रूप में जनसंख्या की सतत वृद्धि सामाजिक प्रणाली के प्रसार और विकास से कुछ अधिक नहीं है, जो केवल उसी समय सम्भव है जब समाज और प्रकृति के बीच के सम्बन्धों को अनुकूल दिशा में मोड़ दिया गया हो। जब तक जीवन के आधार का विस्तार नहीं होता है, तब तक बहुसंख्यक लोगों का जीवित रहना सम्भव नहीं है; दूसरी ओर जीवन के इन आधारों की दरिद्रता अपरिहार्य रूप से एक लघु जनसंख्या में अपने को व्यक्त करेगी। यह कैसे होता है, यह दूसरा विषय है : ''चाहे यह जन्म–दर घटने से होता हो या इसके कृत्रिम विनियमन से होता हो अथवा मरने की प्रक्रिया से होता हो, रोगों से मृत्यु–संख्याओं की वृद्धि से होता हो, सावयव के अपरिपक्व अवस्था में क्षीण होने से होता हो अथवा जीवन की औसत आयु घटने से होता हो; लेकिन तथ्य यही बना रहता है कि समाज के जीवन के आधारों तथा उसकी जनसंख्या की मात्रा के बीच का यह आधारभूत सम्बन्ध अपने को किसी न किसी रूप में व्यक्त अवश्य करेगा।

इसके अतिरिक्त जनसंख्या के विकास को जनसंख्या–वृद्धि की विशुद्ध जैविकीय (प्राकृतिक) प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करना पूर्णतया अनुचित है। यह प्रक्रिया अनेक सामाजिक दशाओं, जैसे– वर्ग–विभाजन, इन वर्गों की स्थिति और सामाजिक अर्थव्यवस्था के स्वरूपों पर आधारित होती है। समाज के स्वरूप और इसकी संरचना समाज की उत्पादक शक्तियों के उद्विकास पर आधारित हैं। यह पूर्णतया स्पष्ट है कि प्रौद्योगिकी के विकास तथा जनसंख्या के

घटने और बढ़ने, अर्थात् जनसंख्याा में परिवर्तन, के बीच के सम्बन्ध सरल बिल्कुल नहीं हैं। केवल आदिम व्यक्ति ही यही कल्पना कर सकते हैं कि जनसंख्या की वृद्धि की प्रक्रिया मानव–समाज में उसी प्रकार आदिम और सरल रूप में आगे बढ़ती है, जैसे पशुओं में। उदाहरण के लिये, समाज में जनसंख्या की वृद्धि के लिये यह सदा आवश्यक है कि उत्पादक शक्तियों में वृद्धि होनी चाहिये, अन्यथा, जैसा हम पहले बता चुके हैं, अतिरिक्त जनसंख्या को या बढ़ी हुई जनसंख्या को खाने को कुछ नहीं प्राप्त होगा। दूसरी ओर, भौतिक समृद्धता में वृद्धि सदा और सब वर्गों में जनसंख्या की वृद्धि को तीव्र नहीं करती है : जबकि सर्वहारा वर्ग का परिवार जीवन की कठोर परिस्थितियों के कारण अपने परिवार के बच्चों की संख्या कृत्रिम रूप से सीमित कर रहा हो, एक आधुनिका मातृत्व का इसलिये बहिष्कार कर रही हो कि उसका सौन्दर्य विकृत न हो जाये, जबकि फ्रांसीसी किसान दो से अधिक बच्चे इसलिये नहीं चाहता है कि वह अपने खेत को विभाजित नहीं करना चाहता है। अतः जनसंख्या का घटना–बढ़ना अनेक सामाजिक दशाओं का परिणाम है और समाज के स्वरूप, तथा समाज के अंतर्गत विभिन्न वर्गों और समूहों की स्थिति पर आधारित है।

अतः हम जनसंख्या के सम्बन्ध में निम्नांकित मत प्रकट कर सकते हैं : जनसंख्या में वृद्धि निर्विवाद रूप से समाज की उत्पादक शक्तियों की वृद्धि को पहले से ही स्वीकार कर लेती है; दूसरे, प्रत्येक युग, समाज का प्रत्येक स्वरूप, विभिन्न वर्गों की वर्तमान स्थितियाँ, जनसंख्या के परिवर्तन के लिये विशिष्ट नियमों में प्रतिफलित होती हैं। ''जनसंख्या का अमूर्त नियम केवल वृक्षों और पशुओं के लिये ही रहा है, और केवल उसी सीमा तक जहाँ तक मनुष्य ने उनके साथ हस्तक्षेप नहीं किया है;''................. ''उत्पादन के प्रत्येक विशिष्ट ऐतिहासिक रूप के जनसंख्या के अपने विशिष्ट नियम होते हैं, जो केवल अपनी सीमाओं के अन्तर्गत ही ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य होते हैं।'' लेकिन उत्पादन का ऐतिहासिक रूप, अर्थात् समाज का स्वरूप, उत्पादक शक्तियों के विकास, अर्थात् प्रौद्योगिकी के विकास द्वारा निर्धारित होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जनसंख्या के परिवर्तन में प्राकृतिक नियम का अभाव ही निर्णायक कारक है, जबकि उत्पादक शक्तियों का विकास तथा इस विकास की समरूपता स्वयं जनसंख्या के परिवर्तन को निर्धारित करते हैं।

अन्त में, हम ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध की जाने वाली अन्य अनेक आपत्तियों पर विचार कर लें, ये आपत्तियाँ ''प्रजातीय सिद्धान्तों'' के नाम से जानी जाती हैं। इन सिद्धान्तों को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है : समाज में मनुष्य होते हैं; ये मनुष्य इतिहास में सदा एक ही रूप में प्रकट नहीं होते हैं, बल्कि भिन्न–भिन्न रूपों में होते हैं; उनकी खोपड़ियाँ, मस्तिष्क, खालें, बाल, शारीरिक संरचना और फलतः योग्यतायें भिन्न होती हैं। यह स्पष्ट है कि इतिहास के भोज में आमन्त्रित अनेक लोग किए जाएँगे, किन्तु चुने थोड़े ही लोग जाएँगे। कुछ प्रजातियों ने अपने आपको ''ऐतिहासिक'' दिखाया है, क्योंकि इन प्रजातियों का नाम पुनः प्रतिध्वनित होता रहा है, तथा समस्त विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों ने अपने आप को इनसे सम्बन्धित किया है; अन्य प्रजातियाँ, अर्थात् ''निम्नतर प्रजातियाँ'' स्वभावतः किसी योग्य नहीं हैं; वे कुछ उल्लेखनीय उत्पादन नहीं कर सकती हैं; सबसे नीचे वे एक ऐतिहासिक अस्तित्वहीनता का निर्माण करती हैं; ये प्रजातियाँ ''ऐतिहासिक प्रजातियाँ'' कहलाने योग्य नहीं हैं। वे अधिक से अधिक इतिहास के उर्वरक के रूप में कार्य कर सकती हैं, जैसे उपनिवेशों के लोग, विभिन्न आदिम लोग योरोपीय पूँजीवादी सभ्यता के लिये भूमि जोतने का कार्य कर रहे हैं। प्रजाति का यही अन्तर समाज के उद्विकास की भिन्नता का सच्चा कारण है। उद्विकास के विवेचन में प्रजाति को विचलन–बिन्दु होना चाहिये। स्थूल रूप में यही प्रजाति–सिद्धान्त है। जी0वी0 प्लेखनोव ने इस सिद्धान्त पर अपना नितान्त शुद्ध अभिमत इस प्रकार प्रकट किया है : ''किसी ऐतिहासिक प्रघटना के कारण के प्रश्न पर विचार करने में बुद्धिमान और गम्भीर लोग प्रायः ऐसे समाधानों से अपने को संतुष्ट कर लेते हैं, जो बिल्कुल कोई समाधान नहीं देते हैं, और जो केवल एक भिन्न रूप में प्रश्न की पुनरावृत्ति मात्र होते हैं। मान लीजिए कि उपर्युक्त प्रश्न आपने किसी विद्वान् के समक्ष रक्खा; उससे पूछिये कि कुछ प्रजातियाँ सभ्यता के पथ पर तीव्र गति से अग्रसर होती हैं? आपका विद्वान् यह उत्तर देने में संकोच नहीं करेगा कि इस प्रघटना की व्याख्या प्रजातीय गुणों द्वारा होनी चाहिए। क्या आपको इस उत्तर में कोई औचित्य प्रतीत हो सकता है, कि कुछ प्रजातियाँ इसलिये मंद गति से विकास करती हैं कि ऐसा करना उनका एक प्रजातीय गुण है; अन्य प्रजातियाँ इसलिये द्रुतगति से सभ्य होती हैं, क्योंकि अत्यधिक द्रुतगति से सभ्य होने की क्षमता उनके मुख्य प्रजातीय गुणों के कारण होती हैं'' सर्वप्रथम, प्रजाति–सिद्धान्त तथ्यों के विरुद्ध है। जिस निम्नतम प्रजाति को किसी भी विकास

के लिये अक्षम कहा जाता है, वह काली प्रजाति अर्थात् नीग्रो प्रजाति है। लेकिन यह दिखाया जा चुका है कि इस काली प्रजाति के प्राचीन प्रतिनिधियों, तथाकथित कुसाइट लोगों ने, भारत (हिन्दुओं के पूर्व) तथा मिश्र में, अत्यधिक उच्च सभ्यता का सृजन किया था; पीली प्रजाति, जिसे आजकल कुछ थोड़ा समर्थन प्राप्त है, ने भी चीन में एक उच्च सभ्यता को जन्म दिया था, जो अपने समय में तत्कालीन श्वेत लोगों की सभ्यता से अत्यधिक श्रेष्ठ थी; उस समय इन पीत लोगों की तुलना में श्वेत लोग शिशु जैसे थे। अब हम जानते हैं कि प्राचीन ग्रीक लोगों ने असीरिया, बेबीलोनियाँ और मिश्र के लोगों से उधार लिया था। ये कुछ तथ्य यह दिखाने के लिये पर्याप्त हैं कि ''प्रजातीय'' व्याख्या किसी प्रकार की व्याख्या नहीं है : इसका यह उत्तर दिया जा सकता है कि सम्भवतः आप ठीक हैं, लेकिन क्या आप इस सीमा तक यह कह सकेंगे कि एक औसत योरोप–निवासी की योग्यताओं की तुलना में औसत नीग्रो समान स्तर पर है ? इस प्रकार के प्रश्न का विनम्रतापूर्ण उत्तर देना उचित नहीं है, जैसा कि प्रायः कुछ उदार विद्वान् कभी–कभी करते हैं। वे कहते हैं कि वस्तुतः समस्त मनुष्य समान हैं, काण्ट के अनुसार मानव–व्यक्तित्व स्वयं ही अन्तिम विवेच्य है, या ईसा ने सिखाया था कि न तो यहाँ कोई हैलिन है, न कोई यहूदी, आदि। प्रजातियों के बीच समानता की आकांक्षा करना एक चीज है, उनके गुणों की समरूपता को स्वीकार करना कोई दूसरी चीज है। हम उसकी आकांक्षा करते हैं, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है; या हम उन दरवाजों में शक्ति लगा रहे है जो पहले से ही खुले हैं। हम अब इस प्रश्न से सम्बन्धित नहीं हैं कि हमारा क्या लक्ष्य होना चाहिये? हम इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं कि क्या समग्र रूप से श्वेत और काले लोगों के सांस्कृतिक तथा अन्य स्तरों में कोई अन्तर है? इस प्रकार अन्तर है : श्वेत लोग निश्चित ही वर्तमान काल में उच्च स्तर पर हैं, लेकिन इससे केवल यही व्यक्त होता है कि इस समय तथाकथित प्रजातियों ने स्थानों में परिवर्तन किया है।

यह प्रजाति–सिद्धान्त का पूर्णखंडन है। मूलतः यह सिद्धान्त प्रजातियों की विलक्षणताओं तथा उनकी चिरकालीन ''विशेषताओं'' तक ही अपने को सीमित रखता है। यदि ऐसी स्थिति थी, तो इस ''विशेषता'' ने इतिहास के समस्त युगों में अपने को एक ही रूप में व्यक्त किया होता। स्पष्ट निष्कर्ष यह है कि प्रजातियों की ''प्रकृति'' उनके अस्तित्व की परिस्थितियों के

साथ निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। लेकिन ये परिस्थितियाँ, समाज और प्रकृति के बीच के सम्बन्ध अर्थात् उत्पादक शक्तियों द्वारा ही निर्धारित होती हैं। दूसरे शब्दों में, प्रजाति का सिद्धान्त सामाजिक उद्विकास की दशाओं की व्याख्या किसी रूप में किंचित् भी नहीं करता है। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि उत्पादक शक्तियों की गतिशीलता या परिवर्तन से ही विश्लेषण प्रारम्भ होना चाहिए।

6

समाज के तत्त्वों के बीच संतुलन

क. विभिन्न सामाजिक प्रघटनाओं में सम्बन्ध; प्रश्न का सूत्रीकरण

समाज और प्रकृति के सन्तुलन के विवेचन में हमने यह पाया कि यह सन्तुलन निरन्तर भंग होता रहता है और निरन्तर पुनः प्रतिष्ठित होता रहता है, यह विरोधों के अधीन रहता है जिन पर निरन्तर विजय पायी जाती है, और बाद में नये विरोध उत्पन्न हो जाते हैं, तथा इसके पश्चात् पुनः विजय पायी जाती है, और इसी से सामाजिक उद्विकास या सामाजिक पतन का आधारभूत मार्ग बनता है। अतः हमें समाज के इस ''आन्तरिक जीवन'' पर कुछ ध्यान देना चाहिए।

सामाजिक उद्विकास के सापेक्ष मानदण्डों के विवेचनों में हम प्रायः इस प्रकार के निर्णय सुनते हैं : ''सामाजिक उद्विकास के स्तर का निर्धारण प्रयोग किये गये साबुन की मात्रा से होता है;'' दूसरे लोग इस प्रगति की अवस्था को लिखने और पढ़ने की योग्यता द्वारा नापते हैं; तीसरे लोग समाचारपत्रों की संख्या के द्वारा; चौथे प्रकार के लोग प्रौद्योगिक प्रगति के स्तर के द्वारा; पाँचवे प्रकार के लोग विज्ञानों के विकास की अवस्था के द्वारा, आदि। एक जर्मन विद्वान ने इस प्रस्थापना को आगे बढ़ाते हुए कहा है कि सभ्यता की अवस्था श्रृंगार–प्रसाधनों के निर्माण की रीति द्वारा सर्वोत्तम विधि से सूचित होती है। हम यह पाते हैं कि श्रृंगार–प्रसाधनों से लेकर मानव मस्तिष्क के सर्वाधिक उदात्त उत्पादों तक, प्रत्येक वस्तु सामाजिक विकास की अवस्था की माप के लिये मापदण्ड के रूप में प्रयुक्त हुई है।

सत्य क्या है ? किसके मापदण्ड को सच्चा माना जाय ? इस एक प्रश्न के इतने भिन्न उत्तर क्यों दिये गये हैं ?

उक्त समस्त उत्तरों पर विचार करने पर यह प्रकट होगा कि उनमें से प्रत्येक उत्तर न्यूनाधिक रूप में शुद्ध है। क्या ''संस्कृति और सभ्यता'' के विकास के साथ–साथ साबुन के उपयोग में वृद्धि नहीं होती है? ऐसा होता है; यही बात समाचार–पत्रों की संख्या, या

सामाजिक प्रौद्योगिकी या विज्ञान के सम्बन्ध में भी है। किसी भी प्रदत्त समय में उस युग की सामाजिक प्रघटनायें सदा एक दूसरे से सम्बन्धित होती हैं; यह सम्बन्ध क्या है, यह दूसरा प्रश्न है जिस पर आगे चलकर हम शीघ्र ही विचार करेंगे। लेकिन इस प्रकार का सम्बन्ध होता अवश्य है; इसीलिये उपर्युक्त समस्त उत्तर शुद्ध हैं। जिस प्रकार से एक मनुष्य की अवस्था के सम्बन्ध में उसकी हड्डियों की संरचना और कठोरता, उसके चेहरे की प्रतीति (उसके रंग, उसकी झुर्रियों, उसके बालों की वृद्धि आदि) या उसके चिन्तन की रीति, उसकी भाषा की अभिव्यक्ति की शैली के आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं, उसी प्रकार समाज के विकास की अवस्था का भी निर्णय हम अनेक संकेतों के आधार पर कर सकते हैं, क्योंकि ये संकेत अन्य संकेतों से सम्बन्धित हैं और ये अन्त संकेत और भी अन्य संकेतों से सम्बन्धित हैं, आदि। यदि हम एक सुन्दर कलाकृति या विज्ञान की जटिल प्रणाली को सूक्ष्म रूप से देखते हैं तो हम ठीक–ठीक यह घोषित कर देते हैं कि ये वस्तुएँ अत्यधिक विकसित समाज के अतिरिक्त कहीं नहीं उत्पन्न की जा सकती थीं। यही बात हमें समृद्ध और जटिल प्रौद्योगिकी के विद्यमान होने पर कहनी चाहिये और हमारी बात उतनी ही शुद्ध होगी। विभिन्न सामाजिक प्रघटनाएँ परस्पर सम्बन्धित हैं; एक दूसरे द्वारा निर्धारित होती हैं, ये तथ्य प्रायः स्वयं स्पष्ट हैं। थोड़े से सरल प्रश्नों की श्रृंखला से यह बात पाठक को शीघ्र ही विश्वसनीय प्रतीत होगी। उदाहरण के लिये, क्या एक शताब्दी पूर्व भविष्यवादी काव्य सम्भव था? नहीं यह सम्भव नहीं था। क्या बर्फ में रहने वाले एस्कीमो लोग बेतार के तार की प्रणाली का आविष्कार सकते थे? क्या आज के विज्ञान के लिये यह सम्भव है कि वह नक्षत्रों से मनुष्य के भाग्य की भविष्यवाणी कर सके? क्या मध्य युग में मार्क्सवाद जन्म ले सकता था? यह स्पष्ट है कि ये सब बातें असम्भव थीं। भविष्यवादी काव्य एक शताब्दी पूर्व नहीं उदय हो सकता था, क्योंकि उस समय जीवन आज की अपेक्षा अधिक शान्त था; भविष्यवाद शहरों की घनी बस्तियों, कोलाहल पूर्ण वातावरण, मानसिक अशान्ति उत्पन्न करने वाली स्थितियों तथा पूँजीवादी सभ्यता को विघटित करने वाली सैन्यवादी प्रवृत्तियों में उत्पन्न हुआ। बर्फ में रहने वाले एस्कीमो बेतार का तार का आविष्कार नहीं कर सकते थे, क्योंकि वे उसके यन्त्रों को संभाल तक नहीं सकते हैं। आजकल का विज्ञान नक्षत्रों को पढ़ने जैसी बातों से अपने को सम्बन्धित नहीं रखता है, क्योंकि विज्ञान अपने वर्तमान अवस्था में इस प्रकार की बातों का खण्डन करता है। मार्क्सवाद मध्ययुग में

इसलिये प्रारम्भ नहीं हो सकता था, क्योंकि उस समय सर्वहारा–वर्ग का अस्तित्व नहीं था, अतः वह भूमि ही नहीं थी जिस पर मार्क्सवाद विकसित हो सकता। अब हमारे पास अत्यधिक विकसित प्रौद्योगिकी, सर्वहारा–वर्ग, बहुसंख्यक समाचार–पत्र ट्रस्ट, भविष्यवाद, वायुयान, इलेक्ट्रोन के सिद्धान्त, राकफेलर के लाभांश, कोयले की खानों के मजदूरों की हड़तालें; कम्युनिष्ट पार्टी, लीग आफ नेशन्स, तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, विद्युतीकरण की योजनाएँ, लाखों सैनिकों से युक्त सेनाएँ, लायड जार्ज, लेनिन, आदि है, ये सब उसी युग और उसी काल की अभिव्यक्तियाँ हैं, इसी प्रकार की अभिव्यक्तियाँ हम मध्ययुग के सम्बन्ध में व्यक्त कर सकते हैं : रोम में पोप की शक्ति, वर्तमान युग की अपेक्षा निम्न स्तर की प्रौद्योगिकी, किसानों से बेगार, पादरियों द्वारा निर्देशित विज्ञान, दार्शनिक पारस पत्थर की खोज (जो अन्य धातुओं को सोने में बदल दे), बुरे मार्ग, राजाओं तक में अशिक्षा, ग्राम परिषदें, भूत–चुड़ैलें, ट्रेड गिल्डस, डॉगलैटिन (विद्वानों द्वारा बोली और लिखी जाने वाली भाषा), आदि। लेनिन, लायड जार्ज, क्रुप आदि के लिये मध्ययुग में कोई स्थान नहीं था। दूसरी ओर आजकल हम मास्को के रेड स्क्वायर में वह मध्यकालीन प्रतियोगिता नहीं देखते हैं, जिसमें अमीर लोग एक महिला की मुसकान पाने के लिए एक दूसरे की हत्या कर देते थे। इसमें सन्देह नहीं है कि सामाजिक प्रघटनाओं के बीच सामान्य सम्बन्ध होता है, कुछ सामाजिक प्रघटनाएँ अन्य प्रघटनाओं के साथ अनुकूलन करती हैं, दूसरे शब्दों में, समाज के अन्तर्गत इसके तत्त्वों के बीच, इसके घटक अंगों के बीच, सामाजिक प्रघटनाओं के विभिन्न स्वरूपों के बीच एक निश्चित संतुलन होता है।

ख. वस्तुएँ, व्यक्ति, विचार

हमने ऊपर समाज की परिभाषा व्यक्तियों के एक समुच्चय के रूप में की है, लेकिन समाज में वस्तुएँ भी सन्निहित होती हैं। उदारण के लिये, आज का समाज विशाल पाषाण नगरियों, अपनी भीमकाय संरचनाओं, अपने रेलमार्गों, बन्दरगाहों, यन्त्रों, और घरों आदि से युक्त होता है; ये समस्त वस्तुएँ समाज की भौतिक प्रौद्योगिक अंग हैं। कोई विशिष्ट प्रकार का यंत्र मानव–समाज से बाहर, यंत्र के रूप में अपनी महत्ता को अविलम्ब खो देता है; यह केवल बाह्य–प्रकृति का एक अंश बनकर रह जाता है; यह केवल लोहे के टुकड़ों, लकड़ी आदि का

एक मिश्रण हो जाता है; आदि। जब कोई पानी का बहुत बड़ा जहाज डूबकर समुद्र की तलहटी में बैठ जाता है, तो यह जीवित दानव कुछ समय पूर्व अपने शक्तिशाली इंजनों से लोहे के सम्पूर्ण सुन्दर ढाँचे को कम्पित कर रहा था, तथा इसमें सहस्रों सम्भव यंत्र लगे थे; किन्तु अब समुद्र की तह में पड़ा है और इसकी सम्पूर्ण यान्त्रिकता अपनी सामाजिक महत्ता को खो चुकी है। समुद्री जीव–जन्तु इसके ढाँचे में चिपक जाएंगे, इसका लकड़ी का ढाँचा पानी में सड़ जाएगा, इसकी कैबिनों में समुद्री जीव–जन्तु निवास करेंगे, लेकिन यह जलयान नहीं रहा; क्योंकि इसके सामाजिक अस्तित्व का लोप हो गया है, यह समाज से बाहर हो गया है और समाज का अंग नहीं रहा तथा समाज की सेवा करने में सक्षम नहीं है; अब तो यह बाह्य प्रकृति की अन्य वस्तुओं की तरह एक वस्तु मात्र है जो प्रत्यक्ष रूप से मानव–समाज के सम्पर्क से दूर है। यान्त्रिक प्रविधियाँ बाह्य प्रकृति की अंश मात्र नहीं हैं : वे समाज के अंगों का प्रसार है; अतः हम समाज के सम्बन्ध में अब तक प्रचलित दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक व्यापक दृष्टिकोण ले सकते हैं; हम इसमें वस्तुओं का भी समावेश कर सकते हैं, अर्थात्, इसमें समाज के यान्त्रिक उपकरणों और इसकी कार्यकारी विधियों की प्रणाली को समाविष्ट कर सकते हैं। वास्तव में, उत्पादन के साधनों में समस्त वस्तुओं का समावेश नहीं होता है; कुछ वस्तुओं का उत्पादन से बहुत दूर का सम्बन्ध हो सकता है, भले ही भौतिक उत्पादन के उत्पादों का वे स्वयं ही निर्माण करती हो : उदाहरण के लिये, पुस्तकें, नक्शे, चित्र, संग्रहालय, पुस्तकालय, वेधशालाएं, कीटविज्ञान–केन्द्र, (हम सदा उनके भौतिक उपादानों के सम्बन्ध में ही चर्चा कर रहे हैं) प्रयोगशालाएँ, मापन–यंत्र, प्रत्येक प्रकार के दूरवीक्षण और अनुवीक्षण–यंत्र, परीक्षण–नलियाँ, आदि। ये समस्त वस्तुएँ भौतिक उत्पादन की प्रक्रिया से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित नहीं होती हैं, हम उन्हें भौतिक उत्पादक शक्ति के रूप नहीं मान सकते हैं; फिर भी प्रत्येक व्यक्ति उनके कार्य को जानता है; वे बाह्य प्रकृति की उपविभाग मात्र नहीं हैं; उनका अपना सामाजिक अस्तित्व भी है; व्यापक व्यवहार में समाज की अवधारणा में इनका भी समावेश होना चाहिये।

हमने चौथे अध्याय में देखा है कि समाज समवेत व्यक्तियों की एक प्रणाली है; अब हम देखते हैं कि वस्तुओं पर भी इसी प्रकार विचार करना चाहिए, लेकिन सीमित अर्थ में। समाज

का आशय सम्बन्धित व्यक्तियों का संकलन या समुच्चय मात्र नहीं माना जाता है, अपितु इसे एक प्रणाली समझा जाता है। पहले हमने इन व्यक्तियों को कार्यरत भौतिक निकायों के रूप में माना था, अतः समाज समस्त कार्यकारी संगठनों से ऊपर एक मानवीय कार्यकारी उपकरण अवश्य है। लेकिन हम जानते हैं कि मनुष्य केवल भौतिक निकाय नहीं है; वे सोचते हैं, अनुभव करते हैं, इच्छा करते हैं, लक्ष्य–प्राप्ति के लिये चेष्टा करते हैं और अपने विचारों और इच्छाओं में निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं। व्यक्तियों के बीच के सम्बन्ध केवल भौतिक कार्यकारी सम्बन्ध नहीं हैं, बल्कि उनमें परस्पर मानसिक सम्बन्ध भी हैं; समाज केवल भौतिक वस्तुओं का ही उत्पादन नहीं करता है : तथाकथित ''सांस्कृतिक मूल्य'' को भी उत्पन्न करता है : कला, विज्ञान, आदि; दूसरे शब्दों में, वस्तुओं के अतिरिक्त विचारों का भी उत्पादन करता है। जब ये विचार एक बार उत्पन्न हो जाते हैं, तो इन्हें विचारों की बृहत् प्रणाली के रूप में विकसित किया जा सकता है।

अतः समाज के तीन तत्त्व हैं : वस्तुएँ, व्यक्ति और विचार। लेकिन हमें यह किसी भी दशा में नहीं मानना चाहिये कि ये स्वतंत्र तत्त्व हैं : वास्तव में ये स्पष्ट है कि यदि व्यक्ति नहीं हैं तो विचार नहीं होंगे, विचारों का अस्तित्व केवल व्यक्तियों में ही होता है – जिस प्रकार पानी की सतह पर तेल तैरता है, उसी तरह से वे शून्य में नहीं तैरते हैं। लेकिन इस बात से इन तीन तत्त्वों में भेदकरण करने में कोई बाधा नहीं पड़ती है; यह स्पष्ट है कि इन तीन तत्त्वों के बीच एक निश्चित सन्तुलन होना चाहिए। स्थूल रूप में हम कह सकते हैं कि समाज का अस्तित्व तब तक नहीं हो सकता था, जब तक वस्तुओं की प्रणाली तथा विचारों की प्रणाली में परस्पर एक दूसरे के लिये अनुकूलन नहीं होता। हमें इस विषय पर अधिक विचार करना होगा; तब हम उन प्रघटनाओं के बीच के सम्बन्ध को समझ सकेंगें, जो ऊपर देखने में बहुत स्पष्ट है और जिसके सम्बन्ध में हम पीछे बता भी चुके हैं।

ग. सामाजिक प्रौद्योगिकी और समाज की आर्थिक संरचना

हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि सामाजिक प्रघटनाओं पर विचार करने के लिए आवश्यक है कि हम सामाजिक और भौतिक उत्पादक शक्तियों, सामाजिक प्रौद्योगिकी अथवा

श्रम के यन्त्रों की प्रणाली से प्रारम्भ करें। अब हम इन सूत्रों का विस्तार कर सकते हैं। जब हम सामाजिक प्रौद्योगिकी की चर्चा करते हैं, तो हमारा आशय निश्चित प्रकार के यंत्र या विभिन्न प्रकार के यंत्रों के योग से नहीं है, बल्कि हमारा तात्पर्य समाज के इन यंत्रों की सम्पूर्ण प्रणाली से है। हमें यह कल्पना करनी चाहिये कि किसी समाज विशेष में विभिन्न स्थानों में कर्घों और मोटरों, उपकरणों और यंत्रों, सरल और जटिल औजारों का वितरण होता है, लेकिन यह वितरण एक निश्चित क्रम में होता है। कुछ स्थानों में वे पास–पास बहुत अधिक होते हैं (उदाहरण के लिये, बड़े औद्योगिक केन्द्रों में), अन्य स्थानों में यंत्र या औजार बिखरे हुए होते हैं। लेकिन किसी प्रदत्त क्षण में, यदि लोग श्रम–सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं या यदि कोई समाज होता है, तो ये उत्पादन के समस्त साधन मनुष्य–श्रम या विद्युत् शक्ति द्वारा चालित बड़े और छोटे औजार और यन्त्र–एक प्रणाली में एकीभूत होते हैं। (वास्तव में, एक निश्चित प्रकार के औजार सदा अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं : आजकल मशीनें और यान्त्रिकिता इसी कोटि में आते हैं; पहले हाथ के औजारों का प्राधान्य था, लेकिन अब उपकरणों और स्वचालित यन्त्रों की महत्ता दिन–प्रतिदिन बढ़ रही है।) दूसरे शब्दों में, हम समग्र रूप में सामाजिक प्रौद्योगिकी को ले सकते हैं, जिसमें एक पवित्र क्षण में समस्त अंग सामाजिक दृष्टि से आवश्यक अपिरहार्य हैं। ऐसा क्यों माना जा सकता है? समाज की प्रौद्योगिक प्रणाली के समस्त अंगों की एकता कहाँ निहित है ?

इस विषय को पूर्ण रूप से आत्मसात् करने के लिये, यह मान लीजिए कि एक निश्चित दिन आधुनिक जर्मनी में कोयले की खानों में काम करने वाली समस्त मशीनें एक विचित्र संयोग से आकाश में चली जाती हैं, तो इसके परिणामस्वरूप वहाँ का सम्पूर्ण प्रौद्योगिक जीवन व्यवहारिक रूप से ठप्प हो जाएगा। कारखानों और दुकानों के लिये ईंधन प्राप्त करना असम्भव हो जाएगा; इन कारखानों की समस्त मशीनें ठप्प हो जाएंगी, ये सब मशीनें उत्पादन की प्रक्रिया से हट जाएंगी। इस प्रकार एक शाखा की प्रौद्योगिकी व्यावहारिक रूप से अन्य शाखाओं को प्रभावित करेगी। वास्तव में, उत्पादन की विभिन्न शाखायें एक समष्टि का निर्माण करती हैं, केवल विचारों में ही नहीं बल्कि वस्तुनिष्ठ रूप में या वास्तविक रूप में भी; वे एकल सामाजिक प्रौद्योगिकी का निर्माण करती हैं। हम पुनः यह कहेंगे कि सामाजिक प्रौद्योगिकी श्रम

के विभिन्न उपकरणों का संकलन मात्र नहीं है, बल्कि इनको सुसम्बद्ध करने वाली एक प्रणाली हैं। इस प्रणाली के किसी एक अंग पर सम्पूर्ण शेष प्रणाली आश्रित होती है। इसी प्रदत्त क्षण में इस प्रौद्योगिकी के विभिन्न अंग एक निश्चित अनुपात में तथा एक निश्चित परिणात्मक सम्बन्ध द्वारा सम्बन्धित होते हैं। यदि किसी विशेष कारखाने में तकुओं की एक निश्चित संख्या है और कुछ निश्चित कर्घों को माल पहुंचाने के लिये कुछ निश्चित कर्मचारी हैं, तो न्यूनाधिक रूप में सम्पूर्ण समाज के सामाजिक उत्पादन की सामान्य प्रगति में भट्टियों की संख्या तथा मशीनों और यान्त्रिक औजारों की संख्या के बीच एक निश्चित सम्बन्ध भी वर्तमान होगा। निश्चित ही यह सम्बन्ध पूर्ण रूप से स्थिर नहीं हो सकता है जैसा कि एक किसी कारखाने में होता है; लेकिन उत्पादन की विभिन्न शाखाओं की प्रौद्योगिक प्रणालियों में एक निश्चित आवश्यक सम्बन्ध अवश्य वर्तमान होता है। यह सम्बन्ध एक असंगठित समाज में अन्ध प्राकृतिक प्रक्रियाओं का परिणाम है, जबकि एक संगठित समाज में यह एक चेतन प्रक्रिया का परिणाम है; लेकिन इसका अस्तित्व सम्पूर्ण समाज में है। उदाहरण के लिये, यह बात अस्वीकार्य है कि एक कारखाने में जितने तकुओं की आवश्यकता है, उसके दस गुने तकुए वहाँ होने चाहिये; इसी तरह यह भी अस्वीकार्य है कि जितने कोयले की आवश्यकता है, उसका दस गुना कोयला खानों से निकाला जाना चाहिए, तथा कोयला निकालने की मशीनें और उपकरण आवश्यकता से दस गुने अधिक होने चाहिए। इस प्रकार, चूँकि उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के बीच एक निश्चित सम्बन्ध और एक निश्चित अनुपात है; इसलिए सामाजिक प्रौद्योगिकी के विभिन्न अंगों में भी एक निश्चित सम्बन्ध और एक निश्चित अनुपात है। यह परिस्थिति औजारों, मशीनों, उपकरणों के संकलन मात्र को एक सामाजिक प्रौद्योगिकी की प्रणाली में परिवर्तित करती है। इस स्थिति से यह भी स्पष्ट है कि सामाजिक प्रौद्योगिकी की प्रत्येक प्रदत्त प्रणाली विभिन्न व्यक्तियों के बीच के श्रम–सम्बन्धों की प्रणाली को निर्धारित करती है।

उदाहरण के लिये, क्या यह विश्वसनीय है कि समाज की प्रौद्योगिक प्रणाली, अर्थात् इसके औजारों की संरचना, एक आधार पर होनी चाहिए और मानवीय सम्बन्धों की संरचना बिल्कुल भिन्न आधार पर होनी चाहिए। क्या यह सम्भव है कि समाज की प्रौद्योगिक प्रणाली

तथा उत्पादक सम्बन्ध या वास्तविक श्रम–सम्बन्ध हाथ के औजारों से काम करने वाले लघु उद्योगों के आधार पर होना चाहिए। वास्तव में, यह एक असम्भव बात है; जहाँ कहीं भी समाज का अस्तित्व है, वहाँ इसकी प्रौद्योगिकी और इसकी अर्थव्यवस्था के बीच एक निश्चित सन्तुलन होना चाहिए, अर्थात् इसके श्रम के उपकरणों की समग्रता तथा इसके कार्यकारी संगठन, इसकी भौतिक उत्पादन की विधियों तथा इसकी भौतिक मानवीय श्रम–प्रणाली के बीच एक निश्चित सन्तुलन होना चाहिए।

अब हम एक उदाहरण के द्वारा उक्त कथन की व्याख्या करें। इसके लिये हम ''प्राचीन समाज'' तथा ''वर्तमान पूँजीवादी समाज'' की तुलना को ले सकते हैं; आइये, प्रौद्योगिकी से प्रारम्भ करें। आल्बर्ट न्यूबर्जर, जो प्राचीन प्रौद्योगिकी की उपलब्धियों ंका अवमूल्यन करने की अपेक्षा उसे अतिरंजित करने की ओर अधिक उन्मुख है, कहता है :

''अरस्तू अपनी पुस्तक ''प्रोबलेम्स आफ मेकेनिक्स'' में प्राचीन कालों में प्रयुक्त होने वाली सहायक यान्त्रिक विधियों का उल्लेख करता है। इन विधियों के अन्तर्गत बहुत आदिम यान्त्रिक प्रविधियाँ आईं हैं, जिन्हें ''सरल यान्त्रिकता'' के रूप में जाना जाता है। यह स्पष्ट है कि धातुओं पर काम करने की जो मुख्य विधियाँ प्रयोग की गईं थीं, उनसे अधिक प्रगति सम्भव नहीं थी। यह भी स्पष्ट है कि उत्पादक शक्तियों के विकास के लिये उनका धातु सम्बन्धी ढाँचा उनके प्रथम स्थायी आधार का निर्माण करता है। अभी तक जितनी धातुओं पर काम किया गया है, उनमें सोना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। उत्पादक उपभोग के लिये निर्मित वस्तुओं में धातु की प्रचुर मात्रा का उपयोग हुआ था। लुहार का काम केवल इसका अपवाद है, जिसमें हथौड़े छेनी, सम्सी, रेती तथा अन्य अपेक्षाकृत सरल उपकरणों के द्वारा आदिम औजार बनाए गए थे (मुख्य रूप से कुल्हाड़ियाँ, घोड़ों की नालें, खुरपियां, कीलें, जंजीरें, काँटे, कुदालें, चमचे आदि बनाये जाते थे)। धातु की ढलाई मुख्य रूप से मूर्तियों या अन्य अउत्पादक वस्तुओं के बनाने के लिये होती थी, अतः यह जानकर आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि विट्रूवियस ''यन्त्र'' (मशीन) को लकड़ी से बनाई गई एक प्रविधि के रूप में पारिभाषित करता है।

सैलवियोली कहता है : ''शताब्दियों तक प्रौद्योगिकी स्थिर खड़ी रही।'' वास्तव में, इसका आशय पूर्ण गत्यावरोध नहीं है, अपितु इसका भाव प्राचीन प्रौद्योगिकी का अत्यन्त मन्द विकास है।

यह प्राविधिक विधियाँ स्वभावतः कर्मी के प्रकार, उसके कौशल की क्षमता तथा इसके कार्यकारी सम्बन्धों और उत्पादक परिस्थितियों का निर्धारण करती हैं।

इस प्रकार की प्रौद्योगिकी के अंतर्गत केवल एक प्रकार के ही कर्मी काम कर सकते थे : केवल हाथ से काम करने वाले कर्मी या छोटे–छोटे कारीगर। लुहार, बढ़ई, संग–तराश, जुलाहे, सुनार, खान खोदने वाले, गाड़ी बनाने वाले, जीनसाज, खराद करने वाले, झूल बनाने वाले, कुम्हार, रंगरेज, चमड़ा कमाने वाले, ताला बनाने वाले, सीसे के बर्तन बनाने वाले, आदि जैसे उत्पादकर्मी इस श्रेणी में आते हैं। इस प्रकार सामाजिक प्रौद्योगिकी ने जीवत कार्यकारी यन्त्र की विशेषताओं, अर्थात् कर्मी के प्रकार और उसके क्रम की ''कुशलता'', का निर्धारण किया। लेकिन इस प्रौद्योगिकी ने काम में लगे हुए व्यक्तियों के बीच के सम्बन्ध का भी निर्धारण किया। वास्तव में, चूँकि हम यहां पर विभिन्न प्रकार के कर्मियों का उल्लेख देखते हैं, इसलिये यह स्पष्ट है कि हम अनेक शाखाओं में उत्पादन के विभाजन पर विचार कर रहे हैं, जिनमें से प्रत्येक शाखा एक ही प्रकार के कर्मी का उत्पादन करती है। इसी को श्रम–विभाजन कहते हैं।

इस श्रम–विभाजन का कारण तत्सम्बद्ध श्रम के औजारों का होना था। लेकिन यह श्रम–विभाजन विलक्षण था : ''यहाँ पर श्रम–विभाजन उन परिणामों की ओर अग्रसर न कर सका, जो इसे आधुनिक समाजों में प्राप्त है : क्योंकि प्राचीन कालों में इस प्रकार का विभाजन यान्त्रिक प्रक्रिया का कार्य नहीं था, यह बड़े–बड़े कारखानों की प्रणाली से उद्भूत नहीं था, बल्कि लघु और मध्यम आकार के उद्योग का परिणाम था।'' ''वृहत् स्तर का उत्पादन प्राचीनकाल में नहीं था; उस समय लोग साधारण स्तर के शिल्प से कभी आगे नहीं बढ़ पाये थे।'' जैसा हमने देखा है, यहाँ तो भिन्न प्रकार की श्रम–दशाएं हैं, जो प्रौद्योगिकी की प्रणाली

पर आधारित हैं। जब कभी हम बड़ी–बड़ी संरचनाओं के निर्मित किये जाने की जानकारी करें, तो हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वे प्रायः लघु श्रम के द्वारा सम्पन्न हुईं थीं।

इस प्रकार रोम के विशाल जलसेतु के निर्माण के लिये वहाँ की तत्कालीन सरकार ने तीन हजार संगतराशों से अनुबन्ध किया था, जिन्होंने अपने–अपने दासों सहित एक साथ मिलकर काम किया था। जहाँ पर उत्पादन अपेक्षाकृत बृहत् स्तर पर था, वहाँ प्रौद्योगिकी की प्रचलित प्रणाली के अन्तर्गत ये कार्य आर्थिक–व्यवस्था से बाहर की शक्तियों का उपयोग करके ही पूरे हो सकते थे : दास–श्रम का उपयोग होता था, विजयी युद्धों के उपरान्त दासों की सम्पूर्ण सेनायें आयात कर दी जाती थीं, ये दास बड़ी–बड़ी जागीरों और दासों द्वारा चालित कारखानों में बेच और बाँट दिये जाते थे। भिन्न प्रकार की औद्योगिक प्रणाली में दास–श्रम असम्भव हो गया होता : दास सूक्ष्म यन्त्रों को नष्ट कर देते, तथा दास–श्रम अधिक लाभप्रद नहीं होता, इस प्रकार आयात किए गए दास–श्रम जैसी प्रघटना की व्याख्या, प्रदत्त ऐतिहासिक परिस्थितियों के अन्तर्गत, उन औजारों द्वारा हो सकती है जिनसे सामाजिक श्रम कार्य करता है। या हम दूसरा उदाहरण लें : हम जानते हैं कि प्राचीनकाल में व्यापारिक पूँजीपति की अपेक्षाकृत उच्च विकास की परिस्थितियों के बावजूद उस युग की अर्थव्यवस्था समग्र रूप में एक प्राकृतिक अर्थव्यवस्था थी (मुद्रा की अपेक्षा वस्तुओं के रूप में भुगतान होता था)। लोग अर्थिक सम्बन्धों में निकट नहीं थे; आजकल की अपेक्षा वस्तुओं का विनिमय बहुत कम विकसित था; बड़ी जागीरों और जेल जैसी दूकानों में केवल अपने निजी उपभोग के लिये अधिक मात्रा में उत्पादन होता था। यह भी एक श्रम की एक निश्चित अवस्था है; उत्पादन–सम्बन्ध का एक स्वरूप है, और इसकी व्याख्या स्पष्ट है : उत्पादक शक्तियों के हीन विकास तथा प्रौद्योगिकी की निर्बलता के आधार पर इसकी व्याख्या हो सकती है। इस प्रकार की प्रौद्योगिक प्रणाली के अन्तर्गत अत्यधिक मात्रा में उत्पादन करना कठिन था। एक शब्द में, यह स्पष्ट है कि श्रम–प्रक्रिया में लगे हुए लोगों के बीच के सम्बन्ध प्रौद्योगिकी के उद्विकास की प्रगति की अवस्था के द्वारा निर्धारित होते हैं; प्राचीन अर्थव्यवस्था का प्राचीन प्रौद्योगिकी के साथ अनुकूलन था। आइये हम इस दशा की तुलना पूँजीवादी समाज की दशा से करें। यदि हम सबसे पहले प्रौद्योगिकी के विषय को लें, तो उत्पादन की कुछ शाखाओं की एक सूची पर

दृष्टिपात करना पर्याप्त है। आइये हम पूँजीवादी उद्योग के केवल दो समूहों पर विचार करें : पहली शाखा यन्त्रों, उपकरणों आदि के निर्माण की है, और दूसरी शाखा वैद्युतिक–प्राविधिक उद्योग की है। नीचे चित्र दिया जा रहा है :

1. यन्त्र, उपकरण और साधित्र (ऐय्रेटस्)

क. शक्ति–चालित यन्त्र

1. रेल के इंजन
2. स्थिर इंजन
3. अन्य शक्तिशाली यंत्र

ख. सामान्य प्रयोग के हस्तन यन्त्र (मैनीपुलेटिंग मशीनरी)

1. धातु, लकड़ी, पत्थर तथा अन्य पदार्थों पर काम करने वाले यन्त्र
2. नल
3. भार उठाने और ढोने वाले यन्त्र
4. अन्य यन्त्र

ग. विभिन्न विशेष शाखाओं के हस्तन यन्त्र

1. सूत कातने का यन्त्र
2. कृषि सम्बन्धी यन्त्र
3. कच्चा माल प्राप्त करने के विशेष यन्त्र
4. अस्त्र–शस्त्र निर्माण करने के विशेष यन्त्र
5. सुकोमल वस्तुओं के उत्पादन के विशेष यन्त्र
6. विभिन्न प्रकार के यन्त्रों का निर्माण

घ. मरम्मत की दूकानों के यन्त्र

ङ ब्वायलर, उपकरण

1. स्टीम, ब्वायलर
2. ब्वायलर, उपकरण तथा विशेष शाखाओं के लिये तालिका (काम करने वाली मशीनों के अतिरिक्त)

च. यन्त्र, उपकरण तथा यन्त्रों के भाग

1. यान्त्रिक औजार
2. यन्त्रों के भाग

छ. मिलों का निर्माण

ज. जलयानों का निर्माण तथा नाविक यन्त्रों का निर्माण

झ. हवाई जहाजों और उसके पुर्जों का निर्माण

ञ. गैस टैंक

ट. सवारियों का उत्पादन

1. साइकिलें और उनके पुर्जे
2. मोटरें
3. रेल की पटरियों पर चलने वाली कारें
4. वैगनों का निर्माण
5. यातायात के अन्य साधनों का उत्पादन, जिनमें जल और वायु के यातायात के साधन नहीं सम्मिलित हैं।

ठ. घड़ियों और उनके पुर्जों का निर्माण

ड. वाद्य यन्त्रों का उत्पादन

1. पियानों का उत्पादन
2. अन्य वाद्य यन्त्रों का उत्पादन

ढ. प्रकाशीय तथा अन्य सुकोमल यान्त्रिक विधियाँ, प्राणिशास्त्रीय तथा अण्वीक्षीय वस्तुओं का निर्माण

1. प्रकाशीय तथा अन्य सुकोमल उपकरणों का निर्माण, जिसमें कैमरे तथा अन्य चित्र खींचने सम्बन्धी साधित्र सम्मिलित हैं।
2. शल्य–क्रिया सम्बन्धी उपकरणों और साधित्रों का उत्पादन
3. 3. प्राणशास्त्रीय और अण्वीक्षीय साधित्रों का उत्पादन

ण. ग्लोबों और लैम्पों का उत्पादन (उनके अतिरिक्त जो वैद्युतिक उद्योगों से सम्बन्धित हैं।)

2. वैद्युतिक उद्योग

क. डायनमों और इलेक्ट्रो मोटरों का निर्माण

ख. संचयक स्टोरेज बैटरियों तथा अन्य बैटरियों का निर्माण

ग. केबिलों और विसंवाहक तारों का निर्माण

घ. वैद्युतिक उपकरणों, गणकों (काउण्टर्स) और घड़ियों का निर्माण

ङ. वैद्युतिक साधित्रों तथा संस्थापन तालिकाओं का निर्माण

च. लैम्पों और सर्चलाइटों का निर्माण

छ. चिकित्सा सम्बन्धी वैद्युतिक यन्त्रों का निर्माण

ज. क्षीण वैद्युतिक धारा के साधित्रों का निर्माण

झ. वैद्युतिक विसंवाहन विधियों का निर्माण

ञ. बड़े सिब्बंदियों के वैद्युतिक उत्पादों का निर्माण

ट. समस्त प्रकार के वैद्युतिक उत्पादों के स्थान।

प्राचीनकाल की प्रौद्योगिकी तथा आधुनिक पूँजीवादी समाज की प्रौद्योगिकी के बीच के विराट अन्तर को समझने के लिये अरस्तू या विट्रूवियस द्वारा बताये गये ''यन्त्रों'' के साथ इस सूची की तुलना करना ही पर्याप्त है। जिस प्रकार प्राचीन प्रौद्योगिकी ने प्राचीन अर्थव्यवस्था के स्वरूप का निर्धारण किया था, उसी प्रकार पूँजीवादी प्रौद्योगिकी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को निर्धारित करती है। यदि हम प्राचीन रोम और और आज के बर्लिन या लन्दन की सम्पूर्ण जनसंख्या की गणना कर सकें और इन जनसंख्याओं को, लोगों के वास्तविक पेशों के आधार पर, विभाजित कर सकें, तो हमें बहुत बड़ी खाई स्पष्ट अनुभव हो जाएगी, जो आधुनिक काल को प्राचीन काल से पृथक् करती है। हमारी यान्त्रिक प्रौद्योगिकी के परिणाम स्वरूप वर्तमान समाज में जितने कर्मी हैं, वे प्राचीन कालों में कभी नहीं रहे थे। प्राचीन काल के छोटे–छोटे शिल्पियों के स्थान पर आज हम इलेक्ट्रीसियन, मेकेनिक, यन्त्र–निर्माता, ब्वायलर–निर्माता, इंजन–निर्माता, प्रकाशीय उपकरणों के निर्माता, कम्पोजीटर, लीथोग्राफर, रेलमार्गों के कर्मी, रेलइंजनों के इन्जीनियर, फायरमेन, फसल काटने के यन्त्रों के कर्मी, घास काटने के यन्त्रों के कर्मी, गट्ठे बांधने के यन्त्रों के कर्मी, ट्रैक्टरों की मरम्मत करने, वाले बिजली के इन्जीनियर, रसायनशास्त्री, स्टीम ब्यालरों के विशेषज्ञ, लीनो टाइपर आदि–आदि। प्राचीनकाल में इस प्रकार के कर्मी नाम लेने के लिये भी नहीं थे, फलतः श्रम के समुचित उपकरणों का अस्तित्व उस समय नहीं था। यदि हम उन कर्मियों को लें जिनका नाम जो पहले था वह आज भी है, तो हम पायेंगे कि उनमें भी बहुत अन्तर है। उदाहरण के लिये, एक बड़े सूती मिल के करघे पर काम करने वाले आज के कारीगर तथा प्राचीन ग्रीस या रोम के गुलाम जुलाहे या सामान्य कर्मी के बीच क्या समनता है? प्राचीन काल का जुलाहा आज के कारखाने में अपने को उसी प्रकार विचित्र स्थिति में पायेगा, जिस प्रकार जूलियस सीजर, न्यूयार्क की सुरंगी रेलों में अनुभव करेगा। आज भिन्न श्रम–शक्तियाँ हैं और भिन्न श्रम–कौशल है। हमारी श्रम–शक्तियाँ एक भिन्न प्रौद्योगिकी से उत्पन्न हैं और वे उस प्रौद्योगिकी से अनुकूलन कर चुकी हैं।

प्राचीन कालों से भिन्न बहुसंख्यक औद्योगिक शाखाओं का अस्तित्व मुख्य रूप से इस तथ्य का परिणाम है कि आज का श्रम–विभाजन पूर्णतया भिन्न है। लेकिन श्रम का विभाजन उत्पादन की आधारभूत दशाओं में से एक है। आधुनिक श्रम–विभाजन आधुनिक श्रम के

उपकरणों, यन्त्रों और औजारों की विशेषताओं, विवरणों और संयोगों द्वारा निर्धारित होता है, अर्थात्, पूँजीवादी समाज के यान्त्रिक साधित्रों द्वारा निर्धारित होता है। आधुनिक औद्योगिक प्रतिष्ठान का अप्रतिम स्वरूप एक बड़े कारखाने में है। आज लघु उत्पादन इकाइयाँ या छोटे–मोटे उद्योग नहीं हैं, बल्कि इनके स्थान पर हजारों व्यक्तियों से युक्त विराट संगठन हैं, जिनमें भिन्न–भिन्न व्यक्ति अपने–अपने निर्धारित स्थानों में एक निश्चित व्यवस्था के अनुसार अपना–अपना निर्धारित कार्य करते हैं। अगर हम फोर्ड के मोटर कारखाने को आधुनिकता के उदाहरण के रूप में लें, तो हमें आज के श्रम–विभाजन की स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। आज सूक्ष्म श्रम–विभाजन, अत्यधिक यन्त्र (जो कर्मियों के निरीक्षण में स्वतः चल रहे हैं), एक काम के बाद दूसरे काम का बिल्कुल ठीक–ठीक समय पर समाप्त होना, आदि। उत्पादित पुर्जे धीमें–धीमें चलती हुए लिफ्टों या प्लेटफार्मों के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाते हैं, विभिन्न प्रकार के कर्मियों के पास जैसे ही ये पुर्जे पहुँचते हैं, वे अपने निश्चित कार्य करते जाते हैं और पुर्जे आगे बढ़ते जाते हैं। सम्पूर्ण श्रम–प्रक्रिया का एक–एक क्षण परिगणित है। प्रत्येक कर्मी के हाथ या पैर की प्रत्येक गति, शरीर के झुकाव, आदि का हिसाब पहले से ही लगा लिया गया है। कर्मचारी वर्ग सामान्य कार्य–व्यापार का निरीक्षण करता है; प्रत्येक कार्य सुई की नोंक पर होता है। इस प्रकार श्रम का विभाजन है तथा इसकी वैज्ञानिक कुशलता टेलर–प्रणाली के अनुसार है। इस प्रकार यदि हम कारखाने की मानवीय संरचना पर विचार करें अर्थात् इसके व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करें, तो हम पाते हैं कि यह एक उत्पादक सम्बन्ध का निर्माण करता है, जिसमें व्यक्तियों का वितरण और उनके पारस्परिक सम्बन्ध, यंत्र की प्रणाली और यंत्रों के संयोग, प्रौद्योगिकी और कारखाने की तालिका के संगठन द्वारा निर्धारित होते हैं।

जिस प्रकार प्राचीन ग्रीस या रोम में उत्पादन–सम्बन्ध लघु और मध्यम स्तर पर उत्पादन करने वाली प्रौद्योगिकी की प्रणाली से उत्पन्न हुए थे, उसी प्रकार आधुनिक युग के वृहत् उत्पादन की दशाएँ आधुनिक प्रौद्योगिकी का परिणाम है। यहाँ पुनः सामाजिक प्रौद्योगिकी और सामाजिक अर्थ–व्यवस्था के बीच एक सापेक्ष सन्तुलन है।

हमने देखा है कि प्राचीन कालीन हीन प्रौद्योगिकी का परिणाम हीन विनिमय–प्रक्रिया थी और अधिकांशतः अर्थव्यवस्था वस्तुओं की अर्थव्यवस्था बनी रही : अर्थव्यवस्थाओं के बीच सम्बन्ध बहुत शिथिल थे; प्राचीन कालीन उत्पादन के निश्चित सम्बन्ध ऐसे ही थे। लेकिन आधुनिक युग की पूँजीवादी प्रौद्योगिकी में प्रचुर मात्रा में उत्पादन बाजार में भेजे जा सकते हैं। सम्पूर्ण उत्पादन को बाजार में भेजने की स्थिति के लिये श्रम–विभाजन किसी सीमा तक उत्तरदायी है; क्योंकि कोई भी निर्माता अपने कारखाने में लाखों की संख्या में जिस चीज को बनाता है उस सब का उपभोग वह नहीं करता है, इसलिये वस्तुओं की अर्थ–व्यवस्था की उत्पादन की दशाएँ भी आज की प्रौद्योगिकी का परिणाम हैं।

हमने समस्या पर चार भिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया है : प्रथम, श्रम–शक्तियों की प्रकृति; द्वितीय, उनके बीच श्रम का वितरण; तृतीय, उत्पादन का विस्तार, अर्थात् विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं के संगठनों के व्यक्तियों का विस्तार; चतुर्थ, इन विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं के बीच सम्बन्ध; हमने पीछे प्राचीन और आधुनिक दो भिन्न समाजों को उदाहरण के लिये चुना था, जिनमें से प्रत्येक उदाहरण में हमने देखा कि श्रम–उपकरणों के संयुक्तीकरण (सामाजिक अर्थव्यवस्था) मनुष्यों के संयुक्तीकरण और सम्बन्धों (अर्थात् सामाजिक अर्थव्यवस्था) के निर्धारक कारक हैं। लेकिन उत्पादन सम्बन्धों का एक अन्य पक्ष है, जिसे हम सामाजिक वर्गों का प्रश्न कह सकते हैं, जिस पर हम विस्तारपूर्वक आगे विचार करेंगे। लेकिन यहाँ पर हम इस पर केवल उत्पादन–सम्बन्धों के दृष्टिकोण से विचार कर लें।

उत्पादन की प्रक्रिया में मनुष्यों के सम्बन्धों पर विचार करते समय प्रत्येक स्थान में (तथाकथित आदिम साम्यवाद के अतिरिक्त) हम देखते हैं कि मनुष्यों के समूहों का निर्माण इस प्रकार नहीं होता है, जिससे विभिन्न समूह क्षैतिजिक रेखा में पड़ने की अपेक्षा प्रलम्बाकार रेखाओं में पड़ें। उदाहरण के लिये, मध्यकालीन सामन्तवादी युग में, हम जागीरों के स्वामियों को शीर्ष स्थान में पाते हैं, उनके नीचे प्रशासकों, नगरपिताओं, निरीक्षकों तथा सबसे नीचे किसानों को पाते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के उत्पादन–सम्बन्धों में हम पाते हैं कि मनुष्य केवल ढलाई करने वाले मिस्त्री, रेलमार्गों के कर्मी, तम्बाकू के खेतों में काम करने वाले कर्मी, आदि जैसे समूहों में विभक्त नहीं होते हैं, बल्कि उनके कार्यों में बहुत अन्तर हो जाने के बावजूद, वे

सब एक ही आधार पर कार्य करते हैं, उनकी उत्पादन में अपेक्षाकृत समान ही स्थिति होती है; बल्कि हम यह पाते हैं कि यहाँ बहुसंख्यक व्यक्ति श्रम–प्रक्रिया में ऊँचे स्थान में भी स्थित होते हैं : सामान्य कर्मियों के ऊपर ''वेतन भोगी कर्मचारी है।'' (मध्यम स्तर का प्राविधिक कर्मचारी वर्ग : कुशल मैकेनिक, इंजीनियर, विशेषज्ञ आदि); इन ''वेतनभोगी'' मनुष्यों के ऊपर उच्चतर अधिकारी (अधीक्षक, निदेशक) हैं; इनके ऊपर तथाकथित संस्थानों के स्वामी, पूँजीपति, महानिदेशक तथा उत्पादन प्रक्रिया के भाग्य–नियन्त्रक हैं। आइये हम धनी रोमन भूस्वामी के लैटी–फूण्डियम पर भी विचार करें। यहाँ पुनः हम व्यक्तियों का एक विनियमित स्तरण पाते हैं; इस स्तरण में सबसे नीचे दास हैं; दासों के ऊपर दास–चालक, निरीक्षक, आदि हैं; इसके बाद अधीक्षक आते हैं; अन्त में लैटी–फूण्डियम का स्वामी आता है, जिसका परिवार प्रतिष्ठित होता है (जिसकी पत्नी प्रायः गार्हस्थिक कार्यों की देखभाल करती है)। एक अन्धा व्यक्ति भी देख सकता है कि हम काम करने वाले व्यक्तियों के बीच के भिन्न रूप से बने सम्बन्धों पर विचार कर रहे हैं। समस्त उल्लिखित व्यक्ति श्रम–प्रक्रिया में किसी–न–किसी रूप में भाग लेते हैं, इसलिये उनमें परस्पर निश्चित सम्बन्ध होता है। उनका वर्गीकरण करने में, हम उनको उनके व्यवसायों के आधार पर विभाजित कर सकते हैं; लेकिन हम उन्हें उनके वर्गों के अनुसार भी विभक्त कर सकते हैं। यदि हमारा विभाजन व्यवसायों के आधार पर है, तो हम लुहार, तालासाज, संगतराश आदि पायेंगे। उच्चतर वर्ग में रसायन शास्त्री, मैकेनिक, ब्वायलर, इन्जीनियर, टैक्सटाइल विशेषज्ञ, रेलवे–इन्जीनियर, विशेषज्ञ आदि हैं। यह स्पष्ट है कि तालासाज, संगतराश, मिस्त्री एक वर्ग में हैं, जबकि इंजीनियर, विशेषज्ञ आदि दूसरे वर्ग में हैं; पूँजीपति, जो सम्पूर्ण उद्योग को नियन्त्रित करता है, एक तीसरे वर्ग में है। इन सबको एक ही पात्र में नहीं फेंका जा सकता है। यद्यपि तालासाज, खराद करने वाले और कम्पोजीटर के काम में विभाजन है, लेकिन सामान्य श्रम–प्रक्रिया में उनमें परस्पर एक ही स्तर का सम्बन्ध होता है, तथा तालासाज और इंजीनियर या तालासाज और पूँजीपति के बीच का सम्बन्ध पूर्ण रूप से भिन्न होता है। पुनः, तालासाज, खराद करने वाला, लीनोटायपर का समस्त इन्जीनियरों से व्यक्तिगत और एक निकाय के रूप में, एक ही आधार पर सम्बन्ध होता है, तथा समस्त अधीक्षकों, उद्योग के संचालकों पूँजीपतियों से एक ही प्रकार की दूरी होती है। यहाँ पर उत्पादन के कार्य, उत्पादन की महत्ता तथा मनुष्यों के सम्बन्धों के बीच की विशेषता में

अधिकतम अन्तर होते हैं; पूँजीपति अपने कारखाने में अपने कर्मचारियों का वितरण अपनी इच्छानुसार करता है; लेकिन कर्मचारी पूँजीपतियों का वितरण नहीं करते है; वे इन पूँजीपतियों द्वारा वितरित होते हैं। यह ''स्वामी और सेवक'' का सम्बन्ध है। उत्पादन–प्रक्रिया में मनुष्यों के भिन्न प्रकार के कार्य ही उनके विभिन्न वर्गों में विभाजित होने के आधार बनते हैं।

उत्पादन की प्रक्रिया और वितरण की प्रक्रिया के बीच के सम्बन्ध की प्रकृति यहाँ पर विशेष विचारणीय है; क्योंकि हमने देखा है कि वितरण की प्रक्रिया उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया का विलोम पक्ष है।

वितरण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में मार्क्स इस प्रकार कहता है : ''वितरण की सर्वाधिक खोखली अवधारणा में, वितरण उत्पादों के वितरण के रूप में प्रकट होता है और उस सीमा तक प्रकट होता है जब तक इसे हटा नहीं दिया जाता है, तथा यह उत्पादन से स्वतन्त्र होता है। लेकिन जब उत्पादों का वितरण कहलाता है इसके पहले, सर्वप्रथम यह उत्पादन के साधनों का एक वितरण है, तथा दूसरे, उत्पादन के विभिन्न रूपों में समाज के सदस्यों का वितरण है (व्यक्तियों का उत्पादन की कुछ दशाओं के आधीन होना)। उत्पादों का वितरण स्पष्ट रूप में इसी वितरण का परिणाम है, जो उत्पादन की प्रक्रिया से आबद्ध है तथा जो उत्पादन के संगठन को भी निर्धारित करता है। चूंकि वितरण उत्पादन से आबद्ध है, इसलिए वितरण से पृथक् उत्पादन पर विचार करना विशुद्ध रूप से हवा में गांठ बांधना है। इसके विपरीत, उत्पादों के वितरण के वैशिष्टय को हम उसी क्षण जान जाते हैं, जब हमें उस अन्य वितरण की प्रकृति बता दी जाती है जो मूल्य रूप से उत्पादन का एक कारक होता है।'' मार्क्स के ये वाक्य हमारे लिये विशेष विचारणीय हैं।

सर्वप्रथम हम यह पाते हैं कि उत्पादों के उत्पादन की प्रक्रिया उत्पादों के वितरण की प्रक्रिया को निर्धारित करती है। उदाहरण के लिये, यदि उत्पादन स्वतन्त्र प्रतिष्ठानों द्वारा होता है तो प्रत्येक प्रतिष्ठान अपनी समस्त आवश्यकताओं का उत्पादन नहीं करता है, केवल कुछ विशिष्ट वस्तुओं का ही उत्पादन करता है। यह स्पष्ट है कि उत्पादों का वितरण विनिमय का स्परूप ग्रहण कर लेगा। ताला उत्पन्न करने वाले व्यक्ति न ताले पहिन सकते हैं और न ताले

खा सकते हैं, तथा गल्ला उत्पन्न करने वाले व्यक्ति अपनी फसल को गल्ले के तालों से बन्द नहीं कर सकते हैं; उन्हें इसके लिये ताले और कुंजियों की ही आवश्यकता होगी। उत्पादन की रीति ही उत्पादों के वितरण की रीति निर्धारित करती है; इस वितरण को उत्पादन से स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत, यह उत्पादन द्वारा निर्धारित होता है और इसके साथ यह भौतिक सामाजिक पुनुरुत्पादन का एक अंग बनता है।

लेकिन स्वयं उत्पादन में दो ''वितरण'' सन्निहित है : प्रथम, व्यक्तियों का वितरण, या उत्पादन की प्रक्रिया में व्यक्तियों की व्यवस्था, जो उन कारणों पर निर्भर होती है, जिन पर हम पहले विचार कर चुके हैं; द्वितीय, इन व्यक्तियों में उत्पादन के औजारों का वितरण। ये दो ''वितरण'' उत्पादन का एक अंग हैं; मार्क्स के शब्दों में, वे उत्पादन में सन्निहित हैं। उदाहरण के लिए, हमने पूंजीवादी समाज के विवेचन में देखा है कि इसके ''व्यक्तियों के वितरण'' में वर्गों का विभाजन भी समाहित है, जो उत्पादन की प्रक्रिया के कार्यों की भिन्नता पर आधारित है। लेकिन व्यक्तियों का यह परिवर्तनशील वितरण, उत्पादन के कार्यों की भिन्नता पर आधारित है तथा श्रम के साधनों के वितरण से भी सम्बन्धित है : पूँजीपति, लैटीफूण्डियम का स्वामी, तथा जागीर का स्वामी श्रम के इन साधनों को नियन्त्रित करता है, जबकि श्रम–शक्ति के होते हुए भी कर्मी के पास उत्पादन के उपकरण नहीं हैं; दास को अपने शरीर पर भी अधिकार नहीं होता है अतः यह स्पष्ट है कि उत्पादन में, वर्गों के परिवर्तमान कार्य उत्पादन के उपकरणों के वितरण पर आधारित है। एंजिल्स मार्क्स की अर्थव्यवस्था सम्बन्धी पुस्तक की समीक्षा करते हुए कहता है : ''अर्थव्यवस्था वस्तुओं पर नहीं बल्कि व्यक्तियों के सम्बन्धों पर, तथा अन्ततः वर्गों के सम्बन्धों पर विचार करती है; लेकिन ये सम्बन्ध सदैव वस्तुओं से आबद्ध होते हैं, और वस्तुओं के रूप में प्रतीत होते हैं।'' उदाहरण के लिये, पूँजीवादी समाज में प्रचलित वर्ग–सम्बन्ध, अर्थात् पूँजीपति और कर्मी के बीच के सम्बन्ध वस्तु से आबद्ध हैं : उत्पादन के उपकरण पूँजीपति के हाथ में होते हैं, और उसी के द्वारा नियन्त्रित होते हैं, न कि कर्मियों के द्वारा। उत्पादन के ये उपकरण पूँजीपति के लाभ प्राप्त करने के साधन हैं। ये केवल वस्तुएँ नहीं, बल्कि विशिष्ट सामाजिक महत्त्व की वस्तुएँ है जो केवल उत्पादन के साधन के रूप में नहीं, अपितु श्रमिकों के शोषण के साधन के रूप में कार्य करती हैं। दूसरे शब्दों में,

यहाँ यह वस्तु वर्गों के बीच के सम्बन्ध को व्यक्त करती है, या, एंजिल्स के शब्दों में, ये वर्ग–सम्बन्ध वस्तु के साथ आबद्ध हैं। अन्ततः इस संदर्भ में यह वस्तु पूँजी है।

अतः वर्गों के बीच के सम्बन्धों में वर्तमान उत्पादन के सम्बन्धों– विशिष्ट रूप का निर्धारण उत्पादन की प्रक्रिया के इन व्यक्तियों के समूहों के कार्य की भिन्नता तथा उनके बीच उत्पादन के साधनों के वितरण से निर्धारित होता है। यह उत्पादों के वितरण को पूर्णरूप से निर्धारित करता है।

पूँजीपति इसलिये लाभ प्राप्त करता है, क्योंकि वह उत्पादन के उपकरणों का स्वामी होता है : क्योंकि वह पूँजीपति है।

उत्पादन में वर्ग–सम्बन्ध विशेष रूप से समाज के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हीं के द्वारा समाज की रूपरेखा, इसकी प्रणाली या, मर्क्स के शब्दों में, इसकी आर्थिक संरचना निर्धारित होती है। उत्पादन–सम्बन्ध बहुसंख्यक और बहुविध हैं। यदि यह ध्यान रखें कि हम पुनरुउत्पादन के एक अंश के रूप में उत्पादों के वितरण पर विचार कर रहे हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वितरण की प्रक्रिया में विभिन्न व्यक्तियों के बीच के सम्बन्ध उत्पादन–सम्बन्धों में ही सन्निहित है। एक जटिल सामाजिक प्रणाली में इस प्रकार के सम्बन्ध असंख्य हैं, जैसे–व्यापारियों, साहूकारों, क्लर्कों, दलालों, समस्त प्रकार के व्यवसायियों, कर्मियों, उपभोक्ताओं सेल्समैनों, ट्रेविलिंग सेल्समैनों, निर्माताओं, जहाज के स्वामियों, मल्लाहों, इन्जीनियरों, अकुशल कर्मियों आदि के बीच के सम्बन्ध हैं, जो सब उत्पादन–सम्बन्धों का निर्माण करते हैं। ये समस्त प्रकार के सम्बन्ध अत्यधिक भिन्न संयोगों में, अत्यधिक विलक्षण प्रतिमानों में, अत्यधिक आसामान्य विभ्रमों में अन्तर्बद्ध होते हैं। लेकिन इन समस्त प्रतिमानों की आधारभूत योजना महत्त्वपूर्ण है; अर्थात्, सामाजिक वर्गों के रूप में अभिहित इन विशाल समूहों के पारस्परिक सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण हैं। समाज की प्रणाली समाज में अन्तर्निहित वर्गों, उनकी पारस्परिक स्थिति, उत्पादन की प्रक्रिया में उनके कार्यों तथा श्रम के उपकरणों के वितरण पर आश्रित होगी। यदि समाज में पूँजीपति शीर्ष स्थान पर है, तो वह पूँजीवादी–समाज है; यदि जागीर का स्वामी शीर्ष पर है, तो वह दास–प्रणाली है; यदि कर्मी शीर्ष स्थान पर है, तो वह सर्वहारा–वर्ग की

तानाशाही है। निःसन्देह समस्त वर्गों के अभाव से समाज का लोप नहीं होगा; उदाहरण के लिये, प्रारम्भिक साम्यवादी समाज में कोई वर्ग नहीं थे और न भावी साम्यवादी समाज में कोई वर्ग होंगे।

हमने देखा है कि उत्पादन–सम्बन्ध सामाजिक प्रौद्योगिकी के साथ परिवर्तित होते हैं; किसी भी समाज के वास्तविक ऐतिहासिक विकास पर दृष्टिपात करने से यह समुचित रूप में ज्ञात हो जाएगा कि यह सिद्धान्त ऐसे उत्पादन–सम्बन्धों में भी सही उतरता है, जहाँ साथ ही साथ वर्ग–सम्बन्ध भी है। उदाहरण के लिये, वर्तमान पीढ़ी के सामने वर्गों की स्थिति में बहुत अधिक विचलन हुआ है। कुछ ही दशाब्दियों पूर्व स्वतन्त्र शिल्पियों का एक वर्ग था, जो यान्त्रिक प्रौद्योगिकी के विकास तथा वृहत् स्तर के उत्पादन और कारखाना प्रणाली के विकास के कारण धीरे–धीरे विलीन होता गया। उच्च श्रेणी के शोषक–वर्ग की वृद्धि के साथ सर्वहारा वर्ग की तो वृद्धि हुई, लेकिन लघु शिल्पियों का लोप हुआ। वर्गीय सम्बन्धों में आवश्यक परिवर्तन हुए, क्योंकि प्रौद्योगिकी के परिवर्तनों के साथ समाज में श्रम के वितरण के परिवर्तन भी सम्बन्धित हैं; उत्पादन के कुछ कार्य या तो लुप्त हो जाते हैं या पृष्ठभूमि में चले जाते हैं; नये कार्यों का अभ्युदय हो जाता है आदि, साथ–साथ वर्ग समूह परिवर्तित हो जाते हैं; निम्न स्तर की उत्पादक शक्तियों वाला समाज उद्योगों का उच्चतर विकास नहीं कर सकेगा, और उसकी सामाजिक अर्थव्यवस्था ग्रामीण और कृषि उत्पादनों पर आधारित बनी रहेगी। इस प्रकार के समाज में ग्रामीण वर्गों का प्रभुत्व हमें आश्चर्यचकित नहीं करेगा। दूसरी ओर, अत्यधिक विकसित उत्पादक शक्तियों वाले समाज में बड़े–बड़े उद्योग, नगर, कारखाने, गाँव आदि होंगे, जहाँ नागरिक वर्गों का प्रचुर प्रभाव होगा। भूमि–स्वामी औद्योगिक शोषकों को स्थान प्रदान करते हैं; सर्वहारा लोग अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं।

वर्गों का सतत् प्रगतिशील पुनर्व्यवस्थापन समाज के स्वरूप को पूर्णरूप से परिवर्तित कर सकता है। यह स्थिति विशेष रूप से उस समय होती है, जब समाज का सबसे नीचे का वर्ग शीर्ष पर पहुंच जाता है, जिसकी प्रक्रिया का वर्णन अगले अध्याय में किया जाएगा। यहाँ पर हम केवल यह उल्लेख करेंगे कि वर्ग–सम्बंध (उत्पादन–सम्बंधों के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग) उत्पादन शक्तियों के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होते हैं। ''उत्पादकों के पारस्परिक

सामाजिक सम्बंध, तथा वे परिस्थितियां, जिनके अंतर्गत वे अपने क्रियाकलापों का विनिमय करते हैं तथा उत्पादन के सम्पूर्ण कार्य में सहभागी बनते हैं, स्वभावतः उत्पादन के साधनों के लक्षणों के अनुसार परिवर्तित होंगे। युद्ध के उपकरणों तथा अग्नेयास्त्रों की खोज के साथ सेना का सम्पूर्ण आंतरिक संगठन आवश्यक रूप से परिवर्तित हुआ था, तथा, जिन सम्बंधों के अंतर्गत व्यक्ति एक सेना की संरचना करते हैं और एक सेना के रूप में कार्य करते हैं, वे सब रूपान्तरित होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न सेनाओं के पारस्परिक सम्बंधों में भी परिवर्तन हुआ था। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन सामाजिक सम्बंधों के अंतर्गत व्यक्ति उत्पादन करते हैं वहां उत्पादन के सामाजिक सम्बंध, उत्पादन के भौतिक साधनों और उत्पादन की शक्तियों के विकास और परिवर्तन के साथ परिवर्तित और रूपान्तरित होते हैं।'' दूसरे शब्दों में : विशिष्ट समाज का संगठन उसकी उत्पादक शक्तियों की दशा द्वारा निर्धारित होता है। इस दशा के परिवर्तन से सामाजिक संगठन भी आगे या पीछे अवश्य परिवर्तित होगा। अतः जहाँ कहीं भी उत्पादन की शक्तियां विकसित या क्षीण हो रही हैं, वहाँ सामाजिक संगठन अस्थिर संतुलन की स्थिति में है। अतः उत्पादन–सम्बंधों की समग्रता, समाज की आर्थिक संरचना या इसके उत्पादन की एक विधा है। इसका वास्तविक आधार समाज का मानवीय श्रम–उपकरण है।

घ. महत् संरचना की रूपरेखा

समाजिक जीवन के जिन अवशेष पक्षों पर अब हमें विचार करना चाहिए, वे हैं समाज की सामाजिक और राजनीतिक प्रणालियाँ (राज्य, वर्गों का संघटन, दल आदि); आचरण प्रथाएँ और नैतिकताएँ (मानवीय व्यवहार के सामाजिक आदर्श); विज्ञान और दर्शन; धर्म, कला और मनुष्यों के बीच के संचार के साधन भाषा जैसी प्रघटनाएँ। सामाजिक और राजनीतिक प्रणाली के अतिरिक्त ये प्रघटनाएँ प्रायः हमारी ''मानसिक'' या ''आध्यात्मिक संस्कृति'' के रूप में अभिहित की जाती हैं।

इस ''मानसिक संस्कृति'' के विवेचन का उपयोगी रूपान्तरण, समाज की उस सामाजिक राजनीतिक संरचना का व्यापक आधार पर अध्ययन है, जो प्रत्यक्ष रूप से अपनी आर्थिक संरचना द्वारा निर्धारित होती है।

समाज की सामाजिक और राजनीतिक संरचना की सबसे अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति राज्य की शक्ति है। इसे उसी समय समझा जा सकता है, जब हम वर्ग युक्त समाज के अस्तित्व की आवश्यक दशा को समझ लें; क्योंकि इस प्रकार के समाज में विभिन्न वर्गों के भिन्न–भिन्न हित अवश्य होने चाहिए। कुछ लोगों के पास सब कुछ होता है; अन्य लोगों के पास व्यावहारिक रूप से कुछ नहीं होता है; कुछ लोग आदेश देने की स्थिति में होते हैं और अन्य लोगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का विनियोग और उपभोग करते हैं; अन्य लोग दूसरे के आदेशों का पालन करते हैं तथा अपने हाथों से जो उत्पन्न करते हैं, उसे दूसरों को समर्पित करते हैं। उत्पादन और वितरण में वर्गों की स्थिति एक विशिष्ट चेतना के विकास में भी प्रतिफलित होती है। चूंकि जगत् की प्रत्येक वस्तु उन परिस्थितियों का परिणाम है जो इसे जन्म देती हैं, अतः वर्गों की विभिन्न स्थितियां उनके (वर्गों के) हितों, आकांक्षाओं, संघर्षों, यहाँ तक कि उनके मृत्यु के संघर्षो के अंतर में प्रतिफलित होनी चाहिए। वर्गयुक्त समाज की संरचना में विद्यमान संतुलन की प्रकृति का अवलोकन करना एक रोचक विषय है। एक अँग्रेज राजनीतिज्ञ का कथन है कि ऐसे समाज का बिना विघटन की किसी आशंका के अस्तित्व सम्भव हो सकता है जिसमें वास्तव में दो ''राष्ट्र'' वर्ग हैं; किन्तु यह कथन अपने आप में बहुत विचारणीय है।

फिर भी, वर्ग–युक्त समाजों के अस्तित्त्व में कोई संदेह नहीं है। ऐसे समाजों में किसी–न–किसी रूप में ऐसा साधन प्राप्त हो जाता है, जो इनको एक सूत्र में आबद्ध कर देता है। प्रायः राज्य इसी प्रकार का साधन होता है, जो सम्पूर्ण समाज का एक संगठन होता है। यदि हम यह प्रश्न करें कि राज्य की उत्पत्ति कैसे होती है, तो हमें ऐसे किसी उत्तर से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए, जो राज्य की उत्पत्ति अति प्राकृतिक बताता, तथा हमें किसी ऐसी घोषणा को भी नहीं स्वीकार करना चाहिए कि राज्य समस्त वर्गों के ऊपर है। इसका कारण यह है कि वर्ग–युक्त समाज में वर्ग–रहित व्यक्ति नहीं होते हैं। अतः कोई ऐसी सामग्री नहीं उपलब्ध होगी जिससे ऐसे संगठन की रचना हो सके, जो वर्गों से परे या वर्गों से ऊपर हो। राज्य का संगठन पूर्ण रूप से ''शासक–वर्ग'' का संगठन है।

अब यह निर्णय करना है कि शासक–वर्ग कौन है, क्योंकि तब हम समझ सकेंगे कि कौन वर्ग राज्य–शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है; कौन वर्ग अपनी सामर्थ्य, शक्ति, मानसिक

प्रणाली, व्यापक साधनों के द्वारा अन्य समस्त वर्गों को अधीन बनाता है। इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं है। हम देखते हैं कि पूँजीवादी समाज में पूँजीपति–वर्ग उत्पादन पर आधिपत्य रखता है; यह आशा करना व्यर्थ है कि सर्वहारा–वर्ग स्थायी रूप से राज्य पर आधिपत्य रखेगा, क्योंकि ऐसा होने से संतुलन की एक आधारभूत दशा का अभाव होगा; या तो सर्वहारा–वर्ग उत्पादन के साधनों पर भी नियन्त्रण कर लेगा, या बुर्जुआ–वर्ग राज्य–सत्ता पर अधिकार कर लेगा। एक विशेष प्रकार की आर्थिक संरचना से युक्त समाज के अस्तित्व से भी इसके राज्य के संगठन का अनुकूलन उद्भूत होता है; दूसरे शब्दों में, समाज की आर्थिक संरचना द्वारा इसके राज्य और इसकी राजनीतिक संरचना का भी निर्धारण होता है। राज्य एक बहुत बड़ा संगठन है जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण राष्ट्र होता है, तथा जो लाखों व्यक्तियों पर शासन करता है। इस संगठन के लिए बहुसंख्यक कर्मचारियों, पदाधिकारियों, सैनिकों अधिकारियों, विधायकों, न्यायशास्त्रियों, मन्त्रियों, न्यायाधिकारियों, सेनाध्यक्षों, आदि की आवश्यकता होती है; तथा यह (संगठन) मनुष्यों की ऐसी अनेक पर्तो को समाविष्ट करता है, जो एक के ऊपर दूसरी होती हैं। यह संरचना उत्पादन की दशाओं का एक सूक्ष्म प्रतिबिम्ब है। उदाहरणार्थ, पूँजीवादी समाज में बुर्जुआ–वर्ग उत्पादन को नियन्त्रित करता है और इस प्रकार राज्य को भी। निर्माता के बाद कारखाने का अधीक्षक होता है, जो प्रायः पूँजीपति ही होता है; यही बात पूँजीवादी राज्य के मन्त्रियों, तथा उच्च पदों पर आसीन राजनीतिज्ञों के सम्बन्ध में भी सत्य होती है। इन्हीं क्षेत्रों से सेना के सेनाध्यक्ष भर्ती किए जाते हैं; उत्पादन के माध्यमिक स्थान प्राविधिक विशेषज्ञों, अभियन्ताओं, प्राविधिक मानसिक कर्मियों द्वारा भरे जाते हैं; ये मानसिक कर्मी राज्य–व्यवस्था में माध्यमिक अधिकारियों के पदों को ग्रहण करते हैं; वे प्रायः सेना के पदों को भी ग्रहण करते हैं। नीचे के कर्मचारी और सैनिक प्रायः कर्मी–वर्ग से आते हैं। यद्यपि अनेक प्रकार के उच्चावचय होते हैं, लेकिन राज्य की सत्ता की संरचना समाज की संरचना के अत्यधिक अनुरूप होती है।

थोड़ी देर के लिए, यदि हम यह मान लें कि किसी चमत्कार के द्वारा नीचे के कर्मचारी अपने को उच्च कर्मचारियों से ऊपर उठा लेते हैं, तो ऐसा होने से सम्पूर्ण समाज का संतुलन भंग हो जाएगा, अर्थात, क्रान्ति हो जाएगी। इस प्रकार की क्रान्ति उस समय तक नहीं हो

सकती है, जब तक उत्पादन में अनुरूप परिवर्तन पहले ही नहीं हो चुके हैं। यहाँ भी यह स्पष्ट है कि राज्य की संरचना स्वयं आर्थिक संरचना को प्रतिबिम्बित करती है।

लेकिन समाज की सामाजिक और राजनीतिक संरचना राज्य–सत्ता द्वारा परिसीमित नहीं होती है। शासक–वर्ग तथा दलित वर्ग दोनों सामान्य क्रिया के अत्यधिक भिन्न संगठन और स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। सामान्यतः प्रत्येक वर्ग का अपना संरक्षक–समूह होता है, जिसमें वर्ग के सर्वाधिक ''वर्ग–चेतनायुक्त'' व्यक्ति होते हैं, और वे समाज में आधिपत्य करने की प्रतियोगिता के लिए राजनीतिक दलों का निर्माण करते हैं। प्रायः शासक–वर्ग, दलित–वर्ग और मध्यम वर्ग में से प्रत्येक का अपना विशेष राजनीतिक दल होता है। चूँकि प्रत्येक वर्ग में अनेक समूह होते हैं, इसलिए इसमें अनेक दल भी होते हैं, यद्यपि इन अनेक दलों में से कोई एक दल ही वर्ग के स्थायी और आधारभूत हितों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। नियमित रूप से संगठित निकायों के अतिरिक्त, अन्य अनेक निकाय हो सकते हैं : उदाहरण के लिए, अमेरिकी पूँजीपति कर्मियों से निपटने के लिए ही केवल संगठन नहीं रखते हैं, अपितु चुनावों की तिकड़मों तथा हड़ताल तोड़ने वाले लोगों को भर्ती करने के लिए संगठन, औद्योगिक जासूसी के संगठन, सर्वाधिक प्रभावशाली पूँजीपतियों के गुप्त संगठन भी होते हैं; राज्य के विभिन्न अंग इन संगठनों की इच्छाओं को कार्यान्वित करते रहते हैं। दलित वर्ग के भी अपने राजनीतिक दलों के अतिरिक्त अनेक आर्थिक संगठन होते हैं। संक्षेप में, समस्त संगठन वर्ग–युद्ध चलाते हैं; ये समाज की सामाजिक और राजनीतिक संरचना के अंश होते हैं। इनका आधार दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट है, उनका अस्तित्व वर्गों का प्रतिबिम्ब और वर्गों की अभिव्यक्ति है; यहाँ पर भी अर्थव्यवस्था राजनीति को निर्धारित करती है।

इस ''राजनीतिक महत् संरचना'' पर विचार करते समय हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं कि यह राजनीतिक महत् संरचना केवल वैयक्तिक उपकरण नहीं है; इसमें पूरे समाज के लिए वस्तुओं, व्यक्तियों और विचारों का सम्मिलन होता है। उदाहरण के लिए, राज्य उपकरण में वस्तुओं का एक विशेष उपकरण, एक विशेष स्तरण–व्यवस्था, एक निश्चित विचार–प्रणाली (क्रियाविधि, कानून, अध्यादेश आदि) आदि होते हैं। सेना, जो राज्य का एक अंग है, एक विशिष्ट ''प्रौद्योगिकी'' होती है। (तोपें, राइफलें, मशीनगनें यातायात के साधन

आदि), इसकी एक निश्चित विधि के अनुसार मनुष्यों के ''वितरण'' की व्यवस्था, और इसकी अपनी ऐसी ''विचारधारा'' होती है, जो सेना के समस्त सदस्यों के मस्तिष्कों में जटिल सैनिक कवायत तथा विशिष्ट शैक्षिक उपकरणों के द्वारा अधिष्ठित कर दी जाती है। इस दृष्टिकोण से देखने पर, हमें सेना का चित्र निम्नाकिंत निष्कर्षो की ओर संकेत करेगा। सेना की प्रौद्योगिकी का निर्धारण समाज के उत्पादक श्रम की सामान्य प्रौद्योगिकी द्वारा होता है; लोहे को ढालने का ज्ञान अर्जित करने के पहले तोपें नहीं बनाई जा सकती हैं, अर्थात् तोपों का निर्माण उत्पादन के आवश्यक साधनों के उपलब्धि के पूर्व नहीं हो सकता है। सेना की संरचना, सैन्य विज्ञान तथा समाज के वर्गीय स्तरण पर व्यक्तियों का वितरण, आधारित है। इन हथियारों के अस्तित्व तथा प्रकृति पर सेना का तोपखाना, पैदल सेना, इंजीनियर, अश्वसेना आदि के रूप में विभाजन आधारित होता है; इसी पर यह निर्भर होगा कि किस प्रकार के अधिकारी और विशेष कार्य करने वाले व्यक्ति सेना में वर्तमान हैं। दूसरी ओर, समाज के वर्गों की वर्गीय व्यवस्था द्वारा यह निर्धारित होगा कि समाज के किस स्तर से सेना–अधिकारियों को लिया जाता है; किस वर्ग के प्रतिनिधियों के द्वारा सेना के कार्यों को नियंत्रित किया जाता है; अंततः, सेना में जो विशिष्ट मानसिक अभिवृत्तियां अधिष्ठित होती हैं, वे एक ओर सैन्य संरचना द्वारा निर्धारित होती हैं और दूसरी ओर समाज की वर्ग–संरचना द्वारा। जार की सेना में यह नारा था कि ''ईश्वर, सम्राट और पितृभूमि'' के लिए जार की आज्ञा का पालन करो; लाल सेना का नारा है ''साम्राज्य–वादियों से कर्मियों की सुरक्षा करने के लिए अनुशासन का संरक्षण करो।'' ये उदाहरण यह दिखाने के लिए पर्याप्त हैं कि सामाजिक और राजनीतिक महत् संरचना अत्यधिक जटिल होती है तथा इसमें विभिन्न प्रकार के अनेक तत्त्व होते हैं, जो परस्पर सम्बद्ध होते हैं। समग्र रूप में, यह संरचना समाज के वर्गों की व्यवस्था द्वारा निर्धारित होती है तथा यह संरचना उत्पादक शक्तियों, अर्थात्, प्रौद्योगिकी पर आधारित होती है। इन तत्त्वों में से कुछ प्रत्यक्ष रूप से प्रौद्योगिकी पर आधारित होते हैं; अन्य समाज की वर्गीय विशेषताओं तथा स्वयं इस महत् संरचना की प्रौद्योगिकी पर आधारित होते हैं। महत् संरचना के समस्त तत्त्व प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उस अवस्था पर आधारित हैं जिस पर सामाजिक उत्पादन शक्तियां पहुंच चुकी हैं।

''महत् संरचना'' के अन्य पक्ष मनुष्य के समाज में, या समाज के पृथक् उपविभागों में या पूर्ण रूप से संघर्ष या पूर्णरूप से सामंजस्य की दशा में रहने का परिणाम हैं। इस दशा की अभिव्यक्ति उन सामाजिक आदर्शों की सामाजिक आवश्यकता है, जिनके अंतर्गत प्रथाएँ, नैतिकताएँ, कानून तथा अन्य बहुसंख्यक मानदण्ड आते हैं, जिनमें से समस्त प्रौढ़ और जटिल समाज के जटिल विसंवादों के संचयन उत्पन्न होते हैं। इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण विसंवाद वर्गविसंवाद या वर्ग–संघर्ष है। कभी–कभी इस विसंवाद के दमन करने के लिए अत्यधिक शक्तिशाली नियामक की आवश्यकता होती है; राज्य अपने कानूनी निर्णयों, अपने कानून के मानदण्डों, आदि के द्वारा इस नियामक को जन्म देता है। वर्गों के बीच में, वर्गों के अंतर्गत व्यवसायों, समूहों और संगठनों में भी तथा सामान्य रूप से समस्त मानवीय श्रेणियों में कुछ अन्य प्रकार के भी विसंवाद होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति समस्त प्रकार के व्यक्तियों के संपर्क में आता है और विभिन्न प्रकार के प्रभावों से प्रभावित होता है; वह अपने को तीव्र गति से परिवर्तित हो रही ऐसी परिस्थितियों के अंतर्गत पाता है जिनका लोप हो सकता है और जो पुनः उदय हो सके हैं। यहाँ पर प्रत्येक पग पर विसंवाद मिलते हैं और फिर भी समाज तथा कुछ समूह इनके अंतर्गत अपना अपेक्षाकृत स्थायी अस्तित्व बनाये रखते हैं। पूँजीपति, प्रतिष्ठानों के स्वामी, और व्यापारी बाजार में परस्पर प्रतियोगी होते हैं; फिर भी वे एक ही राज्य के अंतर्गत रहते हुए सशस्त्र संघर्ष का आश्रय बहुत कम लेते हैं तथा सदस्यों के पारस्परिक प्रतियोगी संघर्ष के कारण उनका वर्ग कभी नष्ट नहीं होता है। इसके विपरीत खरीददार और विक्रेताओं के स्पष्टता विरोधी हित होते हैं, लेकिन वे एक दूसरे को शारीरिक दृष्टि से क्षति नहीं पहुँचाते। कर्मियों में कुछ लोग बेकार होते हैं, जिन्हें पूँजीपति हड़ताल के दिनों में जीतने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को नहीं जीता जा सकता, क्योंकि कर्मियों में वर्ग–बंधन अत्यधिक दृढ़ होता है। यह दशा कानूनी मानदंडों के साथ–साथ अन्य विभिन्न प्रकार के मानदंडों के होने का परिणाम है। ये पूरक आदर्श स्वयं ही मनुष्यों के मस्तिष्कों को प्रभावित करते हैं तथा वे इनका स्वेच्छा से अनुसरण करते हैं। उदाहरण के लिए, नैतिकता के नियम इसी प्रकार के हैं जिनका व्यवसायी समाज में नितांत पवित्र कानूनों के रूप में पालन होता है, जो स्वयं अपना प्रकाश विकीर्ण करते हैं और सम्बन्धित व्यक्तियों को एक सूत्र में आबद्ध करते हैं; यही बात समाज की अन्य प्रथाओं, कर्त्तव्यों, शिष्टाचार के नियमों आदि के

सम्बन्ध में भी है : इन नियमों की तथाकथित अधिप्राकृतिक विशेषता के बावजूद, इनकी लौकिक जड़ों को सरलता से खोजा जा सकता है, जिनका इनके पालन करने वालों की पवित्र और पारलौकिक भावना से कोई सम्बन्ध नहीं है। सूक्ष्म पर्यवेक्षण से हमें दो आधारभूत दशाओं का ज्ञान होता हैः पहले ये नियम परिवर्तनशील हैं, दूसरे, ये वर्गों, समूहों और व्यवसायों आदि से सम्बन्धित हैं। यह भी स्पष्ट है कि वे उत्पादक शक्तियों के द्वारा उपलब्ध स्तर द्वारा निर्धारित होते हैं। सामान्यरूप में ये नियम समाज, वर्ग या समूह के संरक्षण के लिए अपेक्षित मार्ग का निर्देशन करते हैं, तथा इनके लिए यह आवश्यक होता है कि व्यक्ति अपने हितों को समूह के अधीन रखें। इस प्रकार ये आदर्श मानव सामाजिक प्रणाली के आंतरिक विसंवादों को नियंत्रित रखने के लिए संतुलन की दशाएँ हैं। इसका आशय यह है कि वे समाज की आर्थिक संरचना के न्यूनाधिक रूप से अनुरूप होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, किसी भी समाज में यह बात असंभव होगी कि वहाँ के प्रमुख रीतिरिवाज और प्रथाएँ उसकी आधारभूत आर्थिक संरचना की स्थायी रूप से विरोधी हों। इस प्रकार के विरोध का आशय है सामाजिक संतुलन की आधारभूत दशाओं का पूर्ण अभाव। नैतिक नियम समाज में उत्पन्न होते हैं, और वे आर्थिक प्रणाली के साथ परिवर्तित और लुप्त होते हैं। इस प्रकार पूँजीवादी समाज में, पूँजीपति वस्तुओं (उत्पादन के उपकरणों) को नियंत्रित करता है, जो एक ऐसी दशा है जो पूँजीवादी राज्य के कानूनों, अर्थात्, तथाकथित व्यक्तिगत संपत्ति में परिलक्षित होती है और जो राजसत्ता के समस्त अंगों द्वारा सुरक्षित होती है। पूँजीवादी समाज की उत्पादन–दशाओं को न्यायिक भाषा में संपत्ति–सम्बन्ध कहते हैं; ये सम्बन्ध अनेक कानूनों द्वारा समर्थित होते हैं। ऐसी कोई दशा अग्राह्य है, जिसमें पूँजीवादी समाज के कानून इस समाज के संपत्ति–सम्बन्धों का संरक्षण न करके उनको नष्ट कर देंगे। इसी प्रकार ''पूँजीवादी समाज की नैतिक चेतना'' इसकी भौतिक दशाओं को परिलक्षित और अभिव्यक्त करती है। व्यक्तिगत संपर्क के क्षेत्र में नैतिकता यह शिक्षा देती है कि चोरी का निषेध है, इसमें ईमानदारी तथा दूसरों की संपत्ति का अपहरण अंतर्निविष्ट है। स्पष्ट है कि इस नैतिक नियम के अभाव में पूँजीवादी समाज अविलंब विघटित हो जाएगा।

उपर्युक्त विसंवादों को बड़ी सरलता से दूर किया जा सकता है। यद्यपि साम्यवादी व्यक्तिगत संपत्ति की पवित्रता में विश्वास नहीं करते हैं, लेकिन वे चोरी की अनुमति नहीं देते हैं। यह कहा जा सकता है कि यह कुछ ऐसी चीज के वर्तमान होने का संकेत करता है जो सबके लिए पुनीत है तथा जिसकी लौकिक कारणों के द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकती। इस स्थिति में तथ्य पूर्णतया भिन्न हैं : यह सत्य है कि साम्यवादी व्यक्तिगत संपत्ति के अपहरणता या अखंडता को स्वीकार नहीं करते; कारखानों का राष्ट्रीयकरण बुर्जुआओं का अपहरण है; कर्मी–वर्ग अन्य लोगों की संपत्ति का विनियोग करता है, वैयक्तिक संपत्ति के अधिकारों का अंत करता है, संपत्ति के अधिकारों में निरंकुश हस्तक्षेप करता है। लेकिन साम्यवादी चोरी की निंदा करते हैं; क्योंकि प्रत्येक कर्मी द्वारा पूँजीपति के यहाँ से अपने हित के लिये व्यक्तिगत रूप से चोरी करने से सामान्य संघर्ष की उपलब्धि नहीं होगी, अपितु ऐसा करने से कर्मी छोटे–छोटे बुर्जुआ बनेंगे। चोर और ठक वर्ग–संघर्ष में युद्ध नहीं करेंगे, भले ही वे सर्वहारा लोगों की संतान हों। यदि सर्वहारा–वर्ग के अनेक लोग चोर हो जाते हैं, तो वर्ग टूट जाएगा और शक्तिहीन हो जाएगा; अतः, साम्यवादी चोरी का निषेध करते हैं; लेकिन यह निषेध व्यक्तिगत संपत्ति की सुरक्षा के लिए नहीं है, बल्कि प्रवर्ग की एकता को बनाए रखने, तथा इसकी अनैतिकता तथा विघटन से रक्षा करने के लिए है, जिसके संरक्षण के बिना सर्वहारा–वर्ग को विकास की आगामी अवस्था में कभी भी रूपान्तरित नहीं किया जा सकता है। अतः हम सर्वहारा–वर्ग के आचरण के वर्गीय मानदण्डों पर विचार कर रहे हैं। यह स्पष्ट है कि जिन नियमों पर हमने अभी विचार किया है, वे समाज की आर्थिक दशा द्वारा निर्धारित होते हैं।

विज्ञान और दर्शन भी सामाजिक प्रघटना की श्रेणी में आते हैं। हम देखेंगे कि दर्शनशास्त्र विज्ञान की उपलब्धियों पर ही आधारित है। अत्यधिक विकसित विज्ञान अत्यधिक जटिल वस्तु है, वह केवल विचारों की प्रणाली तक ही सीमित नहीं है। विज्ञानों की अपनी प्रविधियां, उनके अपने उपकरण, चार्ट, पुस्तकें, प्रयोगशालाएँ संग्रहालय आदि होते हैं; कोई प्रयोगशाला या कोई वैज्ञानिक अभियान इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हो सकता है; उनके अपने व्यक्तिगत उपकरण भी होते हैं, जो कभी–कभी अत्यधिक संगठित होते हैं (उदाहरण के लिए विज्ञान की कांग्रेस, कान्फ्रेंस, एकेडमी या अन्य संगठनों को ले सकते हैं, जिनके अपने मुख

पत्र और अन्य प्रकाशन होते हैं); और अंततः उनकी विचारों की एक प्रणाली तथा चिंतन की एक व्यवस्था भी होती है, जिससे समुचित भाव में विज्ञान की रचना होती है।

निम्नाकिंत सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्व का है : प्रत्येक विज्ञान व्यवहार तथा सामाजिक जीवन के संघर्ष की दशाओं और आवश्यकताओं से उत्पन्न होता है। ''एक आदिवासी के अनुभव विविध प्रकार के होते हैं; यह खाद्य और अखाद्य वृक्षों में अंतर कर सकता है, शिकार का पता लगा सकता है, जंगली जानवरों और जहरीले सांपों से अपनी रक्षा कर सकता है। वह पानी और आग का उपयोग कर सकता है, अपने औजारों और हथियारों के लिए पत्थरों और लकड़ी का चुनाव कर सकता है, धाातुओं को गला और ढाल सकता है, वह अपनी अंगुलियों से गिनती गिन सकता और हिसाब लगा सकता है, वह नक्षत्रों की देख सकता है, सूर्य और ग्रहों की गति और परिवर्तित स्थितियों का पर्यवेक्षण कर सकता। उसके समस्त या अंधिकांश पर्यवेक्षण कारणात्मक या उपयोगिता की दृष्टि से होते हैं। ये आदिम पर्यवेक्षण विभिन्न विज्ञानों के अंकुर हैं। विज्ञान का उसी समय विकास हुआ होगा, जब मनुष्य को भौतिक आवश्यकताओं से मुक्ति मिली होगी और उसके पास पर्याप्त अवकाश होगा, तथा जब बुद्धि पर्याप्त उपयोग के द्वारा समुचित रूप से संशक्त हो गई होगी।'' अतः विज्ञान तभी प्रारम्भ और विकसित हो सकता है, जब उत्पादक शक्तियों के विकास ने वैज्ञानिक पर्यवेक्षण के लिए पर्याप्त अवकाश दे दिया हो। इसके अतिरिक्त विज्ञान की मूल सामग्री उत्पादन के क्षेत्र से ली गई सामग्री है। अतः हमें इस कथन से आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि जीवन की रक्षा के लिए किए गए उत्पादन, अर्थात्, उत्पादन के हितों, ने ही विज्ञान के विकास के लिए सबसे पहले प्रेरणा प्रदान की थी। संक्षेप में, व्यवहार ने सिद्धान्त को जन्म दिया और इसे आगे बढ़ाया।

विज्ञानों के क्रमिक प्रसार, विभाजन तथा विशेषीकरण का उत्पादक शक्तियों के विकास की अवस्थाओं पर, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, आधारित होना पूर्णतयः स्पष्ट है। मानव—समाज की प्रसारित चेतना ही विज्ञान है, उसने अपने मानसिक वृत्त को अधिक व्यापक बना करके बहुसंख्यक प्रघटनाओं को समझने और नियंत्रित करने में सफलता पाई।

विज्ञान और समाज की उत्पादक शक्तियों के बीच का सम्बन्ध बहुमुखी है। इस सम्बन्ध का विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं से अध्ययन किया जा सकता है; लेकिन यह पहले देखने में जितना सरल प्रतीत होता है, उतना सरल नहीं है। अतः हमें विज्ञान पर विचार करते समय इसकी प्रविधियों, कार्य करने के इसके विशेष संगठनों, इसकी विषय–वस्तु की ओर पहले ध्यान देना होगा, क्योंकि ये समस्त घटक परस्पर अंतरक्रिया करते हैं तथा एक विशेष समय में एक विशेष विज्ञान का स्तर निर्धारित करते हैं। ये समस्त तत्त्व या घटक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक प्रौद्योगिकी की ओर अग्रसर करेंगे।

सबसे पहले समाज का अस्तित्व ही उसी समय सम्भव है, जब उत्पादक शक्तियों ने अपने विकास की एक निश्चित अवस्था की उपलब्धि कर ली है। यदि अतिरिक्त श्रम का अभाव है या यह सीमित है, तो विज्ञान का विकास सम्भव नहीं है।

विज्ञान की विषय–वस्तु समाज के प्रौद्योगिक और आर्थिक पक्ष द्वारा निर्धारित होती है; ये ऐसे व्यावहारिक आधार हैं जिनके द्वारा यह व्याख्या की जा सकती है कि एक ही प्रकार की खोज या एक प्रकार का अन्वेषण अथवा अध्ययन पूर्णतया स्वतंत्र या पृथक् स्थानों में समानान्तर रूप से कैसे उपलब्ध हो सकता है। विचार जीवन की वर्तमान अवस्था से उद्भूत होते हैं, और जीवन की यह अवस्था उत्पादक शक्तियों के स्तर से उत्पन्न होती है।

प्रौद्योगिकी और अर्थ–व्यवस्था के कारण ही मुख्य रूप से समस्याएँ उत्पन्न होती हैं और अनेक विज्ञानों में इन समस्याओं का समाधान वैज्ञानिक प्रविधियों के परिवर्तन पर आधारित होता है। प्रविधियों के उपकरण असाधारण महत्त्व के होते हैं। उदाहरण के लिए, माइक्रोस्कोप का अन्वेषण सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था। वनस्पतिशास्त्र, जीव–विज्ञान, शरीर–रचना–शास्त्र, बैक्टीरियोलॉजी आदि का विकास माइक्रोस्कोप के बिना असंभव–सा था। इसी प्रकार नक्षत्र–विद्या के विकास में टेलीस्कोप, कैमरा आदि अन्य प्राविधिक उपकरणों का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है। ये वैज्ञानिक प्रविधियां सामान्य रूप से भौतिक उत्पादनों पर आधारित होती हैं, या दूसरे शब्दों में, वैज्ञानिक प्रविधियां भौतिक श्रम की उत्पाद हैं। वैज्ञानिक कार्य में हम प्रायः समानान्तर रूप से उस कार्य का संगठन पाते हैं, जो वैज्ञानिक ज्ञान की

अवस्था को प्रभावित करता रहता है। वैज्ञानिक श्रम का विभाजन (विज्ञानों में विशेषीकरण), वृहत् वैज्ञानिक इकाइयों का संगठन, तथा वैज्ञानिक निकायों की स्थापना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पुनः, ये समस्त पक्ष अंततः आर्थिक और प्राविधिक दशाओं द्वारा निर्धारित होते हैं, इस प्रकार आधुनिक रासायनिक प्रयोगशालायें उन औद्योगिक यन्त्रों के साथ विकसित होती हैं, जिनसे सम्बन्धित हैं; वैज्ञानिक अन्तर–सम्बन्ध आर्थिक सम्बन्धों के साथ–साथ अधिक होते जाते हैं, आदि; लेकिन प्राविधिक और आर्थिक दशाएँ अन्य रूप में भी विज्ञान को निर्धारित करती है। प्रौद्योगिकी के द्रुतिगति से प्रसार होने से आर्थिक दशाएँ तथा जीवन के समस्त मानदण्ड सतत परिवर्तित हो रहे हैं, जिसके फलस्वरूप केवल विज्ञान का अबाध विकास ही नहीं होता है, अपितु पथ–निर्देशक कारक के रूप में परिवर्तन की अवधारणा का भी बोध होता रहता है। इसके विपरीत, जहाँ पर प्रौद्योगिकी रूढ़िवादी है और विकास मन्द है, वहाँ आर्थिक जीवन भी मन्द गति से आगे बढ़ेगा; और मानव–मनोविज्ञान यह निष्कर्ष निकालेगा कि समस्त वस्तुएँ स्थायी हैं। ऐसी स्थिति में समाज केवल समय काटता है और स्थायित्व के सिद्धान्त से शासित होता है। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में वर्गीय विशेषतायें ही वर्तमान होती हैं। ये विशेषतायें चिंतन के रूप में किसी वर्ग विशेष की विशेषताओं या किसी वर्ग के हितों को प्रतिबिम्बित करती हैं। चिंतन के रूप, हित, आदि समाज की आर्थिक संरचना द्वारा निर्धारित होते हैं।

धर्म और दर्शन

धर्म और दर्शन महत् संरचना के अन्य रूप हैं। यहाँ पर हम इन्हीं रूपों पर विचार करेंगे।

मानव–समाज द्वारा संकलित विचारों और पर्यवेक्षणों के लिए सामूहीकरण और वर्गीकरण की आवश्यकता होती है; विज्ञान इसी आवश्यकता का प्रतिफल है। बहुत प्रारंभिक अवस्था से ही विज्ञान अनेक शाखाओं और उपशाखाओं में विभाजित किया जाने लगा था, और इन विशेष विज्ञानों में विचारों को व्यवस्थित करने की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई थी; लेकिन एक ऐसी चीज की आवश्यकता अनुभव की गई थी, जो इन समस्त ''ज्ञानों'' और ''भ्रान्तियों'' को एक सूत्र में आबद्ध रक्खे तथा इनके बीच एक संतुलन स्थापित करे। धर्म और सामान्य

विज्ञान ने एकता का यह सिद्धान्त प्रदान किया; इसी ने सर्वाधिक अमूर्त और सामान्य प्रश्नों के उत्तर दिए : संपूर्ण अस्तित्व का कारण; ब्रह्माण्ड की प्रकृति; यह संसार जैसा दिखाई पड़ता है वैसा ही है या और कुछ है; मस्तिष्क और पदार्थ की प्रकृति; ब्रह्माण्ड के ज्ञान की संभावना; सत्य की प्रकृति; समस्त प्रघटनाओं के वास्तविक कारण; मानव–ज्ञान की सीमाओं का अस्तित्व, इन सीमाओं की परिभाषा; तथा अन्य इसी प्रकार के अनेक प्रश्न। वास्तव में, इन प्रश्नों के उत्तर हमारी किसी भी विशिष्ट प्रघटना को प्रभावित करेंगे। उदाहरण के लिए, यदि सब कुछ ईश्वर की इच्छा पर आधारित है, जो दैवी योजना के अनुसार संसार को निर्देशित करता है, तो हमारा संपूर्ण ज्ञान प्रयोजनवाद या धर्मशास्त्र के द्वारा व्यवस्थित होना चाहिए, और कुछ कालों में विज्ञान ने वास्तव में इसी रूप को ग्रहण भी कर लिया था। तब समस्त प्रघटनाओं में दैवी उद्‌देश्य और ''ईश्वरीय हाथ'' को खोजने की आवश्यकता हुई थी। लेकिन यदि प्रघटनाओं से ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं है, और यदि कारणात्मक सम्बंध ही केवल महत्त्व का तत्त्व है, तो संसार की प्रघटनाओं के प्रति हमारा दृष्टिकोण पूर्णतयः भिन्न हो जाता है। यदि दर्शन और धर्म ऐसे चश्मे हैं, जिनके द्वारा समस्त तथ्यों को उद्विकास की एक निश्चित अवस्था में देखा जाता है, तो इन चश्मों की रचना में निहित दशाओं का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जैसा हम जानते हैं कि धर्म का सार–तत्त्व अधिभौतिक शक्तियों तथा रहस्यात्मक आत्माओं में विश्वास है; यह स्थूल या अधिक अमूर्त और वायविक हो सकता है। आत्मा आदि की यह धारणा उस समय के समाज की विशिष्ट आर्थिक संरचना की प्रतिबिम्ब मात्र है, जब श्रम के विभाजन ने प्रशासकीय कार्य के पृथक्करण के लिए प्रेरित किया। गोत्र के सबसे बड़े व्यक्ति ने उत्पादन के सम्बंध में अनुभव संचित किया, और उसने श्रम की योजना की रूप–रेखा तैयार की और आदेश दिया। यह संचित अनुभव सक्रिय सृजनात्मक सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करता है; अन्य लोग उसके आदेशों का पालन करते हैं और उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करते हैं। उत्पादन का यह रूप अस्तित्व के समस्त पक्षों की व्याख्या के लिए एक प्रतिमान बना। मनुष्य आत्मा और शरीर में विभक्त किया गयाः आत्मा शरीर को संचारित करती है, और यह उसी प्रकार शरीर से कहीं अधिक श्रेष्ठ है, जैसे केवल आदेश पालन करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा उसका निर्देशन करने और उस पर प्रशासन करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ

है। अरस्तू एक स्थान पर कहता है कि आत्मा स्वामी है और शरीर दास है। संसार की समस्त वस्तुओं को इसी योजना के अनुसार समझा जाने लगा : मनुष्य प्रत्येक वस्तु के पीछे उसकी आत्मा देखने लगा; संपूर्ण प्रकृति आत्मा से युक्त प्रतीत हुई और इसी से आत्मवाद (एनीमिज्म) की अवधारणा प्रचलित हुई। किसी समय में इस अवधारणा ने धर्म के उद्‌भव पर प्रकाश डाला, और यह माना गया कि पूर्वजों की पूजा से ही धर्म का प्रारंभ हुआ। उनकी आत्माएँ स्वभावतः ही सर्वाधिक बुद्धि सम्पन्न, अनुभवयुक्त, शक्तिशाली और सहायता प्रदान करने में सक्षम मानी गई तथा इन्हीं पर समस्त वस्तुएँ आश्रित हुई। हमारे दृष्टिकोण से धर्म के उद्‌भव में उत्पादन–सम्बन्ध प्रतिबिम्बित होते हैं (विशेष रूप से स्वामी और सेवक के सम्बन्ध), तथा समाज की राजनीतिक व्यवस्था इन्हीं से निर्धारित हुई है। सम्पूर्ण विश्व की व्याख्या उन प्रतिमानों के अनुसार हुई जिनके द्वारा समाज के जीवन की व्याख्या की गई; सम्पूर्ण परवर्ती इतिहास में उत्पादन–सम्बन्धों तथा सामाजिक–राजनीतिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों के समानान्तर धर्म में भी परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं; किसी समाज में अव्यवस्थित रूप से परस्पर सम्बन्धित ऐसे गोत्र हैं, जिनमें से प्रत्येक के अपने मुखिया और उत्तराधिकारी हैं तो वहां धर्म बहुदेवतावाद का स्वरूप ग्रहण कर लेता है; यदि किसी समाज में केन्द्रित एकतंत्र राज्यव्यवस्था है, तो वहाँ एक देवतावाद का जन्म होगा, अर्थात्, स्वर्ग में सिंहासन पर बैठे हुए एक ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किया जाएगा, जो उतना ही क्रूर होगा जितना कि धरती का शासक; यदि किसी राज्य में अधिकारियों की एक स्तरण–व्यवस्था है, तो वहाँ के धर्म में इसी व्यवस्था के अनुसार स्वर्ग में ऐसे संतों, देवदूतों और देवताओं की एक क्रमिक व्यवस्था मानी जाती है जो अपनी प्रतिष्ठा, पद और क्रम के अनुसार अधिष्ठित होते हैं। सांसारिक व्यवस्था के अनुसार ही देवताओं में भी श्रम–विभाजन मिलता है; एक सैनिक कार्यों का विशेषज्ञ होता है; दूसरा व्यापारिक कार्यों का; तीसरा कृषि–कार्यों का; आदि। आधिपत्य और अधीनता का सम्बन्ध भी धर्म में परिलक्षित होता है। सांसारिक जीवन की तरह, युद्ध, विद्रोह, संघर्ष आदि के उदाहरण पारलौकिक जीवन में भी बताए जाते हैं। जिस प्रकार धरती के राज्य को विद्रोही नेता भंग करने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार स्वर्ग में दैत्य, दानव, राक्षस, आदि देवताओं के राज्य को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं; स्वर्ग में वे सम्राट या सर्वशक्तिमान की सत्ता की उपेक्षा करने तथा सम्पूर्ण स्वर्गीय व्यवस्था नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

महत् संरचना के रूप में, धर्म केवल विचारों की एक प्रणाली ही नहीं है जो एक प्रतिमान के अंतर्गत व्यवस्थित है, अपितु विज्ञान की तरह इसका पृथक् संगठन (धार्मिक संगठन) होता है, तथा इसमें ईश्वर की पूजा की विशेष विधियों और नियमों की एक प्रणाली होती है, आराधना और साधना के अनेक सम्प्रदाय होते हैं।

धार्मिक महत् संरचना का यह पक्ष भी सामाजिक जीवन से अविच्छेद्य रूप से संग्रथित है : ''चर्च ने प्रत्येक काल में समकालीन समाज के आर्थिक–सांस्कृतिक लक्षणों को पुनरुत्पादित किया है और उनकी पुनरावृत्ति की है। सामन्ती युग में चर्च सामन्तवाद का केन्द्र–बिन्दु था तथा नगरों के उत्कर्ष के युग में, अर्थव्यवस्था के प्रजातांत्रिक तत्त्व और स्वरूप चर्च द्वारा अभिव्यक्त हुए थे, आदि।'' व्यवसायी पादरी का मूल रूप ओझा, नीमहकीम, तत्वदर्शी, पैगम्बर, आदि के रूप में था। इडुअर्ड मेयर इसे सबसे आदिम वर्ग मानता है। सामान्य रूप से, पादरियों का उच्चतम वर्ग शासक–वर्ग का एक अंश था, जिसमें श्रम–विभाजन परिलक्षित होता था; कुछ प्रशासक सैनिक नेता थे, कुछ पादरी थे, कुछ विधायक थे, आदि। यह देखकर हमें आश्चर्य नहीं होता है कि चर्च समकालीन समाज को पुनरुत्पादित करता है और उसकी पुनरावृत्ति करता है।

प्रभावशाली चर्च अपने आर्थिक संगठन का भी निर्माण करता है, जिसकी आर्थिक दशाएँ सम्पूर्ण समाज की आर्थिक दशाओं की तरह ही होती हैं। हम बेबीलोनिया के राजा हम्मूरबी के कानूनों से यह जानते हैं कि शैमास–देव का मंदिर अनेक सौदे करता था तथा सामान्यतः 20% ब्याज लेता था, कभी–कभी यह ब्याज 33% से 40% भी हो जाता था। मध्ययुग में रोमन कैथोलिक चर्च वास्तविक रूप में एक सामन्ती साम्राज्य था, जिसकी अपनी व्यापक अर्थव्यवस्था, कर–प्रणाली थी और उसका अपना प्रशासकीय तंत्र था। इसी प्रकार रूस में भी मठों ने विपुल संपत्ति संग्रह की थी। चर्च जनता की भावनाओं का शमन करने के अतिरिक्त उसे किसी हिंसात्मक अव्यवस्था करने से भी रोकता है, तथा स्वयं एक ऐसा शोषण का तंत्र था और आज भी है, जो अधिकांश शोषक समाजों की सामान्य योजना के अनुसार ही गठित होता था और होता है।

प्रारम्भिक अवस्था के अतिरिक्त, समाज सदा वर्गयुक्त समाज रहा था; इसके उत्पादन–सम्बन्ध आधिपत्य और अधीनता के थे; इसकी राजनीतिक व्यवस्था इसी दशा की प्रतिबिम्ब और अभिव्यक्ति थी। इसका धर्म इस दशा के औचित्य का समर्थन करता था और जनता से भी इसे स्वीकार कराता था; कभी–कभी यह जनता से स्वीकृति प्राप्त करने के लिए बड़े धूर्त साधनों का सहारा लेता था। लेकिन यह समझौता सदा बना नहीं रहता है; जब दमितवर्ग इस धार्मिक कुचक्र से मुक्त होने में असमर्थ पाता है, तो वह रूढ़िवादी धर्म के विरुद्ध अपना नया धर्म प्रतिष्ठित करता है; रूढ़िवादी चर्च के सिद्धान्त के विरुद्ध तथाकथित धर्मद्रोह उठ खड़ा हुआ था; आज भी एक अधिकारी चर्च होता है तथा इसके साथ–ही–साथ विद्रोही धार्मिक समूह भी बने रहते हैं, जो कभी–कभी गैर कानूनी रूप से तथा गोपनीय रीति से संगठित किए जाते हैं; जिनका संगठन उनके स्वयं के पैगम्बरों और पादरियों के सिद्धान्तों के विरुद्ध होता है।

कुछ समय पूर्व तक चर्च और धर्म के सम्बन्ध में ऐसा दृष्टिकोण पूर्णरूप से पाखंड माना गया होता; लेकिन अब तो जिन बुर्जुआ अनुसंधानकर्ताओं ने इस विषय का विशेष अध्ययन किया है, वे भी इस दृष्टिकोण से सहमत हैं। धर्म के आधुनिक युग का सर्वोत्तम अध्येता मेक्सवेबर एशियाई धर्मों के सम्बन्ध में निम्नांकित निष्कर्षों पर पहुँचा है : ''समग्र रूप से, हमें प्रत्येक स्थान में वही सम्प्रदाय, पंथ, मार्ग, समस्त प्रकार की व्यवस्थायें देखने को मिलती हैं, जो पाश्चात्य देशों के प्राचीन युगों में मिलती हैं। वास्तव में, शासक–वर्गों के अस्थायी बहुमत द्वारा प्रतियोगी प्रवृत्तियों को पूर्ण समर्थन नहीं प्राप्त होता था। वहां पर रूढ़िवादी और रूढ़िविरोधी व्यक्ति थे। रूढ़िवादी वर्ग में न्यूनाधिक रूप से वैध सम्प्रदाय, पंथ और मार्ग होते थे। हमारे लिए यह दृष्टव्य है कि वे एक दूसरे से सामाजिक दृष्टि से पृथक् थे। पहले तो वे सामाजिक स्तरण के कारण एक दूसरे से भिन्न थे, और दूसरे वे साधना की श्रेणियों के आधार पर विभक्त थे।'' धार्मिक झंडे के नीचे होने वाले वर्ग–संघर्ष के उदाहरण के रूप में प्रोटेस्टेण्ट धार्मिक आंदोलन को ले सकते हैं जो प्रायः सुधारवाद के नाम से अभिहित किया जाता है, जिसमें कुछ वर्गों ने सामन्ती शासन और रोमन कैथोलिक चर्च पर सबसे पहली बार आक्रमण किया। समस्त शासकों ने पोप का पक्ष लिया; छोटे–छोटे ताल्लुकेदारों और बुर्जुआ लोगों ने

लूथर के नेतृत्व में नरम दल वालों का साथ दिया; कुछ किसानों, कारीगरों, अर्ध–सर्वहाराओं आदि ने अतिवादी मतों को स्वीकार किया। धार्मिक संघर्ष, नारे तथा अन्य प्रवृत्तियां, सामाजिक–राजनीतिक जीवन के संघर्ष की इच्छाओं और आकांक्षाओं के प्रतिबिम्ब थे।

इस प्रकार धार्मिक महत् संरचना संसार की भौतिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होती है, इसका केन्द्रबिंदु समाज की सामाजिक–राजनैतिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब है। अन्य विचार इसी केन्द्र बिंदु के चारों ओर चक्कर काटते हैं, लेकिन इनकी धुरी सामाजिक संरचना ही होती है। यहाँ पर ''आत्मा भी सामाजिक पदार्थ का एक कार्य है।''

पूँजीवादी समाज के सम्बन्ध में निम्नांकित आपत्तियाँ उठायी जाती हैं : योरोप में एकदेवतावाद का धर्म प्रचलित था। लेकिन वहाँ की पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था में भिन्न प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था थी। और जब उत्पादन–सम्बन्ध आधिपत्य और अधीनता पर आश्रित थे, तो वे एकतंत्रीय नहीं थे, पूँजीपति अपने कारखाने का राजा अवश्य होता है, लेकिन पूँजीपतियों के वर्ग किसी एक व्यक्ति के द्वारा संचालित नहीं होते हैं। फिर भी, मार्क्सवाद ही केवल आज के धार्मिक स्वरूपों की व्याख्या देने में समर्थ है; उसकी व्याख्या से इस विरोधाभास का प्रश्न सहज ही सुलझ जाता है।

सामन्ती समाज में राजा और राजकुमार तथा उनके अधीन अधिकारी अर्द्ध–प्राकृतिक अर्थ–व्यवस्था (वस्तुओं के रूप में अर्थ–व्यवस्था) को नियंत्रित करते थे, लेकिन पूँजीवाद के अन्तर्गत एक शक्तिशाली नया अवैयक्तिक नियामक बाजार है, जो अपने असंख्य उतार–चढ़ाओं से कुछ लोगों को संपन्न बना देता है और अन्य लोगों का जीवन नष्ट कर देता है, अर्थात्, जो अंधी और अविवेकी अपरिमेय शक्ति के रूप में मनुष्यों के साथ खिलवाड़ करता है। एक कवि कहता है : ''हमारा जीवन क्या है? एक नगण्य या क्षूद्र घटना है; अभागे कुत्ते को अपने भाग्य पर क्रन्दन करने दो'', अब दैवी–सत्ता भाग्यों का वितरण करती है। ग्रीक और रोमन लोगों के अपने पैरसी, अपने मोइरा, अपने एनांके (आवश्यकता) थे, जो देवताओं से भी श्रेष्ठ एक अनिवार्य शक्ति थे; यह अवधारणा विनिमय–सम्बन्धों के विकास से सम्बन्धित थी, और इसके फलस्वरूप व्यापारिक युद्ध हुए जिनसे ग्रीक का अस्तित्व भी खतरे में पड़ गया। देवता

सदा निराकार आत्मा ही नहीं रहे हैं; वे खाते–पीते थे, स्त्रियों के साथ संभोग करते थे, तथा इन कार्यो के लिये फाख्ते का रूप धारण कर लेते थे। (ग्रीस में समलिंगी मैथुन बहुत अधिक प्रचलित था, वहाँ पुराण कथाओं के अनुसार जीयस इंद्र) ने लड़के के साथ संभोग करने के लिये चील का रूप धारण किया था। लेकिन आर्थिक उद्विकास ने ऐसी अर्थ–व्यवस्था को जन्म दिया, जो विनिमय पर अधारित थी तथा जिसमें सामंती राजनीतिक प्रणाली की उपेक्षा थी। इस आर्थिक उद्विकास ने देवता के चील और फाख्ते के पंख ही नहीं नोंच डाले, अपितु उसे दाढ़ी, मूछ तथा पूर्ववर्ती अवतारों की अन्य विशेषताओं से भी वंचित कर दिया। अब पवित्र बुर्जुआ ईश्वर को ऐसी अज्ञात और अज्ञेय दैवी शक्ति मानता है जिस पर सारी वस्तुयें आधारित होती हैं, लेकिन मनुष्य के साथ ईश्वर का बाह्य सम्बंध नहीं है : देवत्व एक सूक्ष्म आत्मा है, न कि एक स्थूल आदिम स्वरूप या आकार। इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार हो सकता है : अर्थ–व्यवस्था की विशेषताओं का वर्णन, एक ओर, आधिपत्य और आधीनता के सम्बन्धों द्वारा होता है, और दूसरी ओर असंगठित विनिमय–सम्बन्धों द्वारा; धर्म का संरक्षण पूर्णरूप से पहली परिस्थिति के कारण होता है, जबकि बाद की परिस्थिति आज के ईश्वर की सूक्ष्म और निराकार विशेषता की व्याख्या करती है।

अब हम दर्शनशास्त्र की ओर अपना ध्ययान आकर्षित कर रहे हैं, जो सर्वाधिक अमूर्त प्रश्नों पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, जो सम्पूर्ण ज्ञान का सामान्यीकरण है, जो विज्ञानों का विज्ञान है। जब विज्ञान विकसित नहीं हुए थे, या, उनमें परस्पर भेदकरण नहीं हुआ था, तब दर्शन और धर्म के क्षेत्र में विशुद्ध वैज्ञानिक प्रश्न भी आते थे, तथा प्रकृति और मनुष्य सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान भी इनकी परिधि के अंतर्गत आता था। जब विभिन्न विज्ञान अपने–अपने अस्तित्व की स्वतंत्र घोषणा कर चुके हैं, तब भी दर्शनशास्त्र ने अपना क्षेत्र बचा लिया है, जिसके अंतर्गत समस्त विज्ञानों के सामान्य तत्त्व तथा विशेष रूप से मानव–ज्ञान का नियम तथा इसका संसार के साथ सम्बन्ध आदि प्रश्न आते हैं। यद्यपि दर्शनशास्त्र के अनेक उपविभाग हो चुके हैं, फिर भी इसे विज्ञान का संश्लेषण और समन्वय करना चाहिए; इसे समस्त ज्ञात वस्तुओं के सम्बन्ध में एक सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत करनी चाहिए, जो जीवन के समग्र दृष्टिकोण के सम्बन्ध में एक आधार का कार्य कर सके। इस पुस्तक के प्रारम्भ में, हमने

कारणता और प्रयोजनवाद के प्रश्न पर विचार किया था, जो केवल भौतिकशास्त्र या राजनीतिक अर्थव्यवस्था या भाषा विज्ञान अथवा सांख्यिकी का ही विशिष्ट प्रश्न नहीं है, बल्कि इसका सम्बन्ध सार्वभौम रूप से समस्त विज्ञानों से है : एक दार्शनिक प्रश्न; 'मन' (माइण्ड) और 'भौतिक पदार्थ' या विचार और सत् (बीइंग) के बीच के सम्बन्ध का प्रश्न भी इसी प्रकार का है। पृथक्–पृथक् रूप से विज्ञान इस प्रश्न पर विशेष ध्यान नहीं देते हैं, लेकिन यह उन सब से सम्बन्धित है। जैसे प्रत्येक विज्ञान अपने क्षेत्र से सम्बन्धित विचारों को वर्गीकृत और व्यवस्थित करता है, उसी प्रकार दर्शनशास्त्र भी एक दृष्टिकोण से हमारे संपूर्ण ज्ञान को संकलित और व्यवस्थित करता है और इस प्रकार यह संपूर्ण ज्ञान एक व्यवस्थित संरचना की सृष्टि करता है। अतः दर्शनशास्त्र का स्थान सर्वोच्च है तथा अन्य विषयों की अपेक्षा इसकी भौतिक और सांसारिक उत्पत्ति खोजना कठिन है। फिर भी, हम प्रकृति के उसी आधारभूत नियम को ले सकते हैं और कह सकते हैं कि दर्शनशास्त्र समाज के प्राविधिक उद्विकास तथा उत्पादन–शक्तियों द्वारा प्राप्त स्तर पर आधारित है। निश्चित ही, इस प्रकार की बात कहना अत्यधिक जटिल उत्तर देना है, क्योंकि दर्शनशास्त्र प्रत्यक्ष रूप से प्रौद्योगिकी से उद्भूत नहीं है, अपितु अनेक स्थानों पर उससे विच्छिन्न है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। हमारा कथन है कि दर्शनशास्त्र ज्ञान तथा विभिन्न विज्ञानों के सामान्य परिणामों को व्यवस्थित रूप देता है; अतः यह प्रत्यक्ष रूप से उस अवस्था से निर्धारित होता है जहाँ पर ये विज्ञान खड़े होते हैं; यदि किसी कारण से सामाजिक विज्ञान विकसित होते हैं तो दर्शनशास्त्र उसी ओर मुड़ेगा। लेकिन यदि किसी प्रदत्त समय में भौतिक विज्ञान जनसामान्य का ध्यान आकर्षित करते हैं, तो दर्शनशास्त्र का आधारभूत स्वर पूर्णतया भिन्न होगा। ये परिणाम प्रदत्त काल और स्थान में प्रचलित सामान्य मानसिक अभिवृत्ति तथा समाज मनोविज्ञान द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं, जो वर्गीय व्यवस्था की अभिव्यक्ति हैं अर्थात् वर्गों के अस्तित्व की दशाओं की अभिव्यक्ति हैं; अस्तित्व की ये दशाएँ सामान्य रूप से वर्गों की उस अवस्थिति से निर्देशित होती हैं जो उनकी सामाजिक अर्थव्यवस्था में होती है, तथा सामाजिक अर्थव्यवस्था उत्पादक शक्तियों के स्तर का परिणाम होती है। इस प्रकार हम दर्शनशास्त्र और उत्पादक शक्तियों (प्रौद्योगिकी) के बीच अनेक कड़ियाँ पाते हैं।

कुछ दार्शनिक सिद्धात मंद या निराशावादी हैं, अथवा सम्पूर्ण ज्ञान की असंभावना पर जोर देते हैं, या समस्त वस्तुओं की निस्सारता, क्षणभंगुरता और क्षीणता का प्रतिपादन करते हैं, तो हमें इसकी व्याख्या के लिए उस तत्कालीन सामाजिक मनोविज्ञान की ओर ध्यान देना चाहिए, जिससे इस प्रकार के दर्शन का जन्म हुआ है। विस्तृत विश्लेषण से हमें ज्ञात होगा कि इस प्रकार के भेद और निराशावादी दर्शनों का जन्म स्वतंत्र रूप से नहीं हुआ है, अपितु वे समाज के किसी ऐसे वर्ग या अंश अथवा समस्त वर्गों की पराजय की अभिव्यक्ति हैं; जिसके या जिनके लिए कोई मार्ग नहीं बचा है, जीवन का सम्पूर्ण रस नष्ट हो चुका है; निराशावादी दर्शन या मन्द दर्शन इसी मुद्रा या भंगिया से उत्पन्न है। मान लीजिए कोई समाज वर्गों और उनके दलों के संघर्ष में बड़े जोश के साथ लगा हुआ है; यह दशा उस युग के दर्शन में प्रतिबिम्बित होगी, क्योंकि मनुष्य दोहरा रोल नहीं कर सकता : यह एक ही मनुष्य या वर्ग है जो राजनीतिक संघर्ष में लगा हुआ है और साथ–ही–साथ वस्तुओं के अंतिम कारणों पर चिंतन भी कर रहा है। इस प्रकार का सामाजिक संघर्ष मनोविज्ञान पर अपने चिन्ह छोड़ेगा और भव्यतम रचना में प्रतिबिम्बित होगा, या यदि हम यह मान लें कि किसी समाज की गति असाधारण रूप से धीमी हो गई है, उसका जीवन दिन–प्रतिदिन नीरसता में खिसक रहा है; परम्पराओं, निर्धारित कार्यक्रमों तथा पूर्व उदाहरणों से समस्त वस्तुएँ नियन्त्रित हो रही हैं; प्रौद्योगिकी, सामाजिक जीवन तथा विज्ञान में कोई परिवर्तन नहीं हो रहा है; मनुष्य मरते हैं तथा जो पैदा होते हैं वे अपने पूर्ववर्तियों के ही विचारों का अनुसरण करते जाते हैं; आदि। समाज की यह जड़ता निश्चित ही ऐसे दर्शन को जन्म देगी, जो निश्चलता और स्थिरता की सामान्य धारणा पर आधारित होगा। कारणात्मक श्रृंखला को इस प्रकार अंकित किया जाता है : अचलता या जड़ता का दर्शन; जड़ता का विज्ञान; जड़ता का समाज मनोविज्ञान, जड़ता की प्रौद्योगिकी। इन उदाहरणों की संख्या बढ़ाई जा सकती है; लेकिन हम समझते हैं कि सामाजिक अर्थ–व्यवस्था और प्रौद्योगिकी पर दर्शनशास्त्र की आश्रितता सिद्ध हो चुकी है।

कला :

अब हम अन्य सामाजिक प्रघटना कला को लेंगे। कला सामाजिक जीवन की उसी प्रकार उत्पाद है जैसे विज्ञान या अन्य कोई चीज भौतिक उत्पादन से उत्पन्न है; कला की

अभिव्यक्ति के विषयों से यह स्पष्ट हो जाएगा। विज्ञान की तरह यह उत्पादन–श्रम के केवल एक निश्चित स्तर पर ही विकसित हो सकती है, इसके बिना यह निर्जीव और नष्ट हो जाएगी। लेकिन यह सिद्ध करना कुछ जटिल है कि कला सामाजिक जीवन के द्वारा निर्धारित होती है, क्योंकि कला का विषय अधिक जटिल है। इस सम्बन्ध में सबसे पहले इस प्रश्न का उत्तर चाहिए कि कला क्या है; इसका आधारभूत सामाजिक कार्य क्या है?

विज्ञान मनुष्यों के विचारों को वर्गीकृत, व्यवस्थित और स्पष्ट करता है तथा उनके विसंवादों का निरसन करता है; यह विकीर्ण ज्ञान से वैज्ञानिक विचारों और सिद्धान्तों का पूर्ण वस्त्र निर्मित करता है। लेकिन सामाजिक मनुष्य केवल सोचता ही नहीं है, बल्कि अनुभव भी करता है; वह कष्ट सहन करता है, सुख भोगता है, पश्चात्ताप करता है, उल्लास मनाता है, दुःख करता है, आदि; उसके विचार अत्यन्त जटिल और कोमल हो सकते हैं; उसके मानसिक अनुभवों की दिशा के सम्बन्ध में निश्चित रूप से पहले से कुछ नहीं कहा जा सकता है। कला मनुष्य की इन संवेदनाओं को क्रमबद्ध और व्यवस्थित रूप प्रदान करती है, यह इनको शब्दों, ध्वनियों, मुद्राओं या अन्य रूपों में व्यक्त कर सकती है। कभी–कभी यह रूप नितान्त भौतिक आकार ग्रहण कर सकता है, जैसे वास्तुकला। हम इस दशा को अन्य शब्दों में बद्ध कर सकते हैं : उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि कला ''संवेदनाओं के सामाजीकरण'' का माध्यम या साधन है; या लियो टाल्सटाय के अनुसार, कला मनुष्यों को संवेदनात्मक रूप से संचारित करने का माध्यम है। एक निश्चित भाव को व्यक्त करने वाले संगीत से श्रोता संचारित होगा, इसके भाव से प्रभावित होगा; एक संगीतकार की संवेदना अनेक व्यक्तियों की संवेदना हो गई है, यह उनमें संप्रेषित हो गई है, इसने उनको प्रभावित किया है; यहाँ पर एक मानसिक स्थिति का ''सामाजीकरण'' हुआ है। यही बात अन्य कलाओं के सम्बन्ध में भी सत्य है, जैसे चित्रकला, मूर्तिकला, कविता, वास्तुकला आदि।

अब कला की प्रकृति स्पष्ट है : संवेदनाओं की स्वरूपों के रूप में व्यवस्थित करना है; समाज में इन संवेदनाओं का सामाजीकरण, संप्रेषण और विकीर्णन करना कला का प्रत्यक्ष कार्य है।

कला का विकास किससे निर्धारित होता है? सामाजिक उद्विकास पर यह किस प्रकार से आश्रित होता है? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए किसी एक कला का विश्लेषण करना चाहिए। इसके लिए हम संगीत को ले रहे हैं। हमारे विश्लेषण में निम्नाकित तत्त्व प्राप्त होंगे 1. वस्तुनिष्ठ भौतिक वस्तुओं का तत्त्व, संगीतमय प्रौद्योगिकी : वाद्य यन्त्र तथा वाद्य उपकरणों के समूह (आर्केस्ट्रा आदि, उपकरणों का योग कारखाने के यन्त्रों और औजारों के योग से सम्बन्धित होता है); भौतिक प्रतीक : नोशन्स की प्रणाली तथा म्यूजिकल स्कोर्स; 2. मानव–संगठन; इसमें संगीत के कार्य में मानवी सम्पर्क के अनेक रूप आते हैं (आर्केस्ट्रा में मनुष्यों का विभाजन, कोरस; समस्त प्रकार की संगीत–संस्थाएँ); संगीत के स्वरूपात्मक तत्त्व, जिनमें लय, स्वर आदि भी सम्मिलित हैं; 4. विभिन्न स्वरूपों को एकीकृत करने की विधियाँ, रचना के सिद्धान्त जिसे कुछ कलाओं में शैली कहते हैं; व्यापक अर्थ में कला के रूप; 5. कलात्मक कार्य की विषय वस्तु, या यदि हम सम्पूर्ण आन्दोलन या प्रवृत्ति पर विचार कर रहे हैं, तो समस्त कार्यों की विषयवस्तु; यहाँ पर हम अभिव्यक्ति की विधियों से सम्बन्धित नहीं हैं, बल्कि इसके सार से सम्बन्धित हैं, हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत करने के 'विषय' के चयन से सम्बन्धित हैं; 6. ''महत् संरचना की महत् संरचना'' के रूप में, हम संगीत में संगीतात्मक प्रविधि के सिद्धान्त को भी समाहित कर सकते हैं काउण्टर प्वाइण्ट का सिद्धान्त आदि)।

आइए हम संगीत के उद्विकास तथा समाज के सामान्य उद्विकास के बीच के कारणात्मक सम्बन्ध पर विचार करें। समाज का उद्विकास अन्ततः समाज के आर्थिक और प्राविधिक उद्विकास पर आधारित है।

1. हम इस तथ्य पर पुनः विस्तार से विचार नहीं करेंगे कि जब तक समाज की उत्पादन–शक्तियां एक निश्चित स्तर पर नहीं पहुँच गई हैं, तब तक कला का उत्कर्ष नहीं हो सकता है।
2. केवल एक निश्चित पर्यावरण में ही महत् संरचना के असंख्य स्वरूपों में से कला को विकास के लिए पृथक् किया जा सकता है। उदाहरण के लिए ईसा पूर्व चौथी और पांचवीं शताब्दी के ग्रीक के कला और प्रौद्योगिकी के प्रश्न पर विचार करते समय, हम पाते हैं कि उस समय प्रविधियों या प्राकृतिक विज्ञानों का बिल्कुल

विकास नहीं हुआ था, लेकिन दार्शनिक अनुमान बहुत अधिक प्रचलित था। निस्सन्देह, यदि सामाजिक प्रौद्योगिकी द्रुतगति से बढ़ रही है तो ''महत् संरचना'' सामान्य रूप में द्रुत गति से आगे बढ़ती है; लेकिन इसमें भी सन्देह नहीं कि ''महत् संरचना'' सदा एक ही गति से आगे नहीं बढ़ती है और न भौतिक उत्पादन एक ही गति से आगे बढ़ता है। उत्पादन के कुछ स्वरूप अन्य स्वरूपों की तुलना में अधिक तीव्र गति से आगे बढ़ते हैं; वास्तव में, कुछ स्वरूप कुछ कारणों से पूर्णतयः अनुपस्थित हो सकते हैं। ''महत् संरचना'' वही दशाएँ प्रकट करती है : ईसा–पूर्व पांचवी शताब्दी में, एथेंस में, प्रौद्योगिकी बहुत पिछड़ी हुई थी, लेकिन अनुमानात्मक दर्शनशास्त्र चरमोत्कर्ष पर था। बीसवीं शताब्दी में, अमेरिका में प्रौद्योगिकी चरमोत्कर्ष पर है, लेकिन दर्शनशास्त्र उपेक्षित हैं। चर्च की स्तुतियां एक समय सर्वत्र प्रचलित थीं; आजकल परम्परागत स्तुतियों में रुचि लेने वाले अधिक व्यक्तियों को पाना बहुत कठिन है। समाज के मानसिक नव पल्लव महत् संरचना के उच्चतम उत्पाद हैं, और हम स्वभावतः यह आशा करते हैं कि इनसे हमें अधिकतम रस प्राप्त हो। प्राचीन एथेन्स में प्रयोग के द्वारा प्रकृति के रहस्यों की खोज करना एक भद्रजनोचित बात नहीं मानी जाती थी, इस प्रकार की बातों का सम्बन्ध केवल मूढ़ किसानों से ही होता था। इस बात से सहज ही में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस युग में प्राकृतिक विज्ञानों की कितनी उपेक्षा की। यह सब वर्ग–व्यवस्था और सामाजीकृत व्यवस्था का प्रतिफल था। वर्ग–व्यवस्था और सामाजिक अर्थ–व्यवस्था, सामाजिक प्रौद्योगिकी से निर्धारित हुई थी। यही बात संगीत के सम्बन्ध में भी है। ऐसे युग में स्तुतिगान का बहुत अधिक महत्त्व था, जब संगीत और दर्शन धर्म के दास थे; लेकिन आजकल भी स्तुतिगान अत्यधिक पूँजीवादी समाज के लिए अत्यधिक उपयुक्त है। अतएव समाज में संगीत के कार्य, समाज की अवस्था, समाज की मुद्रा आदि, समाज के साधनों, समाज के दृष्टिकोणों और समाज की संवेदनाओं पर आधारित होते हैं। समाज की व्याख्या वर्ग–व्यवस्था और वर्ग–मनोविज्ञान में प्राप्त होती है तथा वर्ग–व्यवस्था और वर्ग–मनोविज्ञान सामाजिक अर्थ–व्यवस्था और उसकी विकास की दशाओं पर आधारित है।

3. संगीत की प्रविधि मुख्यतः उत्पादन की प्रविधि पर आधारित है। आदिवासी पियानो नहीं बना सकते हैं; इसके कारण वे पियानो बजाने या पियानो के लिए संगीत–रचना करने से वंचित रहते हैं। आदिवासियों के आदिम सरल संगीत–उपकरणों तथा आधुनिक युग के जटिल संगीत–उपकरणों की तुनलना करने से इस बात की पुष्टि सरलता से हो सकती है। संगीत स्वतन्त्र कला नहीं है, इसके विकास के लिए सुनिर्मित और सुविकसित यंत्रों की आवश्यकता है। संगीत उपलब्ध उपकरणों के स्तर के अनुसार ही संवेदनाओं को व्यक्त कर सकता है। टेलिस्कोप और पियानों जैसी वस्तुओं का उत्पादन सामाजिक भौतिक उत्पादन का एक अंश है। स्पष्ट है कि संगीतात्मक प्रविधि या उपकरण इस भौतिक उत्पादन की प्रविधि पर आश्रित है।
4. व्यक्तियों का संगठन भी सामाजिक उद्विकास के आधारों से प्रत्यक्ष रूप से सम्बंधित है। उदाहरण के लिए, एक आर्केस्ट्रा में सदस्यों का वितरण मुख्य रूप से उसी प्रकार हुआ है, जैसे एक कारखाने में, अर्थात, उपकरणों और उपकरण–समूहों के आधार पर व्यक्तियों का विभाजन होता है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि इन सदस्यों का विभाजन और संगठन संगीत की प्रविधि द्वारा निर्धारित होता है और यह प्रविधि सामाजिक उद्विकास की अवस्था तथा भौतिक उत्पादनों की प्रविधि पर आधारित है। इसी प्रकार संगीत के अन्य क्षेत्रों में भी व्यक्तियों का संगठन होता है : मान लीजिए कि हम एक संगीत–सभा पर विचार करते हैं, तो हम पाते हैं कि यह सभा सामाजिक जीवन की अनेक दशाओं का प्रतिफल है। इसके सदस्यों का संगीत–प्रेम सामाजिक मनोविज्ञान का परिणाम है। संगीत–सभा के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठन करना उस समाज के लोगों की क्षमता का परिणाम है। यदि सभा के सदस्यों के पास इस कार्य के लिए पर्याप्त समय और मन न हो, तो उनके इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। यह धन और समय अंततः सामाजिक श्रम के उत्पादन से सम्बंधित है। कला की सृजनात्मक प्रक्रियाओं से भी मानवीय सम्बंध सम्बन्धित होते हैं। उदाहरण के लिए हम लोकगीतों को ले सकते हैं। प्राचीन लोकगीत किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं बनाए जाते थे, बल्कि उनमें न्यूनाधिक रूप

से अनेक व्यक्ति योगदान करते थे और इस प्रकार उनमें हजारों अनाम कलाकारों की प्रतिभा लग जाती थी। वहाँ पर स्थिति पूर्णतय : भिन्न होती है, जब कोई कलाकार किसी राजा, राजकुमार या पूँजीपति के आदेश से किसी कलाकृति की सृष्टि करता है। और वहाँ स्थिति और भी भिन्न होती है, जब कोई शिल्पी किसी अज्ञात बाजार के लिए अपनी कलाकृतियों का निर्माण करता है तथा बाजार के उतार–चढ़ाव सकता है, जब उत्पादन समाज–सेवा का रूप ग्रहण कर लेता है। मानव–सम्बन्धों के ये रूप प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक संरचना पर आधारित हैं। दास–प्रथा के युग में कलाकार बाजार की आवश्यकताओं के लिए कला–सृष्टि नहीं करते थे, अपितु अपने सामन्तों के आदेशों के अनुसार कार्य करते थे। वास्तव में, ये तत्त्व कलाकृतियों में अभिव्यक्त होते हैं।

5. स्वरूपात्मक तत्त्व (स्वर, लय आदि) भी सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं। इनमें से अनेक तत्त्व प्रागैतिहासिक काल से वर्तमान हैं – इतना ही नहीं, इन तत्त्वों को पशु–जगत् में भी देखा जा सकता है। ''कार्ल बूचर घोड़ों में लय की चर्चा करते हुए कहता है कि लय मनुष्य की सावयव प्रकृति से उत्पन्न होती है। वह अपने शरीर के प्रत्येक सामान्य प्रयोग में अपने अंगों को नियंत्रित करता हुआ प्रतीत होता है, अर्थात्, उसमें ऊर्जा के आर्थिक उपयोग को विनियमित करने वाला तत्त्व होता है। दुलकी चलता हुआ घोड़ा और भाराक्रांत ऊँट एक लय के साथ उसी प्रकार चलते हैं, जैसे मछुवा नाव खेता है और लुहार हथौड़ा चलाता है। लय अच्छे प्राणी होने की भावना प्रकट करती है; इससे काम सरल ही नहीं होता है, बल्कि इसमें एक कलात्मक सुख का स्रोत और कला का तत्त्व भी निहित होता है, जिसके प्रति सभी व्यक्ति संवेदनशील होते हैं।'' यह बात पूर्ण सत्य है, किन्तु जैसा बूचर ने कहा है कि लय सामाजिक सम्बंधों के प्रभाव तथा विशेष रूप से भौतिक श्रम के प्रत्यक्ष प्रभाव के अंतर्गत विकसित होती है। बोझा खींचते हुए मजदूर गाना गाते हैं, कपड़े धोते हुए धोबी गाना गाते हैं। यहाँ पर लय सामाजिक संगठन का एक उपकरण है। दूसरे शब्दों में, सम्भवतः संगीत के स्वरूपतामक तत्त्व प्रागैतिहासिक काल में ही

उत्पन्न हुए हों, लेकिन वे स्वयं अपने आप से नहीं उद्भूत हुए हैं, बल्कि सामाजिक उद्विकास के प्रभाव के अंतर्गत उत्पन्न हुए हैं।

6. कला की शैलियां भी सामाजिक जीवन द्वारा निर्धारित होती है। इसमें समकालीन मनोविज्ञान और वैचारिकी समाहित होते हैं; यह उन संवेदनाओं और विचारों, उन मुद्राओं और विश्वासों, उन प्रभावों, चिन्तन के उन प्रचिलित स्वरूपों को व्यक्त करती है, जो पर्यावरण में है। शैली केवल बाह्य स्वरूप ही नहीं है, बल्कि उसके अंतर्गत विषय–वस्तु भी सन्निहित है; शैलियों का इतिहास जीवन की प्रणालियों के इतिहास की एक अभिव्यक्ति है। शैली सामाजिक शक्तिमत्ता का परावर्तन है। हिन्दुओं के वैदिक मंत्रों के संगीत की शैली रचना वही नहीं है, जो फ्रान्स के संगीत कक्षों या युद्ध के गीतों की है। ये उत्पादन भिन्न र्प्यावरणों की भिन्न सामाजिक भूमियों से उत्पन्न हुए हैं, फलतः इनके स्वरूप भिन्न हैं। धार्मिक गीत, युद्ध–गीत, नृत्य–गीत आदि की रचना एक ही रीति से नहीं हो सकती है, उनके स्वरूप भिन्न–भिन्न प्रकार की संवेदनाओं, चिन्तनाओं और दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करते हैं। यह अन्तर उन समाजों या वर्गों की अवस्थितियों के अंतर के कारण है, जिनमें ये उत्पन्न हुए हैं। यह अन्तर आर्थिक विकास द्वारा निर्धारित होता है और आर्थिक विकास उत्पादक शक्तियों की अवस्था द्वारा निर्धारित होता है। आगे हम यह कह सकते हैं कि शैली बहुत अधिक सीमा तक विशिष्ट कलाकार की भौतिक दशाओं पर भी आधारित होती है। उदाहरण के लिए, वाद्य–संगीत वाद्य–यंत्रों की प्रकृति द्वारा निर्धारित होता है। इसके अतिरिक्त शैली कलात्मक सृजन की विधि पर भी आश्रित है। अंत में, ये समस्त पक्ष सामाजिक उद्विकास के आधारभूत कारणात्मक सम्बंधों पर आधारित हैं।
7. कला की विषय–वस्तु को उसके स्वरूप से पृथक् करना असंभव है। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि कला और कला की विषय–वस्तु सामाजिक पर्यावरण से निर्धारित होती है। इस कथन का स्पष्टीकरण कला के इतिहास के अवलोकन से सरलता से हो सकता है। यह स्पष्ट है कि किसी विशेष क्षण में किसी–न–किसी रूप में मनुष्य के ध्यान को जो कुछ आकर्षित कर रहा है, उसे ही कलात्मक स्वरूप दिया जाएगा। सृजनात्मक भावना उन वस्तुओं द्वारा नहीं उत्प्रेरित होती है, जो कलाकार

का ध्यान आकर्षित नहीं कर सकती हैं। इसके विपरीत वे वस्तुएँ कला–सृजन का विषय बनती हैं, जो समाज की रुचि अथवा इसके विभिन्न वर्गों की रुचि का केन्द्र होती हैं। इस प्रकार यह सामान्य रुचि मानसिक श्रम के रूप में प्रतिबिम्बित होती है। वास्तव में, एक ऐसा निश्चित नैतिक तापमान होता है जो आचारों और विचारों की सामान्य दशा को निर्देशित करता है। टेने कहता है, ''कलात्मक परिवार एक वृहत्तर समुदाय के अंतर्गत स्थित होता है, जिसकी अभिरुचियां कला–स्कूल की अभिरुचियों के अनुरूप होती हैं, क्योंकि नैतिक और मानसिक जीवन की अवस्था जो जनता की होती है वही कलाकारों की होती है। कलाकार समाज से परे व्यक्ति नहीं होता है।'' टेने का यह कथन सत्य अवश्य है, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि वह अंतिम निष्कर्षों तक पहुंचने में असमर्थ रहा है, नहीं तो वह भौतिकवादी निष्कर्षों को स्वीकार करने के लिए अग्रसर हुआ होता। हमने पर्यावरण के ''नैतिक तापमान'' पर अनेक प्रकार से विचार किया है, और यह निष्कर्ष दिया है कि मानसिक और नैतिक जीवन, संवेदनाएँ और मुद्राएँ स्वयं अपने आप में विकसित नहीं होते हैं; हम जानते हैं कि यह सामजिक चेतना समाज की बाह्य दशाओं और इसके वर्गों तथा समूहों द्वारा निर्धारित होती हैं; ये दशायें विभिन्न प्रकार की अभिरुचियों को भी जन्म देती हैं। फलतः कला की विषयवस्तु भी आधारभूत रूप में सामाजिक उद्विकास द्वारा निर्धारित होती हैं। इसकी विषय–वस्तु सामाजिक अर्थव्यवस्था अर्थात् उत्पादक शक्तियों का एक कार्य है।

8. संगीत के सिद्धान्त तो स्पष्ट रूप से ही उपर्युक्त तत्त्वों से सम्बन्धित हैं, और इस प्रकार समाज की उत्पादक शक्तियों द्वारा निर्धारित होते हैं।

हमने ऊपर कारणता की उस आधारभूत श्रृंखला को अंकित किया है, जो संगीत में वर्तमान है। यह वर्णन विषय का अंतिम विवेचन नहीं है। इस सम्बंध में और अधिक सूक्ष्म विवेचन की संभावनाएँ हैं। इसका सबसे पहला कारण यह है कि हमने कला और समाज के समस्त सम्बन्धों का यहाँ उल्लेख नहीं किया है, तथा दूसरा कारण यह है कि कला के इन समस्त तत्त्वों की ओर भी अनेक पारस्परिक अंतरक्रियाओं का विश्लेषण हो सकता है जिससे

अनेक जटिल प्रतिमानों की उपलब्धि हो सकती। इसके अतिरिक्त, उपर्युक्त विवेचन का यह भी आशय नहीं है कि हमने संगीत के सम्बंध में जैसा प्रतिमान प्रस्तुत किया है बिल्कुल ठीक वैसा ही प्रतिमान अन्य कलाओं के सम्बंध में भी प्राप्त होगा। इसका कारण यह है कि प्रत्येक कला की अपनी निजी विशेषता होती है; जैसे संगीत में भौतिक वस्तुओं का उपयोग न्यूनतम होता है और वास्तुकला में भौतिक वस्तुओं का उपयोग अधिक होता है। समाजशास्त्र के अध्येताओं को विभिन्न कलाओं की इन वैयक्तिक विशेषताओं को कि निम्नाकिंत सिद्धान्त प्रत्येक अवस्था में सत्य है : प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कला अंततः विभिन्न रीतियों से आर्थिक संरचना तथा सामाजिक प्रौद्योगिकी की अवस्था द्वारा निर्धारित होती है।

भाषा और विचार

महत् संरचना की सर्वाधिक अमूर्त वैचारिक श्रेणियाँ, भाषा और विचार भी सामाजिक उद्विकास के कार्य हैं। मार्क्सवादियों या तथाकथित मार्क्सवादियों में प्रायः यह घोषित करना किसी समय फैशन रहा है कि इन प्रघटनाओं की उत्पत्ति का ऐतिहासिक भौतिकवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए, ट्राटस्की ने तो यहाँ तक दावा किया है कि मानव—विचार की शक्तियाँ करीब—करीब अपरिवर्तनीय हैं। लेकिन ऐसी स्थिति नहीं है; ये वैचारिक स्वरूप जीवन के लिए असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण है, तथा इनकी उत्पत्ति समाज से विच्छिन्न होकर नहीं हुई हैं।

भाषा और विचार के विवेचन में जो संदेह प्रायः व्यक्तियों के मस्तिष्क में आते हैं, उन पर हम सबसे पहले विचार कर लें। यह प्रायः स्वीकार किया जाता है कि भाषा एक सामाजिक सम्बन्ध है; मनुष्यों के बीच संपर्क का एक उपकरण है; और मार्क्स का यह कथन सत्य है कि यदि मनुष्य एक दूसरे से बात न करते होते, तो भाषा के उद्विकास की बात करना मूर्खता होती। लेकिन विचार के सम्बन्ध में स्थिति भिन्न है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही विचार करता है, उसका स्वयं का मस्तिष्क होता है और केवल एक रहस्यवादी व्यक्ति ही व्यक्तिगत मनुष्य के विचारों के मूल को समाज में खोजने का प्रयत्न कर सकता है। यह आपत्ति विचार और भाषा के घनिष्ठ सम्बन्ध के अपूर्ण बोध पर आधारित है। विचार सदा शब्दों की सहायता से

क्रियाशील होते हैं, यहाँ तक कि जब शब्द बोले भी नहीं जाते, तब भी वे विचारों के वाहक होते हैं; विचार या चिंतन ध्वनि–रहित संभाषण है। चिंतन की प्रक्रिया अवधारणाओं को संयुक्त करने की प्रक्रिया है जो सदा शब्द–प्रतीकों के रूप में व्यवहार की जाती है। यदि किसी व्यक्ति ने विदेशी भाषा में असाधारण प्रगति कर ली है, तो वह उसी भाषा में चिंतन कर सकता है। वास्तव में, इस तथ्य के उदाहरण स्वयं पाठक के अनुभव से मिल सकते हैं। चिंतन की प्रक्रिया शब्दों की सहायता से सम्पन्न होती है। यदि यह स्थिर है और हम यह भी स्वीकार करते हैं कि संभाषण का उद्‌भव और विकास समाज से सम्बन्धित है, तो तार्किक दृष्टि से यह परिणाम निकलता है कि यही बात चिंतन के सम्बन्ध में भी सत्य होनी चाहिए, इसके अतिरिक्त तथ्य भी यह प्रकट करते हैं कि चिंतन का उद्विकास भाषा के साथ–साथ हुआ है। प्रख्यात भाषा वैज्ञानिक रुडविग नोयेरे कहता है : सामान्य लक्ष्य की ओर निर्देशित सामाजिक क्रिया ही वह स्रोत है, जिससे भाषा और तर्क का उद्‌भव हुआ है। मानव–संभाषण की उत्पत्ति श्रम करते समय बोली जाने वाली ध्वनियों से हुई है। भाषा–विज्ञान ने यह दिखा दिया है कि शब्दों का मूल आधर क्रिया है; सर्वाधिक आदिम शब्द ऐसे हैं, जो मुख्यतः किसी को व्यक्त करते हैं। भाषा के परवर्ती विकास में उन वस्तुओं को भी नाम दिए गए जो मनुष्य की श्रम प्रक्रिया के महत्त्वपूर्ण अंग थे; ऐसे नाम मुख्यतः प्रयुक्त होने वाले औजारों को दिए गए, और सम्बन्धित क्रियाओं के काम से ही विकसित किए गए। इस उद्विकास के समानन्तर ही कुछ प्रचुर सामग्री से उन अधिक निश्चित अवधारणाओं का निर्माण हुआ, जो मनुष्य के मस्तिष्क में भरी थीं, कानों में प्रतिध्वनित हो रही थीं, आँखों को दिखाई पड़ रही थीं, आदि; लेकिन अवधारणा चिंतन की प्रारम्भिक अवस्था है।

इसके आगे चिंतन और भाषा का उद्विकास उसी प्रकार आगे बढ़ता है, जैसे महत् संरचना के अन्य वैचारिक स्वरूपों का, अर्थात, भाषा और चिंतन उत्पादक शक्तियों के उद्विकास का अनुसरण करते हैं। इस उद्विकास की अवस्था में बाह्य जगत् पूर्ण पृथक जगत् नहीं रह जाता है, अपितु मनुष्य का जगत् हो जाता है; केवल पदार्थ नहीं रह जाता है अपितु मनुष्य की क्रिया के लिए पदार्थ बन जाता है; श्रम के भौतिक उकरण (जो पहले अनगढ़ थे किन्तु बाद में अधिकाधिक सूक्ष्म और कोमल होते गए), तथा वैज्ञानिक ज्ञान के उपकरण और असंख्य

सहायक, (जैसे यन्त्र, टेलीस्कोप, सूक्ष्मतर्क आदि) इस बाह्य जगत् के साथ समाज के श्रम और ज्ञान के क्षेत्र का अधिकाधिक संयोजन करने में समाज की सहायता करते हैं। फलस्वरूप बहुसंख्यक नई अवधारणाएँ और नए शब्द प्राप्त होते हैं; भाषा समृद्ध होती है और उन विषयों की समग्रता को समाहित करने योग्य होती है, जो मानवीय चिंतन तथा संभाषण, अर्थात, मानवीय संचार से सम्बन्धित होते हैं।

जीवन की परिपूर्णता भाषा की समृद्धता में प्रतिफलित होती है। कुछ पशु–पालक जनजातियों के पास पशुओं के अतिरिक्त वार्तालाप का कोई अन्य विषय नहीं होता। इसका कारण यह है कि उनकी उत्पादक शक्तियों का निम्न स्तर उनके संपूर्ण जीवन को उत्पादन क्षेत्र तक ही सीमित कर देता है, इसलिए उनकी भाषा प्रत्यक्ष रूप से उनकी उत्पादन–प्रक्रिया के साथ सम्बन्धित रह जाती है। यदि बढ़ी हुई उत्पादक शक्तियों के फलस्वरूप एक बृहत् और जटिल महत् संरचना का निर्माण हुआ है, तो भाषा इस महत् संरचना से भी अपने को सम्बन्धित करेगी; उत्पादन की प्रक्रिया से भाषा का सम्बन्ध अधिकाधिक अप्रत्यक्ष है; अब उत्पादन की प्रविधि पर भाषा की आश्रितता एक अप्रत्यक्ष आश्रितता है; उत्पादन की प्रक्रिया पर विभिन्न महत् संरचनात्मक स्वरूपों की आश्रितता के द्वारा कारणात्मक श्रृंखला चलती है और यह बाद की आश्रितता अधिक समय तक प्रत्यक्ष नहीं हो सकती है। विदेशी भाषाओं से ग्रहण किए गए बहुत अधिक शब्द उस रीति के अच्छे उदाहरण हैं जिससे कोई भाषा विकसित होती है। यह उधार लेने की क्रिया अर्थ–व्यवस्था के सार्वभौम आयामों तथा अनेक देशों में बहुसंख्यक समरूप वस्तुओं के विकास अथव सार्वभौम महत्त्व की घटनाओं (टेलीफोन, वायुयान, बोलशेविक आदि) के विकास का प्रतिफल है। इस विषय पर विस्तारपूर्वक विवेचन के लिए बहुत अधिक स्थान की आवश्यकता पड़ेगी। भाषा की शैली या विशेषता भी सामाजिक जीवन की दशाओं के साथ परिवर्तित होती है; लेकिन यह उल्लेख करना आवश्यक है कि समाज का वर्गों, समूहों और व्यवसायों में विभाजन भी अपना चिन्ह भाषा पर छोड़ता है; नगर–निवासी की वही भाषा नहीं होती है, जो ग्रामीण की होती है; सामान्य बोलचाल की भाषा से साहित्यिक भाषा भिन्न है। यह अंतर इतना अधिक हो सकता है कि मनुष्य एक दूसरे की बात को समझ न सके; अनेक देशों में ऐसी बोलियाँ प्रचलित हैं कि वहाँ के सुसंस्कृत और समृद्ध वर्ग के लोग

उनको बहुत मुश्किल से समझ पाते हैं; यह भाषा के क्षेत्र में वर्ग–भेद का सर्वाधिक उल्लेखनीय उदाहरण है। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यवसायों की अपनी–अपनी विशिष्ट भाषायें होती हैं। विद्वान्, दार्शनिक प्रायः एक पृथक् जगत् में रहने के अभ्यासी होते हैं, और वे प्रायः ऐसी भाषा बोलते और लिखते हैं जिसे उनकी विरादरी के लोग ही समझ सकते हैं। अभिव्यक्ति के इस प्रकार के स्वरूपों को अपनाने की इच्छा आंशिक रूप से उस कारण से उत्पन्न होती है जिससे विभिन्न प्रकार के फैशनों का जन्म होता है, अर्थात्, इस प्रकार के लोग सामान्य व्यक्तियों से अपने को पृथक् करने के लिए ऐसे काम करते हैं। एक रूसी भूसामन्त पेरिस से नए–नए प्रकार के कपड़े, एक खर्चीली गृहस्वामिनी और विशेष प्रकार का उच्चारण लेकर लौटता था। उसका उद्देश्य सामान्य जन–समूह से पृथक् अपने को एक विशिष्ट वर्ग के सदस्य के रूप में प्रस्तुत करता होता था। बाइबिल के पाठ में भी विभिन्न वर्गों का अंतर देखने को मिलता है। प्यूरिटन लोगों का उच्चारण विशेष प्रकार का होता है। वास्तव में, भाषा–वैज्ञानिक यह स्वीकार नहीं कर सकते हैं कि भाषा सम्बन्धी कोई प्रघटना मानव–समाज से पृथक् हो; इसके विपरीत हमारी यह मान्यता है कि मनुष्य के उद्भव और उद्विकास, सामाजिक जीवन के स्वरूपों के विकास और कानून तथा प्रथाओं के उद्भव के अनुरूप ही भाषा के स्वरूपों का उद्विकास हुआ है।

विचार या चिंतन सदा एक ही दिशा का अनुसारण नहीं करते रहे हैं। कुछ सम्माननीय विद्वान् यह कहते हैं कि मनुष्य के कारणात्मक व्याख्या की ओर रहस्यात्मक और सार्वभौम झुकाव से विज्ञान की उत्पत्ति होती है, लेकिन वे इस अत्यधिक स्तुत्य प्रवृत्ति के कारण के प्रश्न पर विचार नहीं करते हैं। लेकिन अब हम उन विचारों के रूपों की अवस्था पर विचार कर सकते हैं जो निश्चित रूप से प्रतिष्ठित हो गए हैं। लेवी ब्रुहल अपनी एक सम्पूर्ण पुस्तक में जंगली लोगों के विचारों के रूपों का विवेचन करता है; उसके अनुसार जंगली लोगों के विचार आधुनिक युग के तर्कसम्मत विचारों से पूर्णतया भिन्न हैं, उन्हें प्राक् तार्किक विचार (प्रिलाजिकल) कहा जा सकता है। सामान्यतः जंगली लोगों के चिंतन में विवरणों तथा विशिष्ट वस्तुओं को सामान्य या संपूर्ण से भिन्न या पृथक् नहीं किया जाता है; एक वस्तु को दूसरी वस्तु के साथ मिलाकर भ्रम पैदा कर दिया जाता है। संपूर्ण जगत् वस्तुओं की एक प्रणाली

नहीं है, बल्कि गतिशील शक्तियों की एक प्रणाली है, मनुष्य इन शक्तियों में से एक है; व्यक्तिगत रूप से मनुष्य एक व्यक्तित्व नहीं है : व्यक्तित्व पूर्णरूप से सामाजीकृत होता है, समाज में संपृक्त होता है तथा समाज से भिन्न नहीं होता है। जंगली लोगों के चिंतन का आधारभूत नियम कारणात्मक अनुक्रम की अवधारणा नहीं है, बल्कि लेवी ब्रुहल के शब्दों में सहभागिता का नियम है। सहभागिता का नियम उसे व्यक्ति से समूह और समूह से व्यक्ति की ओर बिना किसी कठिनाई से जाने के लिए अनुमति देता है। सामान्यतः एक अरना भैंसा तथा अरना भैसों के बीच, एक भालू तथा भालुओं को बीच, एक रेंडियर तथा रेंडियरों के बीच, यह मनोविज्ञान एक रहस्यात्मक सहभागिता ग्रहण कर लेता है। इस भाव में जातों के समुच्चय अथवा इसके सदस्यों के वैयक्तिक अस्तित्व के लिए इस मनोविज्ञान में कोई स्थान नहीं है। लेवी ब्रुहल स्वयं इस प्रकार के चिंतन तथा सामाजिक अस्तित्व के एक निश्चित रूप के बीच एक सम्बन्ध पाता है जिसमें अभी तक व्यक्तित्व का समाज से भेदकरण नहीं किया गया है, अर्थात, वह चिंतन की इस अवस्था को आदिम साम्यवाद से सम्बन्धित करता है।

जैसी कारणता जंगली लोगों में पाई जाती है, वह हमारी कारणता नहीं है; बल्कि वह जीववादी कारणता है जो जंगली लोगों के आत्मिक या दैवी सिद्धांत की खोज की विशेष रुचि का प्रतिफल हैं। समस्त वस्तुएँ किसी के आदेश के द्वारा उत्पन्न होती हैं : कारण एक उच्चतर आत्मा से प्राप्त आदेश के अनुरूप प्रतीत होता है। कारणात्मक अनुक्रम का नियम सर्वोच्च आत्मा–आध्यात्मिक शासक–की सनक बन जाता है। अतः यद्यपि मनुष्य में कारण खोजने की प्रवृत्ति वर्तमान प्रतीत होती है, लेकिन जंगली लोग एक विशेष प्रकार के कारण खोजते हैं, अर्थात् वे ऐसे कारण खोजते हैं जो एक निश्चित सर्वोच्च सत्ता से उदभूत होते हैं। वास्तव में, इस प्रकार का चिंतन एक निश्चित सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित होता है। यह किसी ऐसे समाज की विशिष्टता का सूचक है, जिसमें उसके उत्पादन और उसकी सामाजिक राजनीति में एक स्तरण पहले ही उपस्थित दिखाई पड़ता है।

विकास का आगामी मार्ग वही प्रक्रिया प्रस्तुत करता है जो हम पहले दर्शनशास्त्र के विवेचन में बता चुके हैं। उपर्युक्त उदाहरण यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि चिंतन तथा

चिंतन के स्वरूप परिवर्ती मात्रा हैं और यह परिवर्तनशीलता समाज, इसके श्रम–संगठन, तथा इसके प्राविधिक आधार के उद्विकास की परिवर्तनशीलता पर आधारित है।

इस विषय का सर्वोत्तम सारांश कार्ल मार्क्स के निम्नांकित सूत्रीकरण में मिलता है :

''मनुष्य अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में विशिष्ट प्रकार से आवश्यक सम्बन्ध स्थापित करता है; ये सम्बन्ध उत्पादन सम्बन्ध हैं, जो उसकी इच्छाओं से स्वतंत्र होते हैं जो भौतिक उत्पादक शक्तियों से उद्विकास की एक निश्चित विशिष्ट अवस्था के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों की समग्रता से समाज के वास्तविक आधार–आर्थिक संरचना का निर्माण होता है जिस पर कानूनी और राजनीतिक महत् संरचना का भवन खड़ा होता है, और चेतना के विशिष्ट सामाजिक स्वरूप इसके अनुरूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन की रीति सामान्य रूप में सामाजिक, राजनीतिक और मानसिक जीवन–प्रक्रिया का निर्धारण करती है मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती है, अपितु उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निर्धारण करता है।''

समाज के आर्थिक आधार पर जो विशाल महत् संरचना खड़ी होती है, वह अपेक्षाकृत जटिल आंतरिक संरचना है। इसके अंतर्गत भौतिक वस्तुएँ (औजार–उपकरण आदि), विभिन्न प्रकार के मानवीय–संगठन, विचारों और समूहों की अत्यधिक समन्वित प्रणालियाँ; असमन्वित विचार तथा भावनाएँ, और अन्त में, द्वितीय श्रेणी की वैचारिकी, विज्ञानों के विज्ञान, कलाओं के विज्ञान, आदि आते हैं। अतः हम पारिभाषिक शब्दों की संक्षेप में एक निश्चित परिभाषा का आश्रय लेने के लिए बाध्य हैं।

महत् संरचना की व्याख्या करते हुए हम कहेंगे कि यह किसी प्रकार की एक सामाजिक प्रघटना है, जो आर्थिक आधार पर आधारित है; इसके अंतर्गत समाज–मनोविज्ञान, सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था, अपने समस्त भौतिक अंगों के सहित व्यक्तियों का संगठन (अधिकारियों की स्तरण–व्यवस्था), तथा भाषा और विचार जैसी प्रघटनाएँ सन्निहित हैं; अतः संरचना को अवधारणा यथासंभव व्यापकतम अवधारणा है।

''सामाजिक वैचारिकी'' का आशय विचारों, संवेदनाओं या आचरण के नियमों की एक प्रणाली होगा, और इसलिए इसके अंतर्गत विज्ञान और कला की विषय–वस्तु, आदर्शों, प्रथाओं, नैतिकताओं, आदि की समग्रता अंतर्निहित है।

समाज–मनोविज्ञान का आशय वे अव्यवस्थित या किंचित् व्यवस्थित संवेदनाएँ, विचार और भावनाएँ होगा, जो प्रदत्त समाज, समूह, वर्ग, व्यवसाय, आदि में पाई जाती हैं।

ङ सामाजिक मनोविज्ञान और सामाजिक वैचारिकी

हम विज्ञान और कला, कानून और नैतिकता, आदि के विवेचन में स्वरूपों, विचारों, आचरण के नियमों आदि की कुछ एकीकृत प्रणालियों पर विचार कर रहे थे। विज्ञान एकीकृत ज्ञान तथा विचारों की संश्लिष्ट प्रणाली है, जिसके सामंजस्य में ज्ञान की कोई शाखा समाहित होती है। स्वरूपों, अनुभूतियों, संवेदनाओं की प्रणाली का नाम कला है। आचरण के नियमों का न्यूनाधिक कठोर समन्वय नैतिकता है, जो व्यक्ति को आन्तरिक परितोष प्रदान करती है। अन्य वैचारिकियों की परिभाषा भी इसी प्रकार की जा सकती है। लेकिन सामाजिक जीवन में ऐसी प्रचुर प्रकीर्ण और असंश्लिष्ट सामग्री भी होती है, जिसमें कोई समन्वय या सामंजस्य नहीं प्रतीत होता है; उदाहरण के लिए वैज्ञानिक चिन्तन से भिन्न किसी विषय पर सामान्य दैनिक चिंतन को ले सकते हैं। ''दैनिक चिंतन'' अव्यवस्थित चिंतन तथा ज्ञान के खण्डों पर आधारित होता है; यह विसंवादों या विरोधाभासों की राशि होता है, अथवा अपुष्ट धारणाओं और अस्थिर अवधारणाओं का पुंज होता है। जब इस सामग्री को आलोचना की कठोर परीक्षा के अधीन किया जाता है तथा इसके विरोधाभासों को नग्नरूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है, तो हम विज्ञान के निकट पहुंचने लगते हैं। लेकिन दुःख की बात यह है कि हम ''दैनिक'' जीवन में रहते हैं। हमारा सामाजिक जीवन मनुष्यों की पारस्परिक अन्तर–क्रियाओं से निर्मित होता है, और इन असंख्य अन्तर–क्रियाओं में अनेक असमन्वित तत्त्व हैं, जैसे–विचारों के क्षुद्रकण, संवेदनाएँ और इच्छाएँ, अभिरुचियां, चिंतन के रूप; सद् और असद्, न्याय और अन्याय, सुन्दर और असुन्दर सम्बन्धी अपुष्ट, अर्द्धचेतन तथा अस्पष्ट अवधारणाएँ; आदतें और दैनिक जीवन के दृष्टिकोण; सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में अनुभव और अवधारणाएँ; सुख या दुःख की

संवेदनाएँ, असंतोष और क्रोध, संघर्ष के प्रति प्रेम या असीमित उदासीनता, अनेक अस्पष्ट आशाएँ और आदर्श–वर्तमान वस्तुओं के प्रति तीव्र आलोचनात्मक अभिवृत्ति या इस जगत् को सर्वोत्तम मानने की सहर्ष स्वीकृति; असफलता और निराशा का भाव, भविष्य की चिंता, विभ्रम, भविष्य के प्रति आशा, आदि असंख्य विषय। ये प्रघटनाएँ जब सामाजिक आयामों के अन्तर्गत आती हैं, तो वे सामाजिक मनोविज्ञान है। सामाजिक मनोविज्ञान तथा वैचारिकी का अन्तर केवल क्रमबद्धता के स्तर (डिग्री आफ सिस्टेपेटाइजेशन) का है। समाज–मनोविज्ञान बुर्जुआ समाजों में तथाकथित उस ''लोकप्रिय आत्मा'' के रहस्यात्मक आवरण में आवेष्टित मिलता है जिसे प्रायः विलक्षण एकत्व, सामाजिक आत्मा माना जाता है। लेकिन इस भाव में ''लोक–आत्मा'' (फोक सोल) का कोई अस्तित्व नहीं होता है। जिस प्रकार सावयववादी समाज को सावयव मानते हैं और उसमें चेतना का एक केन्द्र स्वीकार करते हैं, यदि उसी प्रकार लोक–आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाता है, तो समाज प्रकृति के बीच पड़ा भीमकाय दानव हो जाता है।

यदि हम इस सावयव के सिद्धान्त को स्वीकार न करें, तो हम इस रहस्यात्मक भाव में ''लोक–आत्मा'' या ''लोकप्रिय आत्मा'' के अस्तित्व की बहुत कठिनाई से चर्चा कर सकते हैं। फिर भी, हम वैयक्तिक मनोविज्ञान से भिन्न सामाजिक मनोविज्ञान का अस्तित्व निर्धारित कर सकते हैं। इस स्पष्ट विरोधाभास का उत्तर निम्नांकित रूप में दिया जा सकता है : मनुष्यों की पारस्परिक अन्तर–क्रिया व्यक्ति में एक निश्चित मनोविज्ञान को जन्म देती है। ''सामाजिक'' तत्त्व का अस्तित्व मनुष्यों के बीच में नहीं होता, अपितु मनष्यों के मस्तिष्क में होता है; इन मस्तिष्कों की विषयवस्तु विभिन्न संघर्षशील प्रभावों, विभिन्न प्रतिच्छेदी अन्तर–क्रियाओं की उत्पाद है। ''सामाजीकृत'' (सोसिइलाइज्ड) व्यक्ति के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं मानसिक जीवन का अस्तित्व नहीं होता है। और यह सामाजीकृत मनुष्य ऐसी समस्त अन्तर–क्रियाओं का विषय होता है, समाज इन्हीं सामाजीकृत मनुष्यों का समुच्चय है, नकि वह विराट दानव है जिसके विभिन्न मनुष्य अंग हैं।

फिर भी, ''लोक–आत्माा'' या ''लोकप्रिय आत्मा''जैसे शब्द अर्थहीन नहीं हैं : वे उन दो दशााओं के अस्तित्व के सूचक हैं जो सर्वत्र पाई जा सकती है : वे वास्तविक अस्तित्व के

सूचक हैं, प्रथम, प्रचलित विचारों, संवेदनाओं, प्रचलित मनोविज्ञान, जो किसी प्रदत्त समय में सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को प्रभावित करता है, के सूचक हैं, दूसरे वे ''युग की विशेषताओं'', अर्थात्, सामाजिक उद्विकास के अनुरूप इस प्रचलित मनोविज्ञान के परिवर्तन के सूचक है।

प्रचलित मनोविज्ञान में दो प्रकार के मुख्य तत्त्व सन्निहित हैं : प्रथम तत्व वे सामान्य मनोवैज्ञानिक लक्षण हैं जो सम्भवतः समाज के समस्त वर्गों में पाए जाते हैं, क्योंकि वर्ग–भेदों के होते हुए भी विभिन्न वर्गों में कुछ सामान्य तत्त्व हो सकते हैं; दूसरा तत्त्व उस शासक–वर्ग का मनोविज्ञान है, जो समाज में ऐसे प्रभुत्व का उपभोग करता है जिससे सम्पूर्ण सामाजिक जीवन की गति निर्धारित होती है तथा जिसके द्वारा वह (शासक–वर्ग) अन्य वर्गों को अपने प्रभाव के अधीन रखता है। पहली दशा सामन्ती युगों में देखने को मिलती है जिसमें सामन्ती लार्ड तथा किसान कुछ सामान्य मनोवैज्ञानिक लक्षणों को व्यक्त करते हैं : परम्परागत प्रथाओं के प्रति प्रेम, निर्धारित कार्यक्रम, सत्ता के प्रति समर्पण, ईश्वर से भय, सामान्यतः पिछड़े हुए विचार, नए के प्रति सन्देह का भाव, आदि। यह इस तथ्य का परिणाम है कि दोनों वर्ग अवरुद्ध तथा प्रायः अन्तर्मुखी रहते हैं; अधिक गत्यात्मक मनोविज्ञान बाद में नगरों में विकसित होता है। इस अवस्था का दूसरा कारण यह है कि सामन्तों को अपनी–अपनी रियासतों में तथा किसानों को अपने–अपने परिवारों में असीमित सत्ता प्राप्त होती थी। उस समय परिवार श्रम की एक संगठित इकाई था; वास्तव में, आज तक भी श्रम–बन्धन कृषक परिवार का एक महत्वपूर्ण तत्त्व बना हुआ है। अतः परिवार के पितृसत्तात्मक (मैट्रीआर्केल) श्रम–सम्बन्धों के समानान्तर सामन्तों की सत्ता पायी जाती है, अर्थात, जैसे पितृसत्तात्मक परिवार–व्यवस्था में परिवार के समस्त सदस्य परिवार के प्रधान या मुखिया के अधीन होते हैं, उसी प्रकार सामन्ती व्यवस्था में रियासत के समस्त व्यक्ति रियासत के प्रधान के अधीन होते हैं। सामाजिक उद्विकास की एक निश्चित अवस्था में ''लोकप्रिय आत्मा'' सामन्ती कुलीनता तथा कृषक दासता का रूढ़िवाद या अनुदारवाद था। इसके अतिरिक्त, प्रचलित सामाजिक मनोविज्ञान केवल सामन्ती लार्डों की उन विशेषताओं को भी प्रस्तुत करते हैं जो सामन्ती कुलीनता की प्रभुत्वपूर्ण स्थिति के कारण ही प्रचलित थीं।

प्रायः हमें ऐसी स्थितियों का सामना करना पड़ता है, जिनमें सामाजिक मनोविज्ञान (प्रचलित सामाजिक मनोविज्ञान) शासक–वर्ग का सामाजिक मनोविज्ञान होता है। ''कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो'' (साम्यवादी घोषणापत्र) के द्वितीय अध्याय में मार्क्स कहता है : ''युग के प्रचलित विचार सदा केवल शासक–वर्ग के विचार रहे हैं।'' यही बात किसी भी समय के प्रचलित सामाजिक मनोविज्ञान के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। हमारे वैचारिकियों के विवेचन में समाज में प्रचलित संवेदनाओं, विचारों के अनेक उदाहरण पहले ही दिए जा चुके हैं आइए हम कुछ विशिष्ट उदाहरणों को लें। जैसे पुनर्जागरण के मनोविज्ञान को ले सकते हैं। पुनर्जागरण की विशेषतायें हैं – सुख या आनन्द की अतिउच्च स्तरीय खोज, लैटिन और ग्रीक शब्दों का प्रयोग, अभिजात विद्वत्ता, अपने अहम् को समूह के अहं से पृथक् करने का आग्रह, मध्यकालीन अंधविश्वासों की सुशिष्ट आलोचना या अवहेलना, आदि। स्पष्ट है कि इस मनोविज्ञान तथा इसी युग के इटली के कृषक–वर्ग के मनोविज्ञान में कोई समानता या सादृश्य नहीं है। वास्तव में, यह मनोविज्ञान तो व्यापारिक नगरों, आर्थिक नगरों तथा नगरों के आर्थिक–व्यापारिक अभिजात–वर्ग से उत्पन्न हुआ था। इस युग में नगर प्रान्तों को नियन्त्रित करने लगे थे; नगरों का शासन उन महाजनों या सेठों द्वारा होता था, जो प्रमुख कुलीन या अभिजात लोगों में विवाह करते थे। इस वर्ग का मनोविज्ञान शासन का मनोविज्ञान था; यह तथ्य युग के अनेक साहित्यिक तथा अन्य प्रकार के स्मारकों में व्यक्त हुआ है। दिशा परिवर्तित करने का बड़ा सशक्त कारण होता है। समकालीन पूँजीवादी दार्शनिक ओसवाल्ड स्पेंगलर अपने स्पष्ट कथन में कहता है, ''भविष्य में, तीन या चार महानगर प्रान्तीय पत्रों की नीति को निर्धारित करेंगे, जिससे लोकमत का निर्धारण होगा।''

फिर भी, यह स्पष्ट है कि वर्गीय समाज में स्थायी, समरूप, संश्लिष्ट मनोविज्ञान का अस्तित्व नहीं हो सकता है; अधिक–से–अधिक कुछ सामान्य लक्षण वर्तमान हो सकते हैं, जिनके महत्त्व को अतिरंजित नहीं करना चाहिए।

वर्गीय मनोविज्ञान सम्बन्धित वर्गो की जीवन की दशाओं के समुच्चय पर आधारित है, और ये दशाएँ वर्गो की उस स्थिति द्वारा निर्धारित होती हैं जो आर्थिक और सामाजिक पर्यावरण में होती है। लेकिन किसी भी सामाजिक मनोविज्ञान की जटिलता की उपेक्षा नहीं

करनी चाहिए। उदाहरण के लिए, पूर्णतयः भिन्न वर्गीय मनोविज्ञानों में स्वरूप की समानताएँ पायी जा सकती है; इस प्रकार जीवन और मृत्यु के संघर्ष में रत दो वर्ग भिन्न–भिन्न संवेदनाओं, आकांक्षाओं, प्रभावों, विभ्रमों, आदि को व्यक्त कर सकते हैं, किन्तु उनके मनोविज्ञान का स्वरूप पूर्णतयः एक ही प्रकार का हो सकता है : अदम्य उत्साह, उग्र और उन्मत्त आक्रमण, शौर्य–मनोविज्ञान के विशिष्ट स्वरूप।

यह तथ्य है कि सामान्य आर्थिक अवस्थिति पर आधारित वर्ग–जीवन की दशाओं की समग्रता द्वारा वर्ग–मनोविज्ञान निर्धारित होता है, लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालने की भूल नहीं करनी चाहिए कि वर्ग–मनोविज्ञान स्वार्थपूर्ण हित का पर्याय है। निस्सन्देह, वर्ग–संघर्ष का मुख्य स्नायु वर्ग–मनोविज्ञान के अन्य अनेक तत्त्व होते हैं। हम पहले बता चुके हैं कि रोम साम्राज्य के पतन–काल में, शासक–वर्ग के दार्शनिक आत्म–विनाश की शिक्षा देने में किसी सीमा तक सफल हो सके थे; क्योंकि उनकी शिक्षा इस वर्ग के मनोविज्ञान से उत्पन्न थी, जिसे परिपूर्णता का मनोविज्ञान, अतितृप्ति का मनोविज्ञान या अरुचि का मनोविज्ञान कह सकते हैं। इस मनोविज्ञान के कारणों को निश्चित रूप में खोजा जा सकता है; इसके मूल कारण को पहले ही शासक–वर्ग के परोपजीवी या शोषक आचरण में खोजा जा चुका है। यह शासक–वर्ग कुछ नहीं करता था, केवल उपभोग के लिए, समस्त वस्तुओं से अपने को अतितृप्त रखने के लिए जीवित रहता था। इसका कारण यह था कि इसकी आर्थिक अवस्थिति ऐसी थी, और सामान्य अर्थ–व्यवस्था इस प्रकार की थी कि उसे उपर्युक्त लाभ बिना कोई श्रम या कार्य किए उपलब्ध थे। अतितृप्ति और ऐन्द्रजालिकता का मनोविज्ञान ही वर्ग–मनोविज्ञान था। फिर भी, हम यह नहीं कह सकते हैं कि जब सेनेका ने आत्महत्या का उपदेश दिया था, तो वह अपने वर्ग के हित को व्यक्त कर रहा था। उदाहरण के लिए, जारशाही के कारागारों में कैदियों द्वारा की गई भूख हड़तालें वर्ग–संघर्ष के अन्तर्गत की क्रिया थी, संघर्ष को अधिक उग्र और तीव्र बनने के लिए प्रतिरोध थीं, एकता का प्रतीक थीं, संघर्षरत व्यक्तियों के स्तर को बनाए रखने का एक साधन थीं, और यह संघर्ष वर्ग–हितों द्वारा परिचालित था। अनेक अवसरों पर, वर्ग–संघर्ष में होने वाली बहुत बड़ी पराजय के पश्चात् जनता या कुछ समूहों को समूह को निराशा घेर लेती है, जो वस्तुतः वर्ग–हित से सम्बन्धित है, लेकिन यह सम्बन्ध विलक्षण है

: संघर्ष हित के प्रच्छन्न स्रोतों के आवेग के अधीन चला, लेकिन अब संघर्षरत सेना पराजित हो गई है, जिसका परिणाम है विघटन, निराशा, चमत्कारों की आकांक्षा, मानव–जाति से पलायन करने की इच्छा, आलौकिकता की ओर उन्मुख चिन्तना। रूस के सत्रहवीं शताब्दी के महान् विद्रोह की विफलता के उपरान्त असफलता और निराशा के प्रभाव में प्रतिरोध ने अनेक रूप धारण किए थे; लोगों में निर्जन प्रदेश में पलायन करने या आत्म–विनाश की भावना विशेष तीव्र हो गई थी। एस. मेलगुनोव लिखता है, ''सैकड़ों–हजारों लोग आत्म–दहन के द्वारा मृत्यु का आलिंगन खोजते हैं,......... आध्यात्मिक स्वप्नवादी विशुद्ध रूप से मृत्यु–संस्कार के वस्त्रों से अपने को सज्जित कर लेते हैं और उन शव–पेटिकाओं में लेट जाते हैं, जो उनके लिए पहले से ही तैयार कर ली गई हैं और भाग्य के भग्न होने की प्रतीक्षा करते हैं।'' यह मनोविज्ञान तत्कालीन काव्य में भी व्यक्त हुआ।

वह स्पष्ट है कि वर्ग–मनोविज्ञान की प्रघटना अत्यधिक जटिल है, उसकी केवल हित के रूप में प्रत्यक्ष व्याख्या नहीं की जा सकती है, बल्कि उस मूर्त र्प्यावरण द्वारा सदा उसकी व्याख्या की जानी चाहिए, जिसमें वह विशिष्ट वर्ग रहा है।

समाज की मनोवैज्ञानिक संरचना, अर्थात् समाज–मनोविज्ञान के विभिन्न स्वरूपों में, हमें समूहों, व्यवसायों आदि के मनोविज्ञानों का उल्लेख करना नहीं भूलना चाहिए, एक ही वर्ग के अन्तर्गत अनेक समूह हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, बुर्जुआ–वर्ग में अत्यधिक सम्पत्ति वाले बुर्जुआ, व्यापारिक बुर्जुआ, तथा औद्योगिक बुर्जुआ हो सकते हैं; कर्मी–वर्ग में कुशल श्रमिकों के अभिजात समूह, कुछ कम कुशल श्रमिकों के समूह तथा अकुशल श्रमिकों के समूह आते हैं। इनमें से प्रत्येक समूह के विशेष हित होते हैं और विशेष विशेषताएँ भी होती हैं; विशेष कुशल कर्मी अपने काम को पसन्द करता है तथा अन्य कर्मियों से अपने को श्रेष्ठ समझता है और गर्व भी अनुभव करता है; दूसरी ओर, वह महत्त्वाकांक्षी होता है, तथा उसकी प्रवृत्तियों का झुकाव बुर्जुआ वर्ग की ओर होता है। प्रत्येक व्यवसाय का अपना विशेष लक्षण होता है; जब हम नौकरण ही का भर्त्सना करते हैं, तो हमारा आशय निषेधात्मक गुणों से युक्त व्यावसायिक मनोविज्ञान से होता है, जिसके अनुसार प्रत्येक कार्य निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार ही होता है, लाल फीताशाही के कारण प्रत्येक कार्य में विलम्ब होता है, आदि। व्यावसायिक मनोविज्ञान का

उद्भव हो जाता है, सम्बन्धित व्यक्तियों की मानसिक विशेषताएँ उनके कार्य—कलापों का प्रत्यक्ष परिणाम होती हैं जिससे उनकी वैचारिकी भी प्रभावित होती है। एंजिल्स कहता है कि व्यावहारिक राजनीतिज्ञों तथा सैद्धांतिक न्यायशस्त्रियों द्वारा तथा विशेषरूप से न्यायशस्त्रियों के द्वारा इस तथ्य की पूर्ण उपेक्षा हुई है। इन व्यक्तियों के अनुसार आर्थिक तथ्यों को न्यायशास्त्रीय प्रयोजन का स्वरूप ही ग्रहण करना चाहिए, जिससे उन्हें कानून के रूप में स्वीकृति दी जा सके, और चूँकि कानून की संपूर्ण वर्तमान प्रणाली का वे एक पिछड़ा हुआ दृष्टिकोण रखते हैं जिससे वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि न्याय—शास्त्रीय स्वरूप ही सब कुछ है, आर्थिक विषयवस्तु कुछ नहीं है। उनका व्यावसायिक मनोविज्ञान हमें धोखे में डाल देता है। हम किसी व्यक्ति से एक मिनट की वार्ता से ही यह जान सकते हैं कि यह व्यक्ति क्लर्क है या कसाई है, अथवा पत्रकार आदि। वास्तव में, ये समस्त लक्षण या गुण अन्तर—राष्ट्रीय हैं; इन्हें कहीं भी देखा जा सकता है। वर्गीय मनोविज्ञान के साथ—साथ हम समूह—मनोविज्ञान, व्यावसायिक मनोविज्ञान, आदि पाते हैं; अस्तित्व से ही चेतना का निर्धारण होता है। इस भाव में हम कह सकते हैं कि मनुष्यों का प्रत्येक समूह अपने सदस्यों पर अपना प्रभाव डालता है। लेकिन चूँकि व्यक्तियों के एक निश्चित प्रकार के समूहीकरण का सम्बन्ध सदा समाज की आर्थिक संरचना से होता है और यह समूहीकरण अन्ततः आर्थिक संरचना पर आधारित होता है, इसलिए यह तथ्य निकलता है कि समाज मनोविज्ञान के समस्त रूप मात्राएँ हैं, और इनकी व्याख्या उत्पादन की सामाजिक रीति तथा समाज की आर्थिक संरचना द्वारा होनी चाहिए।

सामाजिक मनोविज्ञान और सामाजिक वैचारिकी में क्या सम्बन्ध है? सामाजिक मनोविज्ञान एक प्रकार से वैचारिकी का संपूर्ति—कक्ष (सप्लाई—चेम्बर) है; अथवा, इसकी तुलना लवण—घोल से की जा सकती है जिससे वैचारिकी का मणिभीकरण (क्रिस्टलाइजेशन) होता है। हमने पीछे बताया है कि वैचारिकी की मुख्य विशेषता इसके तत्त्वों का महान् सामंजस्य है अर्थात् इसमें विभिन्न प्रकार की संवेदनाएँ, विचार, अनुभूतियां, स्वरूप संश्लिष्ट रूप में स्थित होते हैं। वैचारिकी उस सबको, व्यवस्थित करती है, जो अब तक व्यवस्थित नहीं किया गया है। दूसरे शब्दों में, वैचारिकी सामाजिक मनोविज्ञान को व्यवस्थित करती है। वैचारिकियां घनीभूत सामाजिक मनोविज्ञान हैं। उदाहरण के लिए, कर्मियों के आन्दोलन के आरम्भिक काल

में, कर्मी–वर्ग में एक अस्पष्ट असंतोष था, पूँजीवादी व्यवस्था को ''अन्यायमुक्त'' मानने का भाव था, इस प्रणाली के स्थान पर किसी दूसरी प्रणाली को प्रतिष्ठित करने की अस्पष्ट इच्छा थी; हम इसे वैचारिकी नहीं कह सकते हैं। कालान्तर में, इस अस्पष्ट प्रवृत्ति का निश्चित सूत्रीकरण हुआ। इन अस्पष्ट प्रवृत्तियों और विचारों का व्यवस्थित रूप में समन्वय हुआ, स्पष्ट मांगों की रूपरेखा निर्धारित की गई, निश्चित कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया, मंच बना, एक विशिष्ट ''आदर्श'' प्रकट होने लगा, आदि; इस प्रकार यहाँ पर एक वैचारिकी का स्वरूप निर्धारित हुआ। अथवा, हम यह देख सकते हैं कि परिस्थितिजन्य असुविधाएँ तथा इन्हें दूर करने की आकांक्षाएँ कलाकृतियों में अभिव्यक्ति पाती हैं; यहाँ पर भी वैचारिकी होती है। कभी–कभी वैचारिकी की स्पष्ट सीमा–रेखा अंकित करना कठिन होता है; क्योंकि सामाजिक मनोविज्ञान से सामाजिक वैचारिकी में रूपान्तरित होने की वास्तविक प्रक्रिया बहुत मन्द होती है। जैसा ऊपर बता चुके हैं, सामाजिक मनोविज्ञान में परिवर्तन होने के साथ–साथ सामाजिक वैचारिकी में भी परिवर्तन होता है। सामाजिक मनोविज्ञान उन आर्थिक दशाओं के परिवर्तन के साथ–साथ परिवर्तित हो रहा है, जिनमें यह उत्पन्न हुआ है; इसका कारण यह है कि आर्थिक दशाएँ इन सामाजिक शक्तियों का निरन्तर पुनर्समूहीकरण करती रहती हैं, उन नए सामाजिक सम्बन्धों का विकास किया करती हैं जो उत्पादक शक्तियों के क्रमिक परिवर्तित स्तरों पर आधारित होते हैं।

च. वैचारिक प्रक्रियाएँ और विभेदीकृत श्रम

वैचारिकी तथा महत् संरचना के प्रश्न पर अन्य दृष्टिकोणों से भी विचार किया जाना चाहिए! हम पहले देख चुके हैं कि महत् संरचना के विभिन्न रूप एक समन्वित मात्रा हैं; क्योंकि उनकी रचना की प्रकृति इसी प्रकार की है, तथा इनके अन्तर्गत समस्त वस्तुओं और व्यक्तियों का समाहार होता है; वैचारिकियाँ स्वयं ही एक प्रकार की मानसिक उत्पाद हैं। ऐसी स्थिति में हम सामाजिक श्रम के विशिष्ट स्वरूप के रूप में, महत् संरचना के स्वरूपों पर उनके उद्विकास में ही आवश्यक रूप से विचार करते हैं (लेकिन भौतिक उत्पादन के रूप में नहीं; सामाजिक श्रम और भौतिक उत्पादन में भ्रम नहीं करना चाहिए)। मानव–इतिहास के प्रारम्भ में, जब अतिरिक्त श्रम उपलब्ध नहीं था, उस समय व्यवहारतः कोई वैचारिकी नहीं थी। कालान्तर में ही अतिरिक्त श्रम सुलभ हुआ और एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हुआ, जो प्रत्यक्ष उत्पादक श्रम से

मुक्त था तथा उसे भोग–विलास के अतिरिक्त कुछ नहीं करना था; यह नया वर्ग समाज की सामान्य समस्याओं की देखभाल करता था : श्रम का निरीक्षण, राज्य के कार्य, न्याय, विज्ञान, कला आदि।

अतः हम वर्गों के विभाजन के आधार में श्रम–विभाजन का नियम पाते हैं। एक स्थान पर मार्क्स पादरियों, वकीलों, शासक वर्गों, आदि को वैचारिक वर्गों के रूप में अभिहित करता है। दूसरे शब्दों में, वैचारिक प्रक्रियाएँ सामान्य श्रम–प्रणाली के अन्तर्गत एक विशिष्ट श्रम–स्वरूप के रूप में मानी जाती हैं। यह श्रम भौतिक उत्पादन नहीं है, और न यह इस भौतिक उत्पादन का एक अंश ही है, अपितु यह भौतिक उत्पादन के एक अंश से प्रतिफलित होता है, (जैसा कि वैचारिकियों के अध्ययन से ज्ञात हो चुका है) और सामाजिक क्रिया–कलापों के स्वतंत्र क्षेत्र की स्थापना करता है। वर्द्धमान श्रम–विभाजन समाज की वर्द्धमान उत्पादन शक्तियों की एक अभिव्यक्ति है, और उत्पादन शक्तियों का विकास भौतिक उत्पादन के क्षेत्रों के श्रम–विभाजन को भी निर्धारित करता है, जिसमें वैचारिक श्रम का पृथक्करण भी साथ–साथ चलता है और उसका अपना निजी श्रम–विभाजन होता है। श्रम–विभाजन केवल आर्थिक जगत् की ही विशेषता नहीं है, अपितु इसका विकासमान प्रभाव समाज के अत्यधिक भिन्न क्षेत्रों में भी देखा जा सकता है, जैसे राजनीति, प्रशासन, कानून इत्यादि। यही बात कला और विज्ञान के क्षेत्रों में भी देखी जा सकती है। अब हम समस्त समाज को एक क्रियाशील यांत्रिकता के रूप में देखें, जिसमें विभाजित सामाजिक श्रम के अनेक उपविभाग हैं। इस वृहत् श्रम–समुच्चय को दो वृहत् श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है : प्रथम भौतिक श्रम; द्वितीय, महत् संरचना के अंतर्गत श्रम के विभिन्न रूप, निरीक्षण–कार्य, वैचारिक श्रम, आदि। इस श्रम का संगठन भौतिक श्रम के संगठन के साथ–साथ चलता है, और दोनों का सामान्य आधार भी एक ही प्रकार का होता है; इसमें वर्गीय स्तरण होता है, जिसके अनुसार जिन लोगों के पास उत्पादन के साधनों का नियंत्रण होता है वे स्तरण के सर्वोच्च शिखर पर होते हैं, तथा जो ऐसे साधनों से हीन होते हैं, वे निम्नतम स्थान में होते हैं। भौतिक उत्पादन की प्रक्रिया में (1) जिन लोगों के ऊपर उत्पादन का कार्य–भार होता है, उनका इस प्रक्रिया में विशेष योगदान होता है, (2) जिसका निर्धारण इस तथ्य द्वारा होता है

कि उत्पादन के साधन उनके हाथ में हैं, और (3) इस परिस्थिति के कारण वितरण का नियंत्रण उन्हीं के द्वारा होता है; यह स्थिति ''महत् संरचनात्मक'' श्रम की करीब–करीब समस्त शाखाओं में भी है। इसके उदाहरण के रूप में सेना का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है; यही बात कला और विज्ञान में भी देखी जा सकती है। पूँजीवादी समाज के अन्तर्गत एक वृहत् प्राविधिक प्रयोगशाला का आन्तरिक संगठन एक कारखाने के आंतरिक संगठन के सदृश ही होता है। पूँजीवादी समाज में एक रंगशाला में उसके अपने स्वत्वाधिकारी, व्यवस्थापक, अभिनेता, शिल्पी तथा अन्य कर्मचारी आदि उसी प्रकार होते हैं, जैसे एक कारखाने में विभिन्न प्रकार के कर्मी पाते हैं, जो सामाजिक रूप से इन व्यक्तियों से सम्बन्धित होते हैं; उच्चतर कार्यों में ''मानसिक उत्पादन के साधनों'' का नियंत्रण निहित होता है, जिससे वर्गीय एकाधिपत्य का जन्म होता है; भौतिक उत्पादनों के वितरण में इन मानसिक उत्पादन के उपकरणों पर अधिकार रखने वाले व्यक्ति, अपने अधीन व्यक्तियों की तुलना में, सामाजिक उत्पाद का एक बहुत बड़ा हिस्सा ले लेते हैं।

भौतिक उत्पादन के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि यह अनेक शाखाओं में विभक्त है। स्थूल रूप से भौतिक उत्पादन की दो शाखाएँ हो सकती हैं – विनिर्माण और कृषि, इन दोनों को पुनः अनेक उपविभागों में विभक्त किया जा सकता है। महत् संरचना की तरह यहाँ भी अनेक उपविभाग हैं, और ये उपविभाग पुनः अनेक छोटे–छोटे उपविभागों में विभक्त हैं। भौतिक उत्पादन में उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के बीच एक निश्चित स्थूल अनुपात अवश्य होना चाहिए। यदि यह अनुपात नहीं है, तो समाज चल नहीं सकता। अंध पूँजीवादी व्यवस्था में भी जहाँ उत्पादन की कोई सामाजिक योजना नहीं होती है तथा उत्पादन में अपेक्षाकृत अराजकता होती है, एक अविरत समंजन पाते हैं। ऐसा संभव हो सकता है कि किसी समाज का अस्तित्व तो बना हो, लेकिन उसके भौतिक उत्पादन तथा श्रम के अन्य स्वरूपों, तथा अभौतिक स्वरूपों के बीच सामांजस्य न हो। इस स्थिति में समाज विकसित नहीं होगा, अपितु क्षयग्रस्त होने लगेगा। उदाहरण के लिए, जहाँ पर रंगशालाओं की देखभाल, सरकार के तंत्र, चर्च या कला में बहुत अधिक श्रम लगा दिया जाता है, वहाँ उत्पादक शक्तियाँ स्वतः क्षीण होने लगेंगी। यह स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति उस समुदाय में उत्पन्न होगी, जहाँ पर एक व्यक्ति तो कर्मी होगा,

लेकिन सात व्यक्ति कार्य का निरीक्षण करने वाले तथा उत्पादन का हिसाब लगाने वाले होंगे तथा दो अन्य व्यक्ति गाना सुनाकर प्रोत्साहन देने वाले होंगे और इस सबको देखने वाला एक निर्देशक होगा। चूँकि समस्त व्यक्तियों को खाना चाहिए, इसलिए यह स्पष्ट है कि ऐसी श्रम–प्रणाली बहुत दिनों तक नहीं चल सकेगी। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि कर्मी कितना ही प्रयत्न करें, फिर भी उन्हें सफलता नहीं मिलेगी, यदि विभिन्न सदस्यों के समन्वय से एक प्रणाली की प्रतिष्ठा नहीं हुई है तथा विभिन्न सदस्यों के कार्यों के बीच समुचित संतुलन नहीं स्थापित हुआ है। अतः यदि समाज को समय रूप से बना रहना है, तो इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण भौतिक कार्य तथा सम्पूर्ण महत् संरचनात्मक कार्य के बीच सन्तुलन की एक निश्चित दशा अवश्य होनी चाहिए। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाए कि एक ही रात में संयुक्त राज्य अमेरिका के समस्त विद्वान्–गणितज्ञ, इंजीनियर, रसायनशास्त्री, भौतिकशास्त्रीगायब हो जाते हैं, तो उस देश का विशाल उत्पादन चल नहीं सकता है; क्योंकि यह वैज्ञानिक गणना पर आधारित है। दूसरी ओर, यह मान लिया जाए कि किसी चमत्कार के द्वारा वर्तमान समस्त कर्मियों में से निन्यानवे प्रतिशत विद्वान् गणितज्ञों में बदल दिए जाते हैं, और वे उत्पादन में भाग लेना बन्द कर देते हैं, तो इसका परिणाम दिवालियापन होगा, और समाज नष्ट हो जाएगा। प्रत्येक समाज में सम्पूर्ण भौतिक श्रम तथा सम्पूर्ण महत् संरचनात्मक श्रम के बीच एक निश्चित अनुपात ही केवल आवश्यक नहीं है, बल्कि महत् संरचना के अन्तर्गत श्रम का वितरण भी आवश्यक है, अर्थात् ''मानसिक'' निरीक्षण के विभिन्न स्वरूपों तथा अन्य क्रिया–कलापों के बीच एक निश्चित अनुपात भी महत्त्वपूर्ण है; जैसे भौतिक श्रम के विभिन्न स्वरूपों के बीच एक निश्चित संतुलन है (मार्क्स का कहना है कि ये विभिन्न स्वरूप संतुलन की ओर प्रवृत्त होते हैं), उसी प्रकार वैचारिक कार्य की विभिन्न शाखाओं के बीच इसी प्रकार के संतुलन का एक निश्चित अल्पांश होना चाहिए। यह कहना अनुचित न होगा कि संतुलन का यह निश्चित अनुपात सामान्य रूप से महत् संरचनात्मक कार्य की विभिन्न शाखाओं के बीच होना चाहिए। उत्पादन की इन वैचारिक शाखाओं का समन्वय अन्ततोगत्वा समाज की आर्थिक संरचना द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए, प्राचीन विश्व में राष्ट्रीय श्रम की एक विशाल मात्रा बड़े–बड़े पिरामिडों, बड़ी–बड़ी मूर्तियों और सामंती कला के अन्य स्मारकों के निर्माण में क्यों लगाई गई थी? इसका बहुत सरल कारण है कि मिस्र का समाज अपने को बनाये रखने में

सफल नहीं हो सकता था, यदि वह गुलामों और किसानों पर अपने शासकों की उदात्तता और दैवी शक्ति का प्रभाव निरन्तर न डालता रहता। समाचार–पत्रों और तार–व्यवस्था के अभाव में कला एक वैचारिक सम्बन्ध–सूत्र का कार्य करती थी; अतः इस समाज के लिए यह स्वाभाविक था कि वह देश की श्रम–शक्ति का अधिकांश भाग ऐसे कार्यों के लिए ले ले। इसी प्रकार, नैतिक मानदण्डों की प्रतिष्ठा करने वाला नीतिशास्त्र ईसा पूर्व 5वीं शताब्दी के अन्त में ग्रीस में एक महत्त्वपूर्ण स्थान ले चुका था। इसका कारण यह था कि मनुष्यों के बीच के सम्बन्धों तथा इन सम्बन्धों के विनियमन का प्रश्न उन शासक–वर्गों तक के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो चुका था, जो समाज में व्याप्त बड़ी–बड़ी खाइयों के कारण इस प्रश्न पर विचार करने के लिए बाध्य थे, तथा विघटनकारी प्रवत्तियों के एकीकरण की खोज के लिए विवश थे। आज के संयुक्त राज्य अमेरिका में कला का पूर्ण विकास नहीं हुआ है, लेकिन वहाँ पर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विज्ञान की प्रगति सबसे अधिक हुई है तथा व्यावहारिक विज्ञान ने संगठित उत्पादन में असाधारण योगदान किया है। इसका कारण यह है कि अमेरिकन पूँजीवाद जनता के मस्तिष्क को मोड़ने के लिए कला की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता है; यह कार्य पूँजीवादी समाचार–पत्रों द्वारा बहुत अच्छी तरह से सम्पन्न किया जाता है, वहाँ के समाचार–पत्र भी कलाविज्ञता के बिन्दु तक परिपूर्ण बनाए जा चुके हैं; राष्ट्रीय उत्पादन का प्रश्न या वैज्ञानिक प्रबन्ध–व्यवस्था ऐसी प्रणाली के जीवन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

जब तक समाज संतुलन की अवस्था में है, तब तक महत् संरचनात्मक श्रम के क्षेत्र के विभिन्न अंगों के बीच एक निश्चित अनुपात आवश्यक होता है। मानसिक कार्य की विभिन्न शाखाओं के बीच यह अनुपात समाज की आर्थिक संरचना तथा इसकी प्रौद्योगिकी की आवश्यकताओं के द्वारा निर्धारित होता है।

इन पर्यवेक्षणों का रोचक व्यवहार विद्यालय के सन्दर्भ में किया जा सकता है : विद्यालय वैचारिक श्रम का एक क्षेत्र है। वास्तव में विद्यालय, विश्वविद्यालय, माध्यमिक विद्यालय, प्रारंभिक विद्यालय सामान्य सामाजिक श्रम के क्षेत्र हैं, जिनमें शिक्षा दी जाती है, श्रम–शक्तियों को एक निश्चित कौशल से सम्पन्न किया जाता है, विशिष्ट प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है; इस प्रकार सरल मानव–श्रम शक्ति को विशिष्ट श्रम–शक्ति में रूपांतरित किया जाता है। एक व्यक्ति

चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करता है, दूसरा कानून का, तीसरा सैन्य–विज्ञान का, चौथा प्रौद्योगिकी का, आदि। शिक्षण के सम्पूर्ण क्षेत्र में यही स्थिति पाई जाती है। वास्तव में, तालासाज की शिक्षा देने वाले विद्यालय तथा प्रतिभाशाली उपदेशक निकालने वाली शैक्षणिक संस्था या सिरफिरे अधिकारी निकालने वाले जारशाही के सैन्य विद्यालय में कोई आधारभूत अन्तर नहीं है। इसका आशय यह है कि विद्यालय–प्रणाली तथा इसका विभिन्न शाखाओं (वाणिज्य–विद्यालय, व्यवसाय–विद्यालय, सैन्य–विद्यालय, प्रौद्योगिकी–विद्यालय, विश्वविद्यालय, आदि) में विभाजन समाज के विभिन्न प्रकार के भौतिक और मानसिक कुशल श्रम की अभिव्यक्ति है।

इस प्रकार विद्यालय समस्त प्रकार की वैचारिकियों के व्यावहारिक स्रोत के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। कोई गणितशास्त्री हमारे इस सुझाव से कुपित होता है कि उसके ''विशुद्ध विज्ञान'' का कोई व्यावहारिक या सांसारिक महत्त्व है, तो हम केवल उससे यह पूछेंगे कि एक वाणिज्य–विद्यालय में व्यापारी का लड़का गणित क्यों पढ़ता है, भावी कृषिशास्त्री कृषिविद्यालय में गणित क्यों पढ़ता है तथा एक भावी इंजीनियर इंजीनियरिंग विद्यालय में गणित क्यों पढ़ता है? वह उत्तर दे सकता है कि व्यवसाय के निम्न स्तर में ही यह शिक्षण देने की स्वीकृति दी जाएगी; तब हम पूछ सकते हैं कि विशुद्ध गणितज्ञ, जो व्यावहारिक जीवन के प्रति अबोध से प्रतीत होते हैं, उन व्यक्तियों के समक्ष भाषण क्यों देते हैं जो इंजीनियरी या कृषि के व्यवसायों के लिए तैयारी कर रहे हैं। गतिणज्ञ इस पर यह भी कह सकता है कि कुछ ऐसे भी विद्वान हैं, जो न भाषण देते हैं और न शिक्षा देते हैं। तब हमें निश्चित ही यह कहना चाहिए कि ये विद्वान् पुस्तकें लिखते हैं, जो उन अध्यापकों द्वारा पढ़ी जाती हैं, जो उन भावी इंजीनियरों को शिक्षा देते हैं जो अपने अर्जित ज्ञान का उपयोग पुलों, ब्वायलरों, बिजली के पावर स्टेशनों के निर्माण की समस्याओं की गणना करने में करते हैं। इस प्रकार विद्यालय विशिष्ट समाज में विभिन्न प्रकार के कुशल श्रम की सापेक्ष आवश्यकता को सूचित करते हैं।

अतः विभिन्न विज्ञान श्रम–सूत्र से उतने ही अन्तर–सम्बन्धित हैं जितनी भौतिक श्रम की विभिन्न शाखाएँ परस्पर सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार वैचारिक श्रम की अन्य शाखाएँ विज्ञानों से सम्बन्धित हैं, और अन्ततः तथा अनवरत रूप से ये सब भौतिक श्रम पर आधारित हैं।

छ. महत् संरचना की महत्ता

अब हम महत् संरचना तथा वैचारिकियों के विभिन्न रूपों की महत्ता का अधिक विस्तृत अध्ययन कर सकते हैं। यह कार्य ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत के विरोधियों द्वारा उठाई गई आपत्तियों की आलोचनात्मक परीक्षा करके बहुत उत्तम रीति से किया जा सकता है।

सर्वप्रथम, व्यावहारिक स्रोतों के विरुद्ध उठाई जाने वाली अपत्तियाँ आती हैं। आलोचकों का दावा है कि वैचारिकी सहित महत् संरचना के स्वरूपों का व्यावहारिक रूप में कोई महत्त्व नहीं है। हमें यह बताया जाता है कि विद्वान् या कलाकार अपनी कृति या चिंतन के द्वारा किए जाने वाले व्यावहारिक योगदान से अधिकांशत पूर्णतया सम्बन्धित नहीं होना। इसके विपरीत, विद्वान, अपने विशुद्ध सत्य की खोज में, केवल इस देवी के प्रति अपने प्रेम को अभिव्यक्त करता है; इसके साथ विवाह केवल प्रेम पर आधारित है; इसमें अन्य किसी प्रकार की व्यावहारिक बातों की ओर ध्यान नहीं दिया गया है और न उनको आधार बनाया गया है। इसी प्रकार हमें यह बताया जाता है कि सच्चा कलाकार कला के लिए ही कला को प्रेम करता है। कला उसका चरम लक्ष्य है; कला ही उसे जीवन के अर्थ का बोध कराती है। एक न्यायाधीश यह घोषणा कर सकता है कि वह न्याय के पक्ष में दुनिया को नष्ट होना तक स्वीकार कर सकता है। इसी प्रकार एक सच्चा संगीतज्ञ संगीत की एक स्वर–लहरी के लिए संसार की प्रत्येक वस्तु को छोड़ने को प्रस्तुत हो जाएगा। सच्चा कलाकार अपनी कला के लिए ही जीवित रहता है, वैज्ञानिक विज्ञान के लिए, न्यायशास्त्री राज्य के लिए, आदि।

क्या यह सत्य है कि विद्वानों और कलाकारों की यही अभिवृत्ति होती है या वे जनता की आँखों में धूल झोंकते हैं? यद्यपि कभी–कभी धूल झोंकने की स्थिति हो सकती है, लेकिन हमें इस विषय पर इस दृष्टिकोण से विचार करने का अधिकार नहीं है। हजारों उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि एक सच्चा कलाकार या विद्वान् अथवा सैद्धान्तिक न्यायशास्त्री अपने व्यवसाय से उतना ही प्रेम करता है जितना वह स्वयं से प्रेम करता है। लेकिन केवल इतना ही कह कर इस प्रसंग को यहीं समाप्त कर देना अनुचित है; क्योंकि वैचारिकों के मनोविज्ञान के विषय को उनके वस्तुनिष्ठ व्यवहार या योगदान से भ्रमित नहीं करना चाहिए; मनुष्य का

अपने श्रम का दृष्टिकोण उसके समाज के लिए किए जाने वाले श्रम के योगदान के महत्त्व के समरूप नहीं है। आइए हम वैचारिकी के विकास की परीक्षा करें। उदाहरण के लिए, गणित का जन्म व्यावहारिक आवश्यकताओं के आधार पर हुआ, और यह एक विशेषीकृत विज्ञान हो गया तथा अनेक शाखाओं में विभक्त हो गया। विशेषज्ञ उन व्यावहारिक आवश्यकताओं से परिचित नहीं है, जिनकी पूर्ति उनका विज्ञान करता है। उसकी रुचि केवल ''अपने कार्य'' में है; जितना अधिक वह इससे प्रेम करेगा, उतना ही अधिक यह उत्पादक होगा। जो व्यक्ति अन्य क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं, उनके सम्बन्ध में भी यह सिद्धान्त सत्य होगा। विशेषीकरण के पूर्व विज्ञान की व्यावहारिक महत्ता प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्पष्ट थी, लेकिन अब इसका लोप हो गया है। ज्ञान ने पहले व्यवहार की ही सेवा की है, वह आज भी व्यवहार की सेवा में रत है; कल्पना–विलासी विशेषज्ञों के मस्तिष्क ज्ञान को पूर्णतया व्यवहार से विच्छिन्न प्रस्तुत करते हैं। इसके कारण सरलता से खोजे जा सकते हैं; मनुष्य का चिंतन उसके अस्तित्त्व से प्रभावित होता है। एक ऐसे मनुष्य के लिए जो किसी केवल एक वैचारिक क्षेत्र में कार्य कर रहा है, यह क्षेत्र ही पृथ्वी का ऐसा केन्द्र बिन्दु प्रतीत होना चाहिए, जिसके चारों और अन्य सब कुछ घूर्णित हो रहा है। यह व्यक्ति विशेषज्ञता के वातावरण में रहता है। विशेषीकरण के समय से पूर्व एक मनुष्य ने संभवतः सोचा हो : ''मेरा अनुमान है कि मैं अगले वर्ष अपने खेतों की नाप करने के लिए भूमित का अध्ययन करूँगा''। लेकिन गणित का विशेषज्ञ संभवतः यह कहेगाः ''हमें इस प्रश्न को हल करना है; यह मेरे जीवन का कार्य है।'' एन्र्स्टमाच ने भी इस स्थिति का वर्णन इसी भाव में किया है। उनका भी मत है कि मानसिक उपलब्धियाँ पहले भौतिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए ही की गई थीं, लेकिन बाद में वे भौतिकता से प्रकट रूप में दूर हो गईं। इस प्रकार सामाजिक; राजनीतिक पक्ष से लेकर दार्शनिक पक्ष एक महत् संरचना की प्रणाली समाज विशेष की प्राविधिक प्रणाली तथा आर्थिक आधार से सम्बन्धित है।

हमारे सिद्धान्त के सम्बन्ध में बहुप्रचलित आपत्ति इस धारणा का प्रतिफल है कि यह अर्थव्यवस्था को ही जीवन का वास्तविक तत्त्व घोषित करता है, इसके अतिरिक्त अन्य समस्त तत्त्व बचकाना मूर्खताएँ, विभ्रम, अस्पष्ट धारणाएँ हैं। यह अवधारणा ऐतिहासिक भौतिकवाद को प्रस्तुत करती है जिसके अनुसार विभिन्न कारकों का अस्तित्व इतिहास में है; जैसे

अर्थ–व्यवस्था, राजनीति, कला आदि; इनमें से कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन आर्थिक कारक केवल वास्तविक कारक हैं, अन्य केवल गाड़ी के पाँचवें पहिए की तरह हैं। मार्क्सवादी अवधारणा के इस कथन की बड़ी कटु आलोचना की जाती है; यह कहा जाता है कि अर्थ–व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य अनेक चीजें महत्त्वपूर्ण हैं; लेकिन हमारी वैचारिकी के दृष्टिकोण की इस प्रकार की व्याख्या करना अनुचित होगा; महत् संरचना बच्चों की खिलवाड़ नहीं है। हम दिखा चुके हैं कि पूँजीवादी राज्य के विनाश से पूँजीवादी उत्पादन असम्भव हो जाता है, तथा आधुनिक विज्ञान के विनाश से वृहत् स्तरीय उत्पादन और प्रौद्योगिकी भी संभव न होगी; मानवीय सम्पर्क के साधनों–भाषा और साहित्य के उन्मूलन से समाज विघटित हो जाएगा। ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त सामान्य रूप में महत् संरचना और विशेष रूप से वैचारिकियों की महत्ता को अस्वीकार नहीं करता है, अपितु उनकी व्याख्या करता है। जैसा हम निर्णयवाद और अनिर्णयवाद के अध्याय में दिखा चुके हैं, यह एक पूर्णतया भिन्न अभिवृत्ति है।

विभिन्न कारकों को उनके असमान मूल्य के दृष्टिकोण से विचार करना भी गलत होगा; अर्थात्, अर्थ–व्यवस्था की महत्ता को तो स्वीकार किया जाए, लेकिन राजनीति या विज्ञान के महत्त्व को कम आँका जाए यह ठीक नहीं है। इस प्रकार की व्याख्या से अनेक भ्रम उत्पन्न होते हैं। जब हम यह मानते हैं कि पूँजीवादी अर्थ–व्यवस्था का अस्तित्व पूँजीवादी राजनीति के बिना नहीं रह सकता, तो फिर इन कारकों की सापेक्ष्य महत्ता के लिए मापदण्ड स्थिर करने का क्यों प्रयत्न किया जाए। यह निश्चित करना कठिन होगा कि बन्दूक में घोड़ा अधिक महत्त्वपूर्ण है या नली; या मनुष्य शरीर में बायाँ हाथ अधिक महत्त्वपूर्ण है या दाहिना पैर; अथवा घड़ी में स्प्रिंग अधिक महत्त्वपूर्ण है या कॉगव्हील। कुछ वस्तुएँ अन्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं; नृत्य से अर्थ–व्यवस्था अधिक महत्त्वपूर्ण है; लेकिन अनेक दशाओं में इस प्रकार के वक्तव्य देना मूर्खतापूर्ण कार्य है। किसी प्रणाली में अनेक विभाग ऐसे हो सकते हैं, जो सम्पूर्ण के अस्तित्व के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण हों। बन्दूक में घोड़ा उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितनी नली; एक मशीन में कोई एक छोटा–सा स्क्रू किसी अन्य बड़े पुर्जे के समान ही महत्त्वपूर्ण हो सकता है; क्योंकि इसके बिना मशीन नहीं चल सकती। इसी प्रकार समग्र सामाजिक श्रम के अंश के रूप में संरचनात्मक श्रम पर विचार करने पर, इस प्रकार के प्रश्न

पूछना भी मूर्खता होगी : धातु–विज्ञान और खनिकर्म में से कौन–सा आधुनिक औद्योगिकी के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है? प्रत्यक्ष भौतिक श्रम तथा आर्थिक प्रशासन के श्रम में से कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है? उद्विकास की किसी अवस्था में ये दो कारक अविभेद्य हो सकते हैं। ''इस सिद्धान्त (इन कारकों का सिद्धान्त) में, सामाजिक विज्ञानों के उद्विकास में, इसी प्रकार का योगदान किया है। प्राकृतिक विज्ञानों की प्रगति ने इन शक्तियों की एकता को हमें दिखा दिया है जो ऊर्जा के आधुनिक सिद्धान्त से स्पष्ट है। इसी प्रकार समाज–विज्ञान की प्रगति ने सामाजिक जीवन की एक संश्लेषणात्मक अवधारणा को, कारकों के सिद्धान्त को पदच्युत करने के लिए, उन्मुख किया। अतः हम कारकों के सिद्धान्त का परित्याग करते हैं। लेकिन यहाँ भौतिक उत्पादन तथा महत् संरचना के पारस्परिक भेद तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों के अध्ययन का एक आधार बना ही रहता है।

वास्तविक अन्तर उनके कार्यों की भिन्न विशेषताओं में है। उत्पादन के प्रशासन का वही योगदान नहीं होता है, जो स्वयं उत्पादन का होता है। उत्पादन का प्रशासन बाधाओं को दूर करता है, कार्य के विभिन्न तत्त्वों को व्यवस्थित करता है और उनका समन्वय करता है, या दूसरे शब्दों में कार्य के एक निश्चित समंजन की स्थापना करता है। हम यह भी देख चुके हैं कि नैतिकताएँ, प्रथाएँ और अन्य मानदण्ड भी मनुष्यों के कार्यो को समन्वित करते हैं, और उनको (कार्यों को) एक सीमा के अन्तर्गत रखते हैं, जिससे समाज विघटन से बचा रहता है। इसी प्रकार विज्ञान (मान लीजिए कि हम प्राकृतिक विज्ञानों के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे हैं) अन्ततोगत्वा उत्पादन की प्रक्रिया के पथ–निर्देशक के रूप में कार्य करता है, और इसके प्रभाव की वृद्धि करता है, तथा इसकी संक्रिया को विनियमित करता है। हमने दर्शन–शास्त्र का कार्य भी इसी प्रकार से परिभाषित किया है, जो विभिन्न विज्ञानों के विसंवादों या विरोधों को समन्वित और विनियमित करता है या करने का प्रयत्न करता है।

दर्शन–शास्त्र विज्ञानों से वैसे ही उत्पन्न होता है, जैसे उत्पादन का प्रशासन उत्पादन से उत्पन्न होता है; इनमें से कोई ''प्राथमिक'' नहीं है; दोनों ''द्वैतीयक'' हैं, कोई ''मौलिक'' नहीं हैं, बल्कि दोनों ''गृहीत'' या ''व्युत्पादित'' हैं; फिर भी दर्शनशास्त्र किसी सीमा तक

विज्ञानों को नियंत्रित करता है; क्योंकि यह उनको ''सामान्य दृष्टिकोण'', अध्ययन–विधि, आदि प्रदान करता है।

दूसरा उदाहरण भाषा का है, जिस पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। भाषा का उद्भव उत्पादन से होता है और विकास सामाजिक उद्विकास के प्रभाव द्वारा होता है, अर्थात्, उसका उद्विकास सामाजिक उद्विकास के प्राकृतिक नियमों द्वारा होता है। भाषा का कार्य मनुष्य के कार्यों का समन्वय करना है; क्योंकि पारस्परिक बोध सम्बन्धों, कार्यों, किसी सीमा तक संवेदनाओं, आदि में अनुकूलन और समन्वय का सरलतम स्वरूप है। भौतिक उत्पादन तथा वैचारिक श्रम या अन्य किसी महत् संरचनात्मक श्रम के बीच के आधारभूत अन्तर के आशय का स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए। वास्तव में, इनका पारस्परिक सम्बन्ध वह वैचारिक श्रम है जो गृहीत या व्युत्पादित मात्रा है तथा यह एक नियामक सिद्धान्त का निर्माण भी करता है। सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में, इनके कार्यों के भेद में ही अन्तर निहित है।

हमने विपरीत सम्बन्ध के प्रश्न का भी व्यावहारिक रूप से उत्तर दे दिया है, अर्थात्, आर्थिक आधार तथा समाज की उत्पादक शक्तियों पर महत् संरचना के प्रभाव पर भी विचार कर लिया है। महत् संरचना आर्थिक दशाओं से उद्भूत होती है तथा उत्पादक शक्तियाँ इन दशाओं को निर्धारित करती हैं, और फिर महत् संरचना उत्पादक शक्तियों को प्रभावित करती है तथा उनके विकास में सहयोग प्रदान करती हैं अथवा अवरोध प्रस्तुत करती है। लेकिन किसी भी दशा में इस विपरीत प्रक्रिया के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है। दूसरे शब्दों में, विभिन्न श्रेणी की सामाजिक प्रघटनाओं के बीच कारण और प्रभाव की पारस्परिक अनवरत प्रक्रिया चला करती है।

यदि हम इस पारस्परिक प्रभाव को स्वीकार कर लें, तो फिर मार्क्सवादी सिद्धान्त का आधार क्या हो जाता है? क्योंकि अधिकांश बुर्जुआ विद्वान् पारस्परिक अन्तर–क्रिया स्वीकार करते हैं। क्या हम अब भी यह कह सकते हैं कि उत्पादक शक्तियाँ और उत्पादन की दशाएँ हमारे विश्लेषण का आधार हैं? उन्होंने जो कुछ निर्माण किया है, क्या हम उसे अपने हाथों से नष्ट नहीं कर रहे हैं? इन शंकाओं का निवारण बहुत सरलता से हो जाता है। ये पारस्परिक

प्रभाव कितने ही अधिक क्यों न हों, लेकिन पूर्ण तथ्य यही रहता है : किसी भी प्रदत्त क्षण में समाज की आन्तरिक संरचना इस समाज और बाह्य प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा निर्धारित होती है, अर्थात, आन्तरिक संरचना का निर्धारण समाज की भौतिक उत्पादक शक्तियों की दशा द्वारा होता है; तथापि आकार या स्वरूप में परिवर्तन उत्पादक शक्तियों की गतिविधियों द्वारा निर्धारित होता है। हम पारस्परिक सम्बन्ध के एक कुलक (सेट) के अस्तित्व को केवल स्वीकार करने की अपेक्षा अधिक आगे चले जाते हैं; क्योंकि हम समझते हैं कि समाज में कार्यरत समस्त असंख्य प्रक्रियाएँ, उनकी प्रतिच्छेदी, संघर्षशील, संचयी समस्त शक्तियाँ और तत्त्व एक उस सामान्य ढाँचे के अन्तर्गत कार्य कर रहे हैं, जो समाज और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा प्रदान किया गया है। संम्भवतः हमारे विरोधी इस सिद्धान्त का खण्डन करने का प्रयत्न करेंगे।

लेकिन हमारी यह प्रस्थापना अकाट्य है; इसका आशय यह है कि हमारा विश्लेषण उत्पादक शक्तियों से प्रारंभ होना चाहिए, तथा समाज के विभिन्न अंगों के बीच की असंख्य पारस्परिक आश्रितताएँ, उत्पादक शक्तियों के उद्विकास पर समस्त सामाजिक प्रघटनाओं की आधारभूत और अन्तिम आश्रितता का उन्मूलन नहीं करती हैं; तथा समाज में क्रियारत कारणों की विभिन्न दिशाएँ सामाजिक उद्विकास में एक एकल एकीकृत कारणात्मक सम्बन्ध के अस्तित्व का खण्डन नहीं करती हैं।

ज. सामाजिक जीवन के स्वरूपात्मक सिद्धान्त

अब हम प्रत्येक विशिष्ट युग के निश्चित लक्षणों के भेद करने की सम्भावनाओं के सामान्य प्रश्न पर विचार करने की स्थिति में हैं। संभवतः क्या हम यह पायेंगे कि समस्त सामाजिक प्रघटनाओं के बीच में वर्तमान सम्बन्ध, उस किसी तत्त्व के अस्तित्व में, अपने को व्यक्त करेगा, जो समस्त प्रघटनाओं में वर्तमान है? हमने देखा है कि वे अन्ततः उत्पादक शक्तियों और उत्पादक सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होती हैं। इस सम्बन्ध को कुछ शब्दों में पुनः कैसे व्यक्त किया जा सकता है? इस प्रश्न पर कैसे विचार किया जाएगा? आइये हम कला पर विचार करें, जो मानसिक जीवन की सर्वोत्तम और सर्वाधिक जटिल प्रघटना है। प्रत्येक युग में

कला की अपनी शैली होती है, जो अपने को विशिष्ट स्वरूपों में व्यक्त करती है तथा जो विशिष्ट विषय–वस्तु की द्योतक होती है और साथ ही साथ विशिष्ट वैचारिकी की भी सूचक होती है; वैचारिकी एक विशिष्ट मनोविज्ञान से उद्भूत होती है; मनोविज्ञान एक विशिष्ट अर्थ–व्यवस्था से उद्भूत होता है, और अर्थ व्यवस्था उत्पादक शक्तियों की विशिष्ट अवस्था का परिणाम है।

अब यदि हम सामाजिक जीवन के समस्त क्षेत्रों में स्वरूपों की एक निश्चितता देखते हैं, तो क्या हम यह दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि इन समस्त क्षेत्रों की अपनी–अपनी शैली है? हम कह सकते हैं; यह कहना तर्कसंगत है कि जैसे कला की शैली होती है, वैसे ही विज्ञान की भी शैली है। हम ''जीवन की शैली'' भी कह सकते हैं, क्योंकि जीवन के अपने विशिष्ट या अप्रतिम स्वरूप होते हैं। एक निश्चित भाव में हम सामाजिक अर्थ–व्यवस्था की शैली की भी बात कर सकते हैं, मार्क्स के शब्दों में जिसका आशय ''उत्पादन के सम्बन्ध'', ''उत्पादन के रूप'', ''समाज की आर्थिक संरचना'' है। जैसे किसी भवन की शैली का निर्धारण उसके तत्त्वों के विशिष्ट संयोग द्वारा होता है, उसी प्रकार सामाजिक अर्थव्यवस्था की शैली अपने को उत्पादन–सम्बन्धों की विशेषता और उस विशिष्ट रीति में व्यक्त करती है, जिससे सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के तत्त्व एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। ''जिस विशिष्ट रूप और रीति से यह सम्मिलन उपलब्ध होता है, वही सामाजिक संरचना के विभिन्न युगों में भेदकरण करता है।'' मार्क्स का मत है कि ''उत्पादन के रूप'' के अतिरिक्त ''अवधारणा का भी रूप'' होता है। सामान्य रूप में, किसी काल विशेष में वैचारिकी की शैली इसी प्रकार की है, अर्थात् वैचारिकी की शैली किसी विशेष युग के प्रत्ययों, विचारों, संवेदनाओं, स्वरूपों, विशेषताओं का विशेष संयोग है, या, प्रो० मारबे के शब्दों में, वैचारिकी की शैली वैज्ञानिक–चिन्तन तथा विश्व और जीवन की अवधारणाओं का विशिष्ट संयोग है।

क्या ''उत्पादन के रूप'' तथा ''अवधारणा के रूप'' में भेद करना सम्भव है? क्या समाज विशेष की आर्थिक शैली और वैचारिक शैली में अंतर करना संभव है? सामान्य रूप से महत् संरचना के सम्बन्ध में और विशेष रूप से वैचारिकियों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उससे यह निश्चित है कि हमें ऐसा करने का अधिकार है।

हम इसे एक उदाहरण के द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। यह उदाहरण है सामन्ती समाज का। सामन्ती समाज की आर्थिक शैली एक निश्चित स्तरण के सिद्धान्तों या ऊँच–नीच के विचार में व्यक्त होती है। मार्क्स सामन्ती युग की विशेषताओं को इस प्रकार प्रस्तुत करता है : ''यहाँ हम स्वतंत्र मनुष्यों के स्थान पर कृषकदास और लार्ड, भूसामन्त और भूसामन्तों के गुमास्ते, साधारण मनुष्य और पादरी, आदि प्रत्येक को आश्रित या परतन्त्र पाते हैं। यहाँ पर वैयक्तिक आश्रितता उसी प्रकार उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों के लक्षणों को व्यक्त करती है, जिस प्रकार यह उस जीवन के अन्य क्षेत्रों में करती है जो उस उत्पादन के आधार पर संगठित हैं।'' अर्थ–व्यवस्था तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों की यह विशेषता, संक्षेप में, युग की शैली है, अर्थात्, अर्थ–व्यवस्था में पद या ऊँच–नीच के आधार पर निर्मित स्तरण युग की शैली है; जीवन के अन्य क्षेत्रों में स्तरणात्मक आश्रितता सम्पूर्ण वैचारिकी की स्तरणात्मक शैली हैं। वास्वत में, उस युग में, मनुष्य का सम्पूर्ण दर्शन धार्मिक था, और धर्म वह दर्शन है जो प्रत्येक वस्तु की व्याख्या स्तरणात्मक रीति से करता है, पदों, कोटियों या श्रेणियों के अनुसार करता है। विज्ञान कोटि या स्तर के इस विचार से परिव्याप्त है; इसी प्रकार कला भी; और हम इस दशा को कला में व्यक्त पाते हैं। मध्ययुग में कोटि या स्तर सम्पूर्ण जीवन की शैली है। इस शैली की एकरूपता ''उत्पादन के रूपों'' पर ''अवधारणाओं के रूप'', और ''व्यक्तियों की प्रणाली'' पर ''विचारों की प्रणाली'' की आश्रितता सिद्ध करती है। व्यक्तियों की प्रणाली, वस्तुओं की प्रणाली (अर्थात् सामाजिक भौतिक शक्तियों) द्वारा निर्धारित होती है। स्तरण या श्रेणी से युक्त शैली के इस आधारभूत स्तर को ''सामाजिक जीवन का स्वरूपतामक सिद्धान्त'' नाम दिया जा सकता है, जो उत्पादन–सम्बन्धों पर आधारित है।

झ. आर्थिक संरचना के रूप; विभिन्न समाजों के रूप

किसी भी समाज के विश्लेषण करने पर, हमें समाज के कुछ ऐतिहासिक रूप प्राप्त होंगे। दूसरे शब्दों में, ''सामान्य'' समाज जैसी कोई चीज नहीं है; हम सदा समाज के विशिष्ट ऐतिहासिक अवशेष पर ही विचार करते हैं; प्रत्येक समाज अपने काल का वस्त्र धारण किए रहता है। इसका कारण यह है कि कोई विशिष्ट समाज परस्पर अनवरत रूप से अन्तर–सम्बन्धों से सम्बन्धित मनुष्यों का एक समुच्चय है, यह अन्तर–सम्बन्ध मनुष्यों के

श्रम–सम्बन्धों पर आधारित है, उत्पादन सम्बन्धों की प्रणाली पर आश्रित है। इस तथ्य को किसी भी समय के पारस्परिक श्रम–सम्बन्धों को देख कर सहज ही में समझा जा सकता है। लेकिन यह उत्पादन–सम्बन्धों की प्रणाली विशिष्ट रीति से विन्यस्त मनुष्यों का समुच्चय है। यह विशिष्ट रीति केवल श्रम सूत्र से सम्बन्धित नहीं है, अपितु यह सूत्र विशिष्ट प्रकार का है। अतः यह स्पष्ट है कि समाज एक विशिष्ट प्रकार के श्रम–आधार पर ही आधारित होता है। चूँकि यह विशिष्ट आधार (या विशिष्ट उत्पादन–रीति) विशिष्ट प्रकार की अवधारणाओं (जीवन के दृष्टिकोणों) को जन्म देता है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह समाज के सम्पूर्ण रूप का निर्धारण करेगा, केवल भौतिक उत्पादनों या आर्थिक पक्षों का ही निर्धारण नहीं करेगा। प्रौद्योगिकी उत्पादन की रीति को निर्धारित करती है; उत्पादन की रीति जीवन के प्रति दृष्टिकोण को निर्धारित करती है; भौतिक मानवीय और मानसिक प्रणाली को एक सूत्र में आबद्ध करने वाली यह श्रृंखला एक निश्चित प्रकार के समाज को जन्म देती है। जिस प्रकार हम प्राणि–जगत् में श्रेणियों, जातों और कुलों द्वारा भेद करते हैं, उसी प्रकार हम समाजशास्त्र में सामाजिक रूपों (सोशल टाइप्स) में अन्तर करते हैं। यद्यपि इस बात पर अनेक बार जोर दिया जाता है, लेकिन हमें इस पर अपने आधारभूत विचार के रूप में पुनः निर्देश कर देना चाहिए कि सामाजिक रूपों के बीच का यह अन्तर केवल आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं खोजना चाहिए, बल्कि सामाजिक प्रघटनाओं की अन्य सरणियों या श्रृंखलाओं में भी खोजना चाहिए। समाज के रूप का निर्धारण इसकी वैचारिकी और अर्थ–व्यवस्था दोनों द्वारा हो सकता है। सामन्ती कला के सम्बन्ध में सामन्ती उत्पादन की दशाओं से निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं; सामन्ती उत्पादन की दशाएँ सामान्य रूप से सामन्ती कला–चिन्तन के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने के लिए हमें समर्थ बनाती हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा खोजे गए स्मारकों की गूढ़ व्याख्या हमें विलुप्त प्रजातियों के जीवन और रहन–सहन के सम्बन्ध में कल्पना करने में सहायता पहुँचाती है। हम्बूरबी कानून के द्वारा हम वेबीलोनिया–निवासियों के आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में अपने मस्तिष्कों में कल्पना कर सकते हैं। इलियड और ओडसी महाकाव्यों के द्वारा प्रारम्भिक ग्रीक–इतिहास के सम्बन्ध में एक अवधारणा निर्मित कर सकते हैं, आदि।

समाज के ऐतिहासिक स्वरूपों तथा इन स्वरूपों की विशिष्ट प्रकृति को ही केवल आर्थिक आधार द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता है, बल्कि सामाजिक प्रघटनाओं के समुच्चय का निर्धारण भी इसी आधार पर हो सकता है; क्योंकि आर्थिक संरचना, राजनीतिक संरचना और वैचारिक संरचना को भी निर्धारित करती है। निश्चित ही इसका यह आशय नहीं है कि एक प्रकार के समाज में दूसरे प्रकार के समाज से इतना अन्तर किया जाना चाहिए कि कोई सामान्य गुण या विशेषताएँ अवशेष ही न रह जाएँ। समाज के इतिहास के युग एक दूसरे से एक निश्चित रेखा द्वारा पूर्ण पृथक् नहीं होते हैं। इसके विपरीत, वास्तविकता यह है कि प्रत्येक नया सामाजिक रूप और प्रत्येक नई सामाजिक संरचना प्राचीन आर्थिक–स्वरूपों की महान् और निर्णायक अवशेषों को प्रस्तुत कर सकती है। उदाहरण के लिए, आधुनिक पूँजीवादी समाज में प्रारम्भिक आर्थिक स्वरूपों के बहुसंख्यक अवशेष प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण वृहत् कृषक–वर्ग तथा इसके आर्थिक जीवन को समग्र रूप में सामन्ती युगों के अवशेष के रूप में माना जा सकता है; यही बात छोटे–छोटे शिल्पियों आदि के सम्बन्ध में भी है; विशुद्ध पूँजीवाद में बुर्जुआ और सर्वहारा वर्ग ही निहित है, लेकिन कृषक या शिल्पी वर्ग, आदि नहीं। यदि ऐसी शुद्धता आर्थिक संरचना में नहीं उपलब्ध हो सकती, तो यह स्पष्ट है कि वैचारिक क्षेत्र में विचारों की एक निश्चित मिश्रितता होगी। अतः पूँजीवादी समाज सामन्ती वैचारिकों के अनेक अवशेष प्रस्तुत कर सकता है। उदाहरण के लिए, भूकुलीनता (लैण्डेड नोबिलिटी) और कृषक–वर्ग या उन ग्रामीण वर्गों, जो प्रारम्भिक कृषि–सम्बन्धों पर आधारित हैं तथा जो आज भी कुछ परम्परागत गुणों को सुरक्षित किए हुए हैं, में यह बात देखी जा सकती है। आर्थिक स्वरूपों के अन्तर–संग्रथन के साथ–साथ वैचारिक स्वरूपों का भी अन्तर–संग्रथन होगा, फलतः ''उत्पादन की रीति'' पूर्णरूप से एकरूप या समरूप कभी नहीं होती और 'अवधारणा की रीति' में समरूपता तो और भी कम होती है; क्योंकि अवधारणा की रीति भिन्न–भिन्न वर्गों में भिन्न–भिन्न होती है जो किसी विशेष काल में किसी आर्थिक संरचना का अंग हो सकती है। इसका आशय यह नहीं है कि हमें विभिन्न प्रकार के उत्पादन–सम्बन्धों के बीच अन्तर नहीं करना चाहिए, या हम कर नहीं सकते। इसका कारण यह है कि जिस समाज का वास्तव में अस्तित्व है, उसमें एक निश्चित प्रकार के उत्पादन–सम्बन्धों की प्रधानता होती है, और इसलिए उसमें जीवन का एक निश्चित और प्रचलित दृष्टिकोण भी होता है। वरनर सोमबार्ट ने

ठीक ही कहा है : ''मैं आर्थिक जीवन के एक निश्चित युग का भेदकरण एक विशिष्ट काल की एक विशिष्ट प्रवृत्ति की प्रधानता द्वारा करता हूँ।''

मार्क्स पूँजीवाद के सन्दर्भ में कहता है कि पूँजीवादी समाज वह है जिसके स्वरूप में पूँजीवादी उत्पादन की प्रधानता होती है। जिस प्रकार हम अनेक समान लक्षणों के होते हुए भी मनुष्य और बनमानुष में अन्तर कर लेते हैं, उसी प्रकार अनेक समान लक्षणों के होते हुए भी समाज के विभिन्न स्वरूपों में अन्तर कर सकते हैं; इस तथ्य के बावजूद भी कि समाज के उच्चतर स्वरूप प्राचीनतर रूपों के प्रायः पूर्णतया निरर्थक अवशेष प्रस्तुत करते हैं जो सहज में पहचाने नहीं जा सकते हैं।

तथा–कथित आदिम साम्यवाद में उत्पादन–सम्बन्धों का रूप ऐसा था जिसमें आर्थिक ''व्यक्तित्व'' झुण्ड से अभी पृथक् नहीं है, हम चेतनता के तदनुरूप स्वरूप भी पाते हैं : धर्म, स्तरण के विचारों, व्यक्तित्व की धारणा, पूर्ण पृथक् व्यक्ति की धारणा, आदि का अभाव। इसी प्रकार सामन्ती समाज पर विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि एक ओर भूमि अनेक स्वतंत्र जागीरों, जमीदारियों में विभक्त हो जाती है, और दूसरी ओर, अनुबन्धात्मक दास–सम्बन्धों के द्वारा भूमि–अधिकारों को संगठित किया जाता है। यहाँ पर अर्थ–व्यवस्था की शैली स्तरणात्मक है; और इसी प्रकार राजनीतिक और वैचारिकी की शैली है। जैसा हम पीछे देख चुके हैं, पद या श्रेणी की धारणा प्रत्येक स्थान में प्रचलित है। इस धारणा का आधार है भूमि–स्वामित्व, अर्थात् कोई भूमि बिना उसके स्वामी की नहीं है। यहाँ पर आर्थिक सम्बन्ध–सूत्र सामन्ती भू–स्वामियों और कृषक–दास के बीच के सम्बन्ध–सूत्र हैं; यह सम्बन्ध स्थायी और अविचल है तथा सामन्ती समाज के सदस्यों के दृष्टिकोण से अपरिवर्तनीय है; प्रत्येक वस्तु स्तरणात्मक व्यवस्था में अपने–अपने स्थान पर सुदृढ़ और स्थिर है। यदि जूता बनाने वाला इस स्तरण में सबसे नीचे स्थान पर है, तो उसे अपने उसी स्थान पर बना रहना चाहिए। यही स्थिति उस राजनीतिक महत् संरचना में परिलक्षित होती थी, जो इन उत्पादन–दशाओं की द्योतक थी।

बीसवीं शताब्दी के न्याय–शास्त्र के द्वारा सामन्ती जीवन की स्तरणात्मक प्रवृत्ति को एक विशेष उच्च भाव–भूमि प्रदान की गई है, और इस प्रवृत्ति को एक सिद्धान्त और प्रणाली का

रूप दिया गया है। उपदेशकों को समग्र समाज के क्षैतिज वितरण का स्पष्ट बोध था, भले ही यह स्वामी और सेवक के वर्गों में विभक्त था। यहाँ सेवक अपने स्वामियों के आदेशों को पालन करने के लिए उद्बोधित किए जाते हैं; क्योंकि ईश्वर ने राजाओं और सामन्तों को पृथ्वी पर स्थित किया है, तथा अन्य सामान्य मनुष्यों को इसलिए बनाया है, जिससे वे इन राजाओं आदि की आज्ञा–पालन करें। ईश्वर ने ऐसी व्यवस्था की है, जिससे निर्बल लोग शक्तिशाली लोगों पर आश्रित हों। जीवन का सम्पूर्ण दृष्टिकोण धार्मिक है, अर्थात् श्रेणी की धारणा तथा सर्वसत्ता की भवना से संपृक्त है। फलतः इस दृष्टिकोण में जड़ता और परम्परा के प्रति एक विशेष अनुराग है। यहाँ विज्ञान का मुख्य कार्य परम्पराओं और धार्मिक ग्रन्थों की व्याख्या करना है; कला दैवी है जो अधिभौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों के विराटत्व को अपनी विषय–वस्तु और शैली में रूपयित करती है; परिव्याप्त नैतिकता, प्रमुख आचरण और दिशा–निर्देशक नैतिक मानदण्ड वे हैं जो सामन्ती निष्ठा, अभिजात्य औद्धत्य, पूर्वजों के आदेशों के प्रति श्रद्धायुक्त भय, कुलीन वंश–परम्परा के प्रति आदर से अनुप्रेरित हैं। दूसरे शब्दों में, हम यहाँ पर विशिष्ट सामाजिक जातों (स्पीशीज) या एक विशिष्ट प्रकार के समाज पर विचार कर रहे हैं; जिसके भौतिक आधार से प्रारम्भ कर रहे हैं, और सामाजिक चेतना के उच्चतम स्वरूपों तक पहुँचना है।

आइए, अब हम पूँजीवादी समाज पर विचार करें जिसके आर्थिक आधार में पूर्णतया भिन्न प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध हैं। भूस्वामित्व से प्राप्त शक्ति अर्थात् स्वामी और सेवक के वैयक्तिक सम्बन्धों पर आधारित शक्ति, तथा मुद्रा (मनी) द्वारा प्रदत्त अवैयक्तिक शक्ति के बीच अन्तर है। पूँजीवादी समाज में विभिन्न उद्यमों के बीच बाजार के माध्यम से सम्बन्ध होता है, जिससे इस बाजार की अवैयक्तिक सत्ता या शक्ति का तो जन्म होता ही है, इसके साथ ही साथ मुद्रा को भी अवैयक्तिक या ''अमूर्त'' शक्ति प्राप्त होती है। लेकिन इसका दूसरा पक्ष यह है कि मुद्रा की अवैयक्तिक सामाजिक शक्ति उस समय तक पूँजी में नहीं परिणत होती है, जब तक सरल वस्तुओं (माल) का उत्पादन पूँजीवादी उत्पादन में रूपान्तरित नहीं कर दिया जाता है।

जिस प्रकार मुद्रा में वस्तुओं के बीच के प्रत्येक गुणात्मक अन्तर का लोप हो जाता है, उसी तरह मुद्रा भी समस्त भेदों का अन्त कर देती है। लेकिन मुद्रा स्वयं माल है, बाह्य वस्तु है, जो किसी भी व्यक्ति की व्यक्तिगत सम्पत्ति बन जाती है। इससे पूँजीवादी समाज की अर्थव्यवस्था की एक अन्य विशेषता–स्तरणात्मक विशेषता–सामने आती है। मार्क्स इस विशेषता का विश्लेषण करते हुए कहता है : पूँजीपति का नियन्त्रण निरंकुश होता है। जैसे ही सहकारिता का विस्तार होता है, यह निरंकुशता विलक्षण रूप धारण करती है। जैसे ही पूंजीपति की पूंजी उस सीमा में पहुंच जाती है जहाँ से वह पूंजीवादी उत्पादन करने की स्थिति में हो जाता है, तो वह कर्मियों का अनवरत और प्रत्यक्ष निरीक्षण छोड़ देता है तथा उसका यह निरीक्षण–कार्य विशेष श्रेणी के वेतन भोगी कर्मी करने लगते हैं। इस प्रकार एक पूँजीपति के अधीन औद्योगिक कर्मियों की सेना–सी होती है, जिसमें वास्तविक सेना की तरह आफिसर (मैनेजर), सार्जेण्ट (फोरमैन, सुपरवाइजर) होते हैं, जो पूंजीपति के नाम पर कर्मियों को नियन्त्रित और निर्देशित करते हैं; कार्य–निरीक्षण उनका एकमात्र मान्य कार्य हो जाता है।

अतः पूँजीवादी उत्पादन–रीति का लक्षण दोहरा है : एक ओर, यह वैयक्तिक अर्थ–व्यवस्थाओं, या उद्यमों का योगकरण है, जो बाजार के अराजक बंधन के द्वारा संयुक्त या एकीकृत है; बाजार विनिमय के माध्यम से यह कार्य करता है, जो प्रत्येक वैयक्तिक अर्थ–व्यवस्था को नियन्त्रित करने वाली मुख्य अंधी शक्ति है; दूसरी ओर, यह (पूँजीवादी उत्पादन–रीति) एक ऐसी स्तरणात्मक प्रणाली है, जिसके नियन्त्रण में पूंजी होती है। यह स्वाभाविक ही है कि इस उत्पादन की रीति ने अपने अनुरूप जीवन का दृष्टिकोण भी उत्पन्न कर लिया है। इसकी ''शैली'' में ये दोनों प्रकार के लक्षण प्रतिबिम्बित होने चाहिए, और ऐसा होता भी है। पूँजीवादी समाज के जीवन के दृष्टिकोण में मुख्य रूप से दो बातें हैं– एक ओर, इसमें वस्तुओं का जड़ पूंजीवाद होता है, और दूसरी ओर इसमें पद (रैंक) का सिद्धान्त होता है। इन दो ''स्वरूपतामक सिद्धान्तों'' का संयोग पूंजीवादी जगत् में प्रचलित जीवन के दृष्टिकोण की आधारभूत शैली में प्रतिफलित होता है। अब हमें वस्तुओं के जड़ पूँजीवाद (फेटेचिज्म आफ कमोडिटीज) समाज में औद्योगिक या व्यवसायी अज्ञात बाजार के लिए स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं। लेकिन प्रत्येक श्रमिक सामाजिक श्रम का एक उपविभाग होता है,

समस्त उपविभाग परस्पर स्वतंत्र होते हैं; लेकिन मनुष्यों के बीच के सामाजिक सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से गोचर नहीं हो पाते हैं, यद्यपि प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे के लिए कार्य करता है। यदि हम समाजवादी अर्थ–व्यवस्था के सम्बंध में विचार कर रहे हैं, तो उसमें समस्त वस्तुएँ एक योजना के अनुसार परिचालित पाते हैं, अतः हमें पूर्णतया यह स्पष्ट होगा कि प्रत्येक मनुष्य एक–दूसरे के लिए कार्य कर रहा है, अर्थात, प्रत्येक प्रकार का श्रम सामान्य सामाजिक श्रम का केवल एक उपविभाग है, आदि। मनुष्यों के बीच के सम्बंध स्पष्ट होंगे, कोई अस्पष्टता नहीं रहेगी। लेकिन पूँजीवादी समाज में यह स्थिति पूर्णतया भिन्न है। यहाँ मनुष्यों के बीच के श्रम–सम्बंध अगोचर हैं; क्योंकि ये उस बाजार–व्यवस्था के कारण प्रच्छन्न हैं जिसमें वस्तुएँ भेजी जाती हैं, खरीदी और बेची जाती हैं। बाजार मनुष्यों के तर्क या विवेक द्वारा नियंत्रित नहीं किया जाता, बल्कि यह अपने मूल्यों द्वारा मनुष्यों को नियंत्रित करता है। मनुष्य वस्तुओं के आवागमन को देखते हैं, लेकिन यह नहीं समझते हैं कि वे एक दूसरे के लिए कार्य कर रहे हैं, और समस्त मनुष्य सामान्य श्रम–सूत्र द्वारा सम्बंधित हैं। उनको सामान्य श्रम–सूत्र वस्तुओं की एक विशिष्ट चमत्कारिक शक्ति प्रतीत होता है, या इन वस्तुओं का मूल्य प्रतीत होता है। मनुष्यों के बीच के सम्बंध स्वयं अपने को वस्तुओं के बीच के सम्बंधों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वस्तुओं के जड़ पूँजीवाद का हमारा यही आशय है जिसमें वास्तव में मानवीय श्रम में सन्निहित गुणों को वस्तुओं का गुण माना जाता है। यह जड़ पूंजीवाद मनुष्यों के बीच के निश्चित सामाजिक सम्बन्धों की वस्तुओं के बीच के एक विशिष्ट सम्बंध के रूप में प्रस्तुत करता है, और इस प्रकार वस्तुओं के बीच का सम्बन्ध पूँजीवादी जीवन के दृष्टिकोण का एक विचित्र लक्षण बनता है। हम पहले देख चुके हैं कि बुर्जुआ विद्वान्, कलाकार, दार्शनिक, आदि विज्ञान कला या दर्शन के सामाजिक स्रोतों पर विचार करने से चिढ़ते हैं। वे पूर्णतया जड़ पूंजीवादी हैं, क्योंकि वे सामाजिक सम्बन्धों की पूर्ण उपेक्षा करते हैं, तथा अपने दैवी श्रम को सम्पूर्ण सामाजिक श्रम का केवल एक अंश मानने में असमर्थ हैं।

पूँजीवाद और वस्तुओं की वैचारिकी का जड़ पूँजीवाद ''श्रेणी'' या ''पद'' के साथ मिला दिया जाता है, और ये दो आधारभूत स्वरूपात्मक सिद्धान्त पूँजीवादी चिन्तन के केन्द्र बिन्दु तथा वैचारिक सामग्री के आधार बन जाते हैं। इस प्रकार पूँजीवादी समाज एक विशिष्ट प्रकार

का समाज है जिसमें सामाजिक जीवन के समस्त स्तरों में उच्चतर वैचारिक महत् संरचना के विशेष लक्षण होते हैं। अतः आर्थिक संरचना का रूप सामाजिक–राजनीतिक संरचना और वैचारिक संरचना के रूप को भी निर्धारित करता है। इस प्रकार समाज के जीवन की समस्त प्रधान प्रघटनाओं में एक आधारभूत शैली होती है।

ञ. उद्विकास का विसंवादी लक्षण; समाज का आन्तरिक और बाह्य सन्तुलन

हमने ऊपर सामाजिक संतुलन की प्रघटनाओं की परीक्षा की है; लेकिन हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि हम चल या गतिमान सन्तुलन पर विचार कर रहे हैं, अर्थात्, यह सन्तुलन निरन्तर भंग होता है, परिवर्तित आधार पर पुनः प्रतिष्ठित होता है, तब पुनः भंग होता है। दूसरे शब्दों में, हम विसंवादों की एक प्रक्रिया पर विचार कर रहे हैं, एक स्थिर अवस्थिति पर नहीं; हम पूर्ण समंजन की दशा पर नहीं, बल्कि विरोधों के बीच संघर्ष पर या गति की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया पर विचार कर रहे हैं । समाज की संरचना, अर्थात् समाज के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बंधों पर विचार करने पर हम इस सम्बन्ध को इन विभिन्न अंगों के बीच पूर्ण सामंजस्य के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। प्रत्येक संरचना में आन्तरिक विसंवाद उत्पन्न हो जाते हैं; प्रत्येक सामाजिक वर्ग के अन्तर्गत ये विसंवाद अत्यधिक तीव्र होते हैं। इस संदर्भ में बुर्जुआ समाजशास्त्र के संस्थापक आगस्ट काम्टे द्वारा एक संप्रदाय की ही स्थापना की गई है, जो अत्यधिक रोचक है। काम्टे समस्त सामाजिक प्रघटनाओं के बीच सम्बंध स्वीकार करता है जिसमें इसकी 'व्यवस्था' व्यक्त होती है, लेकिन वह इस व्यवस्था के अन्तर्गत अपरिहार्य विनाश की ओर अग्रसर करने वाले विसंवादों की ओर अध्यान नहीं देता। इसके विपरीत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रतिपादकों के लिए यह पक्ष अनिवार्य रूप से आवश्यक है। जैसा हम देख चुके हैं कि विसंवाद किसी प्रणाली के अन्तर्गत ऐसा सूक्ष्म गतिशील तत्त्व हैं, जो सामाजिक उद्विकास या सामाजिक पतन की प्रक्रिया में जातों का विशेष रूपान्तरण करने की ओर उन्मुख रहता है।

हमने सामाजिक संरचना के विवेचन में यह देखा है कि इसके परिवर्तन समाज और प्रकृति के बीच के सम्बंध के परिवर्तन से विशेष घनिष्ठ रूप से सम्बंधित हैं। बाद वाले

सन्तुलन को हमने 'बाह्य संतुलन' की संज्ञा दी है तथा सामाजिक प्रघटनाओं की विभिन्न सारणियों के बीच के संतुलन को समाज का 'आंतरिक सन्तुलन' कहा है। यदि हम सम्पूर्ण समाज पर विसंवादी उद्विकास के दृष्टिकोण से विचार करें, तो हमें अनेक प्रश्नों का सामना करना पड़ता है : सबसे पहले प्रत्येक सामाजिक प्रघटना की सारणी के अन्तर्गत विसंवादों का अस्तित्व पाएँगे (उदाहरण के लिए, अर्थव्यवस्था में विभिन्न श्रमिक कार्यों के बीच विसंवाद; सामाजिक–राजनीतिक संरचना में विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच विसंवाद; वैचारिक वर्गों की वैचारिक प्रणालियों के बीच विसंवाद, आदि); हम बिना किसी कठिनाई के अर्थव्यवस्था और राजनीति के बीच विसंवादों को खोज लेंगे; इसी प्रकार अर्थव्यवस्था और वैचारिकी, मनोविज्ञान और वैचारिकी, विज्ञान और दर्शन आदि के बीच विसंवादों को खोजा जा सकता है। ये विसंवाद विभिन्न सामाजिक प्रघटनाओं की सारणियों के बीच हैं। दोनों तत्त्व आन्तरिक सन्तुलन के आवश्यक अंग हैं; लेकिन समाज और प्रकृति के बीच विसंवाद है तथा समाज और इसके पर्यावरण के बीच सन्तुलन का विघटन भी है, जो उत्पादक शक्तियों में अपनी अभिव्यक्ति पाता है। यह बाह्य सन्तुलन का क्षेत्र है। वस्तुतः विसंवाद की एक अन्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दशा यह है कि उत्पादक शक्तियों की गतिविधि तथा समाज की आर्थिक–सामाजिक संरचना के बीच विसंवाद होता है।

इस स्थिति में, समाज और प्रकृति के बीच का उपलब्ध सम्बंध समाज के अन्तर्गत विकसित सम्बंधों के साथ संघर्षरत हो जाता है। स्पष्ट है कि इस विसंवाद या इस संघर्ष को समाज के जीवन में महत्त्वपूर्ण योगदान करना चाहिए; क्योंकि यह वर्तमान व्यवस्था के उन आधारों से सम्बंधित है जिन पर प्रदत्त व्यवस्था आश्रित होती है।

यहाँ पर हमने सामाजिक विसंवादों से सम्बंधित केवल मुख्य प्रश्नों की रूपरेखा प्रस्तुत की है, किन्तु इनकी विशेष परीक्षा आगामी अध्याय में की जाएगी, जिसमें समाज की गत्यात्मकता, अर्थात गतिशील समाज, पर विचार किया जाएगा। यहाँ तक हमने मुख्यतः समाज की संरचना पर विचार किया है। जब हम एक सामाजिक संरचना से दूसरी सामाजिक संरचना में संक्रमित होने की स्थितियों पर विचार करेंगे। पुनः हम इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं कि सामाजिक संतुलन का नियम गत्यात्मक संतुलन का नियम है

जिसके अन्तर्गत प्रतिवादिता, विसंवाद, असंगतियाँ, संघर्ष सम्मिलित हैं, और यह बात विशेष महत्त्वपूर्ण है कि कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत यह सामाजिक संतुलन का नियम संकटों और क्रान्तियों से मुक्त नहीं रह सकता है, क्योंकि ये नितान्त अपरिहार्य हैं। हमारा मार्क्सवादी सिद्धान्त क्रान्तिकारी सिद्धान्त है।

7

सामाजिक सन्तुलन का विघटन और पुनर्समंजन

क. सामाजिक परिवर्तनों की प्रक्रिया और उत्पादक शक्तियाँ

सामाजिक परिवर्तनों की प्रक्रिया उत्पादक शक्तियों की दशा के परिवर्तनों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। उत्पादक शक्तियों का यह चलन (मूवमेण्ट) तथा इसमें सन्निहित समस्त सामाजिक तत्वों का चलन और पुनर्समूहीकरण और कुछ नहीं, केवल सामाजिक संतुलन के सतत् भंग होने या विघटित होने की एक प्रक्रिया है; इस विघटन के उपरान्त पुनः संतुलन की प्रतिष्ठा होती है। वास्तव में, उत्पादक शक्तियों के प्रगतिशील चलन में यह भाव निहित है कि सामाजिक प्रविधि और सामाजिक अर्थव्यवस्था में कोई विसंवाद उत्पन्न हो गया है, अर्थात् प्रणाली का संतुलन भंग हो गया है। उत्पादक शक्तियाँ एक निश्चित सीमा तक बढ़ चुकी हैं; व्यक्तियों का एक निश्चित पुनर्समूहीकरण होना चाहिए, नहीं तो प्रणाली में संतुलन नहीं होगा, अर्थात् प्रणाली अपने वर्तमान स्वरूप को स्थायी रूप से बनाए नहीं रख सकेगी। यह विसंवाद मनुष्यों के निम्नांकित पुनर्समूहीकरण से दूर किया जाता है : अर्थ–व्यवस्था स्वयं उत्पादक शक्तियों और सामाजिक प्रौद्योगिकी की दशा के अनुसार अपना अनुकूलन कर लेती है। लेकिन आर्थिक उपकरण में होने वाले व्यक्तियों के पुनर्समूहीकरण के अन्तर्गत समाज की सामाजिक, राजनीतिक संरचना में व्यक्तियों का पुनर्समूहीकरण भी निहित है। इसके अतिरिक्त यही दशा कानूनी, नैतिक तथा अन्य प्रकार के मानदण्डों में भी परिवर्तन की माँग करती है। इसका कारण यह है कि विसंवाद का समाधान केवल इसी रीति द्वारा हो सकता है, और किसी रीति से व्यक्तियों की प्रणाली तथा मानदण्डों की प्रणाली के बीच संतुलन की स्थापना नहीं हो सकती है। यही बात समाज के संपूर्ण मनोविज्ञान तथा वैचारिकी के सम्बन्ध में भी सत्य है। जी0वी0 प्लेखनोव ने इस तथ्य को बहुत सुन्दर रीति से व्यक्त किया है : ''सामाजिक शक्तियों के किसी संयोग के उद्भव, परिवर्तन तथा विनाश के प्रभाव के अन्तर्गत विचारों के संयोजन का उद्भव, परिवर्तन और विनाश बहुत अधिक सीमा तक वैचारिकी के इतिहास की व्याख्या करता है।'' नया संयोजन (अर्थात्, व्यक्तियों के बीच नया सम्बन्ध) पुराने संयोजन

(विचारों के पुराने संयोजन) के साथ संघर्षरत हो जाता है। इसका आशय आन्तरिक संतुलन का भंग होना है, जो एक नए आधार पर पुनः प्रतिष्ठित होता है, और विचारों के नए संयोजन का जन्म होता है।

अब हमारे सामने एक नई समस्या है, जो सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

सामाजिक संतुलन का पुनः स्थापन दो प्रकार से माना जा सकता है : (1) समस्त सामाजिकता में विभिन्न तत्त्वों का परस्पर क्रमिक अनुकूलन (उद्विकास) तथा (2) उग्र उथल–पुथल (क्रान्ति)। हमने इतिहास में देखा है कि क्रान्तियां भी कभी–कभी होती हैं। वे ऐतिहासिक तथ्य हैं। यह जानना पर्याप्त रोचक होगा कि किन परिस्थितियों के अंतर्गत समाज विभिन्न तत्त्वों का अनुकूलन करके उद्विकास द्वारा आगे बढ़ता है, और किन परिस्थितियों के अन्तर्गत क्रान्ति द्वारा।

इस प्रश्न पर विचार करने पर सामाजिक प्रवैगिकी से सम्बन्धित अनेक प्रश्न उठ खड़े होंगे। उदाहरण के लिए हम जानते हैं कि प्रत्येक समाज निरन्तर परिवर्तित हो रहा है; वह आन्तरिक पुनर्समूहीकरण अनुभव कर रहा है; उसके स्वरूप आदि में संशोधन हो रहे हैं। हम जानते हैं कि यह प्रक्रिया उत्पादक शक्तियों के उद्विकास से सम्बंधित है। लेकिन कभी–कभी हम समरूप सामाजिक–आर्थिक संरचना की सीमा के अंतर्गत परिवर्तन देखते हैं; और कभी–कभी समाज के एक प्रकार को दूसरे प्रकार में रूपांतरित होते, तथा उत्पादन की एक रीति के स्थान पर उत्पादन की दूसरी रीति को स्थानान्तरित होते देखते हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि एक कब प्रतिफलित होगा और दूसरा कब ?

सामाजिक उद्विकास की प्रक्रिया का सामान्य विवरण मार्क्स द्वारा इस प्रकार दिया गया है :

समाज में उत्पादन की भौतिक शक्तियाँ, अपने विकास की एक निश्चित अवस्था पर, उत्पादन के उन वर्तमान सम्बन्धों, अर्थात् कानूनी भाषा में, उन सम्पत्ति–सम्बन्धों के साथ संघर्ष की स्थिति में हो जाती है जिनके अन्तर्गत वे पहले से कार्य कर रही थीं। वे सम्बन्ध उत्पादन

की शक्तियों के विकास के स्वरूपों से उनकी जंजीरों में परिणत हो जाते हैं। तब सामाजिक क्रान्ति का अवसर आता है। आर्थिक आधार के परिवर्तन से सम्पूर्ण विशाल महत् संरचना न्यूनाधिक रूप में तीव्र गति से रूपान्तरित होती है। ऐसे रूपान्तर पर विचार करते समय, उत्पादन की आर्थिक दशाओं के भौतिक रूपान्तरण (जो प्राकृतिक विज्ञानों की सूक्ष्मता से निर्धारित हो सकता है) तथा कानूनी, राजनीतिक, धार्मिक, सौन्दर्यात्मक या दार्शनिक—संक्षेप में वैचारिक स्वरूपों (जिनके अन्तर्गत मनुष्य इस संघर्ष के प्रति चेतन हो जाते हैं और लड़कर इसे दूर करते हैं) के बीच सदा अन्तर करना चाहिए। जैसे कोई व्यक्ति अपने सम्बन्ध में जो कुछ सोचता है, उसी के आधार पर हम अपना अभिमत नहीं बनाते हैं, उसी प्रकार रूपान्तर के किसी काल को उसकी स्वयं की चेतना के आधार पर नहीं समझ सकते हैं; इसके विपरीत, इस चेतना की व्याख्या भौतिक जीवन के विसंवादों और उत्पादन की भौतिक शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धों के बीच वर्तमान संघर्ष द्वारा होनी चाहिए।

अतः मार्क्स की मान्यता यह है कि जब समाज की उत्पादक शक्तियों तथा समाज की आर्थिक संरचना के आधारों के बीच का संतुलन भंग होता है, तो क्रान्ति हस्तक्षेप के रूप में होती है; इस प्रकार संघर्ष का समाधान क्रान्ति द्वारा होता है; यह एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप में रूपान्तरण है। लेकिन जब तक आर्थिक संरचना उत्पादक शक्तियों को विकसित होने की अनुमति दे रही हैं, तब तक सामाजिक परिवर्तन क्रान्ति का रूप धारण नहीं करेंगे; हमें यहाँ क्रान्ति के स्थान पर उद्विकास मिलेगा।

इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक आगे विचार होगा, लेकिन यहां पर हम निम्नांकित तथ्य पर जोर देंगे : मार्क्स के अनुसार, क्रान्ति का कारण अर्थव्यवस्था और कानून के बीच होने वाले संघर्ष में नहीं खोजना चाहिए, जैसा कि मार्क्सवाद के अनेक आलोचक प्रतिपादित करते हैं, अपितु उत्पादक शक्तियों और अर्थव्यवस्था के बीच होने वाले संघर्ष में खोजना चाहिए, जो कि पूर्णतयः भिन्न बात है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे।

ख. उत्पादक शक्तियां और सामाजिक आर्थिक संरचना

हमने बताया है कि समाज के एक रूप का दूसरे रूप में उग्र संक्रमण, अर्थात् क्रान्ति का कारण, उत्पादक शक्तियों तथा उनके विकास, और समाज की आर्थिक संरचना अर्थात् उत्पादन–सम्बन्धों के बीच में होने वाले संघर्ष में खोजना चाहिए। हमारे मत के विरुद्ध यह आपत्ति प्रस्तुत की जा सकती है कि चूँकि उत्पादन–सम्बन्धों का उद्विकास उत्पादक शक्तियों की गतिविधि द्वारा निर्धारित होता है, इसलिए क्या उत्पादन–सम्बन्धों का सतत् परिवर्तन स्वयं ही उत्पादक शक्तियों तथा पुराने उत्पादन–सम्बन्धों के बीच संघर्ष का परिणाम नहीं है? पूँजीवादी समाज की उत्पादक शक्तियों के विकास का उदाहरण लें, तो हम पाएंगे कि इस विकास के कारण आर्थिक प्रक्रिया में व्यक्तियों का विस्तृत पुनर्समूहीकरण उत्पन्न हो गया है, पुराना मध्यवर्ग समाप्त हो गया है, शिल्पीवर्ग का लोप हो गया है, सर्वहारा वर्ग में वृद्धि हो गई है, तथा अनेक नए–नए उद्योग–व्यवसाय उत्पन्न और विकसित हो गए हैं। उत्पादन का मानवीय ढाँचा निरन्तर परिवर्तित हो रहा है। इसके अतिरिक्त, क्या एक प्रकार का पूँजीवाद दूसरे प्रकार के पूँजीवाद की ओर नहीं बढ़ता है ? उदाहरण के लिए, क्या बिना क्रान्ति के औद्योगिक पूँजीवाद का अनुसरण आर्थिक पूँजीवाद ने नहीं किया था ? फिर भी, ये समस्त परिवर्तन उत्पादक शक्तियों और उत्पादन–सम्बन्धों के बीच के संतुलन के सतत् विघटन (संघर्ष) की अभिव्यक्ति थे। चूँकि उत्पादक शक्तियाँ विकसित हो रही थीं, इसलिए वे शिल्पी दशाओं से टकराई। यह सन्तुलन का भंग होना था; शिल्पियों की अर्थव्यवस्था बढ़ती हुई प्रविधियों की टक्कर लेने में समर्थ नहीं थी। यह विघटित संतुलन नए आधार पर अनेक बार पुनः स्थापित हुआ; क्योंकि नई अर्थव्यवस्था भी नई प्रविधियों के साथ–साथ बढ़ी। अतः इसका यह स्वाभाविक निष्कर्ष है कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादन–सम्बन्धों के बीच का प्रत्येक संघर्ष क्रान्ति में ही प्रतिफलित नहीं होता है, अपितु यह इससे भी जटिल अवस्था है। यह जानने के लिए कि कौन–सा संघर्ष क्रान्ति को जन्म दे सकता है, हमें विभिन्न प्रकार के उत्पादन–सम्बन्धों का विश्लेषण करना चाहिए।

वास्तव में, उत्पादन–सम्बन्ध व्यक्तियों के बीच के वे समस्त प्रकार के सम्बन्ध हैं, जो सामाजिक आर्थिक जीवन की प्रक्रिया में उत्पन्न होते हैं, अर्थात् उस उत्पादन–प्रक्रिया में उत्पन्न

होने वाले सम्बन्ध हैं जिसके अनतर्गत उत्पादनों के साधनों के वितरण तथा उत्पादों के वितरण की प्रक्रिया भी सन्निहित है। वास्तव में, ये उत्पाद–सम्बन्ध अनेक प्रकार के हैं : पेरिस का एक दलाल न्यूयार्क के एक ट्रस्ट के शेयर खरीदता है, इस प्रकार वह इस ट्रस्ट के कारखानों के कर्मियों और स्वामियों, अधीक्षकों और इंजीनियरों के साथ एक निश्चित प्रकार का उत्पादन–सम्बन्ध स्थापित करता है। यदि एक महाजन कुछ मुनीमों को नौकर रखता है, तो वह उनके साथ एक निश्चित प्रकार का उत्पादन–सम्बंध स्थापित करता है। इसी प्रकार से विभिन्न क्षेत्रों में अनेक प्रकार के उत्पादन–सम्बन्ध देखे जा सकते हैं, जो एक दूसरे से भिन्न होते हैं। अतः हमारा कार्य इन सम्बन्धों के विभिन्न जातों के बीच भेद करना है, तथा यह निर्धारित करना है कि उत्पादन सम्बन्धों की वह कौन–सी जात है, जो संघर्ष को क्रान्ति की ओर अग्रसर करती है।

इस प्रश्न के उत्तर का ठोस वास्तविक आधार पाने के लिए हमें यह जानना चाहिए कि क्रान्तियाँ वास्तव में कैसे कार्यान्वित हुई हैं, अर्थात्, उन्होंने उत्पादक शक्तियों के उद्विकास और समाज के आर्थिक आधार के बीच के विसंवाद को किस प्रकार दूर किया है। निस्सन्देह, यह संघर्ष सदा मनुष्यों द्वारा उत्तेजित किया गया है और वर्ग–संघर्ष को अधिक उग्र बनाया गया है। सफल क्रान्तियों का परिणाम क्या हुआ है ? पहला परिणाम भिन्न राजनीतिक सत्ता की प्रतिष्ठा; और दूसरा, उत्पादन की प्रक्रिया में वर्गों का भिन्न स्थान, तथा उत्पादन के उपकरणों का भिन्न प्रकार से वितरण, जो प्रत्यक्ष रूप से वर्गों की अवस्थिति से सम्बन्धित है। दूसरे शब्दों में, क्रान्ति के समय संघर्ष को उत्पादन के अधिकांश महत्त्वपूर्ण उपकरणों को नियंत्रित करने के लिए उत्तेजित किया जाता है। ये उत्पादन के उपकरण किसी वर्गीय समाज में उस वर्ग के हाथ में होते हैं, जो अपने शासन को वस्तुओं पर केन्द्रित करता है तथा वस्तुओं पर नियंत्रण करके राज्य–संगठन की अतिरिक्त सत्ता के द्वारा व्यक्तियों पर शासन करता है। इससे हम उन उत्पादन–सम्बन्धों की अपनी खोज के निर्णायक केन्द्र बिन्दु की ओर अग्रसर हो जाते हैं जिनको अपने विनाश के लिए क्रान्ति की आवश्यकता होती है जिससे समाज अपनी उत्पादक शक्तियों को विकसित करता रह सके। मार्क्स ''कैपिटल'' के तीसरे भाग में समाज के स्वरूप की समस्या पर अपना स्पष्ट मत देता है तथा उत्पादक सम्बन्धों की संपूर्ण प्रघटना के

आधारभूत विशिष्ट तत्त्व की ओर संकेत करता है : ''वह विशिष्ट आर्थिक स्वरूप, जिसमें ऐसा अतिरिक्त श्रम जिसका मूल्य नहीं दिया गया है प्रत्यक्ष उत्पादकों से निकाल दिया जाता है, शासक और शासित के सम्बन्ध निर्धारित करता है, क्योंकि यह स्वयं उत्पादन से ही प्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न होता है तथा इस पर निर्णायक के रूप में प्रतिक्रिया करता है। इसी पर उस आर्थिक समुदाय की सम्पूर्ण रचना आधारित है, जो स्वयं उत्पादन की दशाओं से उत्पन्न होता है और ये ही इसके विशिष्ट राजनीतिक स्वरूप का निर्धारण करती हैं। उत्पादन की दशाओं के स्वामियों तथा प्रत्यक्ष उत्पादकों के बीच का प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही सम्पूर्ण सामाजिक रचना के अधिक–से–अधिक आन्तरिक रहस्य तथा प्रच्छन्न अधार का उद्‌घाटन करता है, और इसके साथ–साथ यह प्रभुसत्ता और आश्रितता के बीच के सम्बन्धों के राजनीतिक स्वरूप, अर्थात्, राज्य के स्वरूप के आधार और आन्तरिक भेद को भी उद्‌घाटित करता है।'' अतः इस सम्बन्ध में निष्कर्ष यह है : विभिन्न प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों में से एक प्रकार के ऐसे सम्बन्ध सर्वोपरि होते हैं, अर्थात् कुछ वर्गों के हाथों में उत्पादन के मुख्य साधन होते हैं, तथा कुछ वर्गों के हाथों में उत्पादन के गौण साधन होते हैं या बिल्कुल साधन नहीं होते हैं – इन दो प्रकार के वर्गों के बीच के सम्बन्धों को व्यक्त करने वाले उत्पादन–सम्बन्ध का रूप या प्रकार ही मुख्य होता है। जिस वर्ग का अर्थव्यवस्था पर प्रभुत्व होगा, उसी वर्ग का राजनीति में भी आधिपत्य होगा और वही वर्ग उन उत्पादन–सम्बन्धों के विशेष रूपों का राजनीतिक दृष्टि से संरक्षण करेगा, जो इस वर्ग की शोषण की प्रक्रिया को संरक्षण और सुविधाएँ प्रदान करेंगे। रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी के नर्वे अधिवेशन के एक प्रस्ताव के अनुसार, ''राजनीति अर्थव्यवस्था की सकेन्द्रित अभिव्यक्ति है।''

हमने देखा है कि यहाँ समस्त उत्पादन–सम्बन्धों से कोई काम नहीं है, बल्कि केवल ऐसे आर्थिक प्रभुत्व से काम है जो वस्तुओं तथा उत्पादन के उपकरणों के एक विशिष्ट सम्बन्ध पर आधारित है। न्यायशास्त्रियों की भाषा में यहाँ हमें आधारभूत संपत्ति–सम्बन्धों तथा उत्पादन के उपकरणों में वर्गीय संपत्ति के सम्बन्धों से काम है। ये सम्पत्ति–सम्बन्ध आधारभूत उत्पादन–सम्बन्धों के अनुरूप हैं; वे एक ही चीज को दूसरे प्रकार से कहने की एक रीतिमात्र

हैं। ये सम्बन्ध विशिष्ट वर्ग के राजनीतिक प्रभुत्व से भी सम्बन्धित हैं; वे इस प्रभुत्व के द्वारा संरक्षित, सुदृढ़ और विस्तृत होते हैं।

इसी ढाँचे के अन्तर्गत ''उद्विकासीय प्रकृति'' के समस्त सम्भव रूप घटित हो सकते हैं; लेकिन इस ढाँचे के बाहर केवल क्रान्तिकारी उथल–पुथल की सहायता से ही जाया जा सकता है। उदाहरण के लिए पूँजीवादी संपत्ति–सम्बन्धों की सीमा के अन्तर्गत शिल्पी व्यवसाय नष्ट हो सकता है; पूँजीवादी ढंग के नए–नए धंधे जन्म ले सकते हैं; अभूतपूर्व पूँजीवादी संगठन उत्पन्न हो सकते हैं; बुर्जुआ–वर्ग के व्यक्तिगत सदस्यों का दिवाला निकल सकता है; कर्मी–वर्ग के व्यक्तिगत सदस्य छोटे या बड़े उद्योगों के स्वामी हो सकते हैं; नए सामाजिक स्तर (जैसे तथाकथित नया मध्यवर्ग या प्राविधिक मानसिक कर्मी) उत्पन्न हो सकते हैं, लेकिन कर्मी–वर्ग उत्पादन के साधनों का स्वामी नहीं हो सकता और न इसके प्रतिनिधि उत्पादन पर नियंत्रण प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, उत्पादक शक्तियों की वृद्धि के प्रभाव के अन्तर्गत उत्पादन–सम्बन्ध कितने ही बदलें, लेकिन उनका आधारभूत लक्षण वैसा ही बना रहता है। यदि यह आधारभूत लक्षण उत्पादक शक्तियों के साथ संघर्ष करे, तो यह टूट जायेगा। यह क्रान्ति ही है जो समाज के एक स्वरूप को दूसरे स्वरूप में रूपांतरित करने में समर्थ होती है।

जिस सीमा तक श्रम–प्रक्रिया मनुष्य और प्रकृति के बीच की सरल प्रक्रिया है, वहाँ तक विकास के समस्त सामाजिक स्वरूपों में इसके सरल तत्त्व वही बने रहते हैं; लेकिन इस प्रक्रिया का प्रत्येक निश्चित ऐतिहासिक स्वरूप, इसके भौतिक आधार और सामाजिक स्वरूप अधिकाधिक विकसित होते हैं। जब एक निश्चित परिपक्वता प्राप्त हो जाती है, तो एक निश्चित सामाजिक स्वरूप का परित्याग कर दिया जाता है, और उसके स्थान पर एक उच्चतर सामाजिक स्वरूप आ जाता है। इस प्रकार के संकट के आगमन का समय उन विसंवादों और विरोधों की गहराई और चौड़ाई के द्वारा सूचित होता है, जो वितरण की दशाओं तथा तत्सम्बन्धित उत्पादन की दशाओं के निश्चित ऐतिहासिक स्वरूप को उत्पादक शक्तियों, उत्पादन–क्षमता तथा उनके विकास के साधनों से पृथक् करते हैं। तब उत्पादन के भौतिक उद्विकास और सामाजिक स्वरूप के बीच संघर्ष उत्पन्न होता है।

अतः क्रान्ति उस समय होती है, जब उन बढ़ी हुई उत्पादक शक्तियों के बीच स्पष्ट संघर्ष होता है, जिन्हें उत्पादन सम्बन्धों के लिफाफे के अन्दर और अधिक बन्द नहीं रखा जा सकता, तथा जो इन उत्पादन–सम्बन्धों का आधारभूत ढाँचा होती है। तब इस लिफाफे की धज्जियाँ उड़ जाती हैं।

यह देखना सरल है कि ऐसा क्यों होना चाहिए, ये उत्पादन सम्बन्ध क्यों अत्यधिक अपरिवर्तनशील तथा रूढ़िवादी स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं? उत्तर अत्यन्त सरल है ि कवे किसी एक वर्ग के आर्थिक एकाधिपत्य की अभिव्यक्ति हैं जो राजनीतिक प्रभुत्व को भी पुष्ट और व्यक्त करते हैं। वास्तव में, यह स्वाभाविक है कि ऐसा लिफाफा वर्ग के आधारभूत हितों को व्यक्त करेगा, इसलिए यह वर्ग इससे चिपके रहने का पूरा प्रयत्न करेगा लेकिन इस लिफाफे के अन्दर ऐसे परिवर्तन होते रहते हैं जो वर्तमान समाज के आधारों को विचलित नहीं करते। अन्य बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि विशुद्ध राजनीतिक क्रान्ति कोई नहीं है, बल्कि प्रत्येक क्रान्ति सामाजिक क्रान्ति है और प्रत्येक सामाजिक क्रान्ति राजनीतिक क्रान्ति है। इसका कारण यह है कि उत्पादन–सम्बन्धों को इन राजनीतिक सम्बन्धों को छिन्न–भिन्न किए बिना परिवर्तित नहीं किया जा सकता; दूसरी ओर यदि राजनीतिक सत्ता भग्न होती है, तो इसका आशय इस वर्ग की अर्थ–व्यवस्था के प्रभुत्व का भी भग्न होना है, क्योंकि राजनीति अर्थ–व्यवस्था की संचित अभिव्यक्ति है। कुछ व्यक्तियों का विचार है कि फ्रांसीसी क्रान्ति और रूसी क्रान्ति में इस दृष्टि से अन्तर है कि फ्रांसीसी क्रान्ति राजनीतिक थी और रूसी क्रान्ति सामाजिक थी। कारण यह है कि फ्रांसीसी क्रान्ति की तुलना में बोलशेविक क्रान्ति में राजनीति और राजनीतिक परिवर्तनों का बहुत अधिक योगदान नहीं रहा, जबकि उसमें (रूसी क्रान्ति में) उत्पादन सम्बन्धों में अपेक्षाकृत बहुत अधिक परिवर्तन हुए थे। यह ''आवृत्ति'' केवल हमारे उस कथन की पुष्टि है जो हमने ऊपर प्रस्तुत किया है। आइए हम इस प्रश्न के राजनीतिक पक्ष पर विचार करें। हम सब जानते हैं कि फ्रांसीसी क्रान्ति के समय सत्ता एक प्रकार के स्वामियों से दूसरे प्रकार के स्वामियों के हाथ चली गई थी। बुर्जुआ लोगों ने सामन्ती व्यापारिक राज्य का विनाश कर दिया और बुर्जुआ राज्य का संगठन किया। दूसरी ओर, रूस में समस्त

स्वामियों के संगठन का उन्मूलन हो गया। उत्पादन–सम्बन्धों के आमूल परिवर्तन के साथ–साथ राजनीतिक उथल–पुथल भी अधिक गहराई से हुई।

अतः क्रान्तियों का कारण शासक–वर्ग के राजनीतिक संगठन में घनीभूत उत्पादक शक्तियों और उत्पादन–सम्बन्धों के बीच का संघर्ष है। ये उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के उद्विकास में ऐसे प्रबल अवरोधक हैं कि यदि समाज को विकसित होते रहना है, तो इनको तोड़ना अवश्य चाहिए। यदि इनको क्षत–विक्षत नहीं किया जा सकता, तो वे उत्पादक शक्तियों के विकास को अवरुद्ध कर देंगे, और सम्पूर्ण समाज में गत्यावरोध या अवगति की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी, अर्थात् समाज पतन के काल में प्रविष्ट हो जाएगा।

ऐसी क्रान्तिकारी उथल–पुथल, जिसमें वर्गीय समाज का एक स्वरूप दूसरे स्वरूप में रूपांतरित हो रहा हो, उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच एक संघर्ष है; लेकिन उत्पादन शक्तियों तथा सम्पत्ति सम्बन्धों के बीच का यह विसंवाद किसी समाज में आकस्मिक रूप से नहीं उत्पन्न होता है, अपितु क्रान्ति के होने के पूर्व बहुत पहले दृष्टिगोचर होने लगता है, और एक दीर्घ अवधि में यह विसंवाद उन उत्पादन–सम्बन्धों को नष्ट कर देता है जो उत्पादक शक्तियों के भावी उद्विकास में बाधा प्रस्तुत करते हैं। यह ''क्वथनांक बिन्दु'' उस समय पहुँचता है, जब वे नए उत्पादन–सम्बन्ध पहले से ही परिपक्व अवस्था में पहुँच चुके होते हैं जो पुराने उत्पादन–सम्बन्धों में प्रच्छन्न रूप से निहित रहते हैं।

आइए, एक ऐसा उदाहरण लें जिसमें नए सम्बन्ध पुराने उत्पादन सम्बन्धों के गर्भ में छिपे होते हैं। पूँजीवादी संरचना में पूँजीवादी समाज में उत्पादन–सम्बन्धों की समग्रता अन्तर्निहित है, जिसका आधारभूत लक्षण कर्मियों और पूँजीपतियों के बीच के सम्बन्धों की समग्रता है अर्थात् ऐसे सम्बन्ध जो वस्तुओं (पूँजी) के द्वारा व्यक्त किए जा सकते हैं। अतः समाज की पूँजीवादी संरचना का निर्धारण मुख्यतः व्यक्तिगत पूँजीपतियों के बीच के सम्बन्धों तथा व्यक्तिगत कर्मियों के बीच के सम्बन्धों के संयोजन के द्वारा होता है। समाज की पूँजीवादी संरचना किसी भी दशा में पूँजीवादी वर्ग के सम्बन्धों में पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं होती है और न इसके सार को कर्मियों के पारस्परिक सम्बन्धों में प्राप्त किया जा सकता है। इस

सार में पूँजीवादी उत्पादन–सम्बन्धों के दोनों स्वरूपों का संयोजन निहित है, अर्थात् इन दो आधारभूत वर्गों को एक दूसरे से सम्बन्धित और आबद्ध करने वाला सूत्र अन्तर्निहित है। नीचे इस रीति को प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसके द्वारा उत्पादन की किसी पुरानी विधि के अन्तर्गत उत्पादन की नई विधि परिपक्व या प्रौढ़ होती है।

पूँजीवादी उत्पादन–सम्बन्धों के अन्तर्गत (वर्गीय संयोजन के अन्तर्गत) इन उत्पादन–सम्बन्धों का एक अंग समाज की नई समाजवादी व्यवस्था के आधार का निर्माण करता है। हमने पहले ही देखा है कि मार्क्स समाजवादी व्यवस्था के दो आधार स्वीकार करता है– प्रथम, उत्पादन के (उत्पादक शक्तियाँ) केन्द्रीकृत साधन; द्वितीय, सामाजीकृत श्रम, अर्थात् सर्वहारा–वर्ग के अन्तर्गत उत्पादन–सम्बन्धों की अधिकेन्द्रितता (समस्त कर्मियों के बीच उत्पादन सम्बन्ध सूत्र)। इसी सहकारी उत्पादन सम्बन्ध पर, जो सामान्य रूप से पूँजीवादी उत्पादन–सम्बन्धों के गर्भ में प्रौढ़ हुआ करता है, भविष्य का मन्दिर आधारित होगा।

हमें दूसरे पक्ष को भी स्पष्ट कर लेना चाहिए। हमने देखा है कि क्रान्ति का कारण उत्पादक शक्तियों और प्राथमिक उत्पादन–सम्बन्धों (संपत्ति सम्बन्धों) के बीच संघर्ष है। अब यह आधारभूत विसंवाद उत्पादन के विसंवाद, विशेषरूप से पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के एक पक्ष तथा दूसरे पक्ष के बीच विसंवाद, में व्यक्त होता है। यह स्पष्ट है कि सामाजिक केन्द्रीकृत श्रम, जो सर्वहारा वर्ग में सन्निहित है, पूँजीपतियों के आर्थिक आधिपत्य के साथ कम से कम सामंजस्य स्थापित कर पाता है। यह ''सामाजीकृत श्रम'' सुनियोजित अर्थ–व्यवस्था की मांग करता है तथा वर्गों के बीच अराजकता को सहन नहीं करता है। यह समाज की संगठित प्रकृति की एक अभिव्यक्ति है जिसे पूँजीवादी समाज में पूर्णरूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता है और विशेष रूप से सामाजिक क्षेत्र में तो इसकी उपलब्धि हो ही नहीं सकती। इसका कारण यह है कि वर्गीय समाज विसंवादी है, अर्थात् असंगठित समाज है। स्पष्ट है कि पूँजीपति अपने वर्गीय शासन का न परित्याग करेंगे और न कर सकते हैं। अतः सुनियोजित संगठन की सम्भावना को प्राप्त करने के लिए पूँजीपतियों के शासन का निरसन या उन्मूलन आवश्यक है। अतः हम सर्वहारा–वर्ग और बुर्जुआ–वर्ग में सन्निहित उत्पादन–सम्बन्धों के बीच संघर्ष चाहते हैं।

अब हम निम्नांकित तथ्य को भली प्रकार समझने की स्थिति में हैं। चूँकि इतिहास–निर्माता मनुष्य है, इसलिए उत्पादन शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच का संघर्ष किसी ऐसे आक्रमण में अपनी अभिव्यक्ति नहीं पाएगा, जो निर्जीव वस्तुओं या यंत्रों द्वारा मनुष्यों पर किया गया हो। स्पष्ट है कि उत्पादन शक्तियों का उद्विकास मनुष्यों को पूर्णतया विरोधी अवस्थितियों में ला खड़ा करता है, तथा उत्पादन शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच का संघर्ष मनुष्यों के बीच के तथा वर्गों के बीच के संघर्ष में अपनी अभिव्यक्ति पाता है। इसका कारण यह है कि सर्वहारा–वर्ग के कर्मियों के बीच के सहकारी सम्बन्ध जीवन्त मनुष्यों में अपनी अभिव्यक्ति पाते हैं। इसी प्रकार पूँजीवादी–वर्ग में पूँजीवादी उत्पादन–सम्बन्ध का प्रभुत्वपूर्ण और संकुचित आधार भी अपनी अभिव्यक्ति जीवन्त मनुष्यों में पाता है। यह समस्त संघर्ष वर्गों के बीच के एक तीव्र संघर्ष का रूप ग्रहण कर लेता है; तथा वर्गों के बीच क्रान्तिकारी संघर्ष में परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दों में, पूँजीवादी–वर्ग के विरुद्ध सर्वहारा–वर्ग का क्रान्तिकारी संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है।

ग. क्रान्ति तथा इसके विभिन्न पक्ष

हमने देखा है कि क्रान्ति का प्रारम्भबिन्दु उत्पादक शक्तियों और उत्पादन–सम्बन्धों के बीच का संघर्ष है जो वर्ग को इस प्रकार स्थित करता है कि वह उत्पादन की नई रीति के वाहक के रूप में कार्य करता है तथा इसकी चेतना और इसकी इच्छा को एक विशिष्ट दिशा में निर्धारित करता है। अतः क्रान्ति के लिए आवश्यक दशा नए वर्ग की चेतना में क्रान्ति उत्पन्न करना है तथा वर्ग में वैचारिक क्रान्ति को जन्म देना है, जिससे प्राचीन समाज का अन्त हो सके।

इस क्रान्ति का एक भौतिक आधार है – इसको स्वीकार करने के लिए, हमें इस विषय पर और अधिक विचार करना वांछनीय है। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि हम नए वर्ग की चेतना के पूर्ण परिवर्तन, अर्थात् क्रान्तिकारी प्रक्रिया, पर विचार क्यों कर रहे हैं।

जैसा हम कई बार बता चुके हैं, समाज की प्रत्येक व्यवस्था केवल आर्थिक आधार पर आश्रित नहीं है, क्योंकि वस्तुओं की किसी प्रदत्त व्यवस्था के अन्तर्गत प्रचलित समस्त वैचारिकियां वर्तमान व्यवस्था को बनाए रखने में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं।

ये वैचारिकियाँ खिलवाड़ नहीं हैं, बल्कि ये अनेक रूपों में समग्र सामाजिक निकाय के सन्तुलन को बनाए रखने में आधार–स्तंभ का कार्य करती हैं। यह स्पष्ट है कि यदि शोषित वर्गों का मनोविज्ञान और वैचारिकी वर्तमान व्यवस्था के पूर्ण विरोध में उठ खड़े हों, तो इस व्यवस्था का बना रहना संभव नहीं है। समाज के किसी भी स्वरूप को देखने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि इसका अस्तित्व वर्ग–समन्वय की वैचारिकी और मनोविज्ञान के द्वारा ही संभव बना हुआ है। इस कथन का स्पष्टीकरण प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने के समय के पूँजीवाद पर विचार करने से हो सकता है। उस समय कर्मी वर्ग ने अपनी एक वैचारिकी का विकास कर लिया था जो बुर्जुआ वर्ग की वैचारिकी से स्वतंत्र थी। कर्मी वर्ग का पूँजीवादी विश्व व्यवस्था के स्थायित्व में अधिक दृढ़ विश्वास नहीं रहा था। वास्तव में वर्ग समन्वय की प्रवृत्ति की बहुत बड़ी शक्ति थी। कोई भी वर्ग किसी दूसरे वर्ग के विरुद्ध उस समय तक वास्तविक रूप में नहीं खड़ा हो सकता है, जब तक उस वर्ग में मनोवैज्ञानिक और वैचारिक क्रान्ति नहीं हो गई है। यह मानसिक क्रान्ति उस समय होती है, जब श्रमिक वर्ग असह्य स्थिति में पहुँच जाता है तथा स्पष्ट रूप में यह अनुभव करने लगता है कि वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत कोई सुधार नहीं हो सकता है। एक वर्ग को पूर्ण अनुभूति उस समय होती है जब उत्पादक शक्तियों की वृद्धि और उत्पादन सम्बन्धों के बीच संघर्ष ने सामाजिक संतुलन को भंग कर दिया हो तथा ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी हो कि पुराने आधार पर इस संतुलन को लाना संभव न रहा हो। यदि हम सर्वहारा क्रान्ति पर दृष्टिगत करें, तो हम पाएँगे कि कर्मी वर्ग ने पहले ही ऐसा मनोविज्ञान और ऐसी वैचारिकी विकसित कर ली थी जो मानवता के पूँजीवादी उद्विकास के काल में न्यूनाधिक रूप में वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध थे। मार्क्सवाद ने इस वैचारिकी को अत्यधिक स्पष्ट और गंभीर रूप में व्यक्त किया है, लेकिन पूँजीवाद के आज भी विकसित होते रहने का कारण यह है कि पूँजीपति उपनिवेशों का निर्ममता पूर्वक शोषण करते हैं तथा अपने देश के श्रमिकों को अधिक वेतन देते हैं जिससे श्रमिकों या कर्मियों में पूँजीवाद के विरुद्ध

अत्यधिक उग्र वास्तविक चेतना का उद्भव नहीं होता है। वास्तव में योरुप और अमेरिका के कर्मी वर्ग पूँजीवादी राष्ट्रीय राज्य के साथ एक प्रकार के समान हित को अनुभव करते थे, इसके साथ–साथ सन् 1848 की क्रान्ति में उत्पन्न मार्क्सीय मार्क्सवाद के स्थान पर श्रमिक दलों में एक द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्सवाद की प्रतिष्ठत किया गया जिसने मार्क्सीय सिद्धान्त को विकृत किया, फलस्वरूप सन् 1914 में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियों ने धोखा दिया, तथा कर्मी वर्ग में देशभक्ति सम्बन्धी प्रवृत्तियां अधिक दृढ़ हुई। पूँजीवादी विकास के विसंवाद की अभिव्यक्ति केवल युद्ध है और इसके परिणाम यह स्पष्ट करने लगे कि सब कुछ इसी प्रकार नहीं चल सकता है। वर्ग समन्वय के मनोविज्ञान और वैचारिकी का स्थान क्रमशः गृह–युद्ध के मनोविज्ञान और वैचारिकी लेने लगे, और विशुद्ध वैचारिक क्षेत्र में द्वितीय अन्तरराष्ट्रीय मार्क्सवाद के स्थान पर सच्चा मार्क्सवाद स्थान ग्रहण करने लगा (अर्थात् इसका समुचित नाम है वैज्ञानिक साम्यवाद)।

अतः मानसिक क्रान्ति में पुराने मनोविज्ञान और वैचारिकी का अन्त होना है तथा नए सच्चे क्रान्तिकारी मनोविज्ञान तथा नई सच्ची क्रान्तिकारी वैचारिकी का जन्म होना है।

क्रान्ति का दूसरा दौर राजनीतिक क्रान्ति है। इसमें नया वर्ग राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करता है। नए वर्ग का क्रान्तिकारी मनोविज्ञान कार्यवाही बन जाता है। दमित वर्ग सत्तारूढ़ वर्ग की संचित सत्ता में टक्कर मारता है और उसके राज्य के उपकरण को विघटित करता है जिससे वह सर्वहारा वर्ग के मार्ग में अवरोध न उत्पन्न कर सके। किसी सीमा तक पूँजीवाद राज्य के संगठन को नष्ट कर दिया जाता है तथा मानसिक रूप से पुरानी प्रणाली के तत्त्वों तथा आंशिक रूप से नए तत्त्वों के द्वारा राज्य संगठन का पुनर्निर्माण होता है। यहाँ पर यह दृष्टव्य है कि नए वर्ग के द्वारा सत्ता हस्तगत करने का आशय केवल उसी राज्य संगठन को एक हाथ में हस्तांतरित करना मात्र नहीं है। इस सम्बन्ध में समाजवादी लोगों ने भी भूल की है। मार्क्स और एंजिल्स पुरानी सत्ता के विनाश और नई सत्ता के सृजन के सम्बन्ध में विशेष रूप से कहते हैं। वास्तव में अब तक राज्य–संगठन शासक–वर्ग की सत्ता की उच्च्तम अभिव्यक्ति है और यह दमित वर्ग के विरुद्ध युद्ध करने और आत्मरक्षा करने का मुख्य साधन है। ऐसी स्थिति में दमित वर्ग अपने दमन करने वालों के प्रतिरोध को बिना उनके

हथियार को नष्ट किए कैसे नष्ट कर सकता है ? कोई अर्थ–व्यवस्था इसकी शक्तियों को विघटित किए बगैर कैसे विघटित की जा सकती है ? यदि शासक वर्ग की शक्तियाँ अनाहत रह जाती हैं जो क्रान्ति विफल मानी जाएगी, और यदि क्रान्ति सफल होती है तो निश्चित ही शासक वर्ग की शक्तियाँ (मुख्य रूप से राज्य–संगठन) विघटित और नष्ट होती है। लेकिन राज्य सत्ता की भौतिक शक्ति सशस्त्र सेनाओं में सन्निहित होती है, इसलिए यदि राज्य शक्ति का विनाश होता है, तो उससे मुख्य रूप से सेना प्रभावित होती है। सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेजी क्रान्ति में सामंती राजाओं की राज्य–शक्ति का विनाश करने के लिए उनकी सेना को ही नष्ट किया गया था, प्यूटिनों की क्रान्तिकारी सेना का निर्माण किया गया था, तथा क्राम्बेल की तानाशाही की प्रतिष्ठा हुई थी। फ्राँसीसी क्रान्ति में भी शाही सेना को नष्ट किया गया था तथा उसके स्थान पर एक नए आधार पर दूसरी सेना को संगठित किया गया था। 1917 के प्रारंभ में रूसी क्रान्ति ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है। वहाँ भी सामन्ती भूस्वामियों और बुर्जुआओं के राज्यतंत्र को नष्ट किया गया था, उसकी शाही सेना को विघटित और नष्ट किया गया था तथा पूर्णतया नए प्रकार के राज्य और नई प्रकार की क्रान्तिकारी सेना को जन्म दिया गया था।

अतः क्रान्ति के राजनीतिक पक्ष में नए वर्ग द्वारा पुराने यंत्र को उसी रूप में स्वीकार करने का भाव नहीं निहित है, बल्कि नए वर्ग को पुराने यंत्र को नष्ट करना है और उसके स्थान में वस्तुओं और व्यक्तियों के नए संयोजन तथा तत्संबन्धित विचारों के नए संश्लेषण के द्वारा एक नए संगठन को खड़ा करना है।

क्रान्ति की तीसरी अवस्था आर्थिक क्रान्ति है। सत्तारूढ़ नया वर्ग अपनी शक्ति को आर्थिक परिवर्तनों लिए प्रयोग करता है। वह पुराने प्रकार के उत्पादन–सम्बन्धों को भंग करता है और उन नए सम्बन्धों की रचना प्रारंभ करता है जो पुरानी व्यवस्था के विरोध में पुरानी व्यवस्था के गर्भ में ही प्रौढ़ हो रहे थे। सर्वहारा क्रान्ति के संदर्भ में क्रान्ति के इस काल की व्याख्या मार्क्स इस प्रकार करता है : ''सर्वहारा–वर्ग राजनीतिक परमोच्चता का प्रयोग बुर्जुआ वर्ग की संपूर्ण पूँजी को क्रमशः हथियाने, राज्य के हाथों में उत्पादन के समस्त उपकरणों को केन्द्रित करने तथा उत्पादक शक्तियों को यथासंभव अधिक से अधिक बढ़ाने में करेगा। वास्तव

में, प्रारंभ में इस कार्य को संपत्ति के अधिकारों और बुर्जुआ उत्पादन की दशाओं पर निरंकुश नियंत्रण किए बिना प्रभावशाली रीति से संपन्न नहीं किया जा सकता है। इस स्थिति में इन साधनों का उपयोग होता है, तो वे आर्थिक दृष्टि से अपरिहार्य और अक्षम प्रतीत होते हैं, लेकिन आगे चलकर वे पुरानी सामाजिक व्यवस्था में अपना मार्ग प्रशस्त करने के लिए और उत्पादन की रीति में पूर्ण रूप से क्रान्ति उत्पन्न करने के साधन के रूप में अपरिहार्य हो जाते हैं।''

अब हम एक महत्त्वपूर्ण और आधारभूत प्रश्न पर विचार करेंगे कि यह रूपान्तरण या उत्पादन सम्बन्धों का पुनर्गठन वास्तविक रूप में कैसे होता है तथा इसे कैसे होना चाहिए?

इस प्रश्न पर पुराना सोशल डेमोक्रटिक दृष्टिकोण बहुत सरल था। सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा वर्ग शासन करने वाले प्रधानों को अपदस्य कर देता है। यह कार्य बहुत शालीनता के साथ होता है और इसके पश्चात् उत्पादन के सामाजिक उपकरणों पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया जाता है, जो पूँजीवादी व्यवस्था में बहुत सुन्दर रीति से विकसित और प्रौढ़ हुए हैं। सर्वहारा वर्ग अपने प्रधानों की नियुक्ति कर देता है और सम्पूर्ण काम संपन्न हो जाता है। उत्पादन अबाध रूप में चलता रहता है, उत्पादन की प्रक्रिया को कोई क्षति नहीं होती है तथा संपूर्ण समाज परिपूर्ण समाजवादी व्यवस्था की दशा में शांतिपूर्ण रीति से अग्रसर होने लगता है। लेकिन उत्पादन–सम्बन्धों के संदर्भ में क्रान्ति की सूक्ष्म परीक्षा करने से ज्ञात होता है कि श्रम–प्रक्रिया के दृष्टिकोण से देखे गए ये उत्पादन–सम्बन्ध समग्र मानवीय श्रम, यांत्रिकता, अन्तरसंबन्धित ऐसे व्यक्तियों की एक प्रणाली है जो एक विशिष्ट प्रकार के सूत्र से आबद्ध हैं, उससे वे न अधिक हैं न कम हैं। इसके अतिरिक्त वर्गीय समाज के अंतर्गत व्यक्तियों के विभिन्न समूहों के श्रम–कार्य एक दूसरे से संबन्धित हैं तथा वर्ग के कार्य से परस्पर आबद्ध हैं। अतः वर्ग–सम्बन्धों का विचलन या परिवर्तन पुराने श्रम–उपकरण को न्यूनाधिक रूप में नष्ट कर देता है और नई रचना के लिए प्रेरणा देता है। यह निश्चित है कि उत्पादन–शक्तियों में अस्थायी ह्रास अवश्य होगा; समाज के प्रत्येक परिवर्तन में जनता को कुछ असुविधाएँ होंगी। यह भी स्पष्ट है कि वर्ग–संबन्धों में जितना अधिक परिवर्तन होगा उतना ही अधिक उत्पादन

के पुराने उपकरणों को क्षति पहुंचेगी। बुर्जुआ क्रान्ति में उत्पादन से संबन्धित सत्ता एक प्रकार के स्वामियों के हाथ से दूसरे प्रकार के स्वामियों के हाथ में चली जाती है; संपत्ति का सिद्धांत बना रहता है; सर्वहारा वर्ग अपनी पूर्व स्थिति में रहता है। फलतः सर्वहारा क्रान्ति की तुलना में बुर्जुआ क्रान्ति में पुरानी संस्थाओं का विघटन और विनाश बहुत कम होता है। ऐसी स्थिति में अत्यधिक उग्र उथल–पुथल की आवश्यकता होती है। पुरानी व्यवस्था नष्ट करने में बुर्जुआ उच्च बौद्धिकवर्ग, मध्य बौद्धिक वर्ग और सर्वहारा वर्ग को क्षति पहुंचाती है अतः सर्वहारा वर्ग एकाकी हो जाता है; उसके विरोध में समाज के अन्य समस्त वर्ग उठ खड़े होते हैं। फलतः उत्पादन में एक अपरिहार्य अस्थायी विघटन उत्पन्न हो जाता है और यह विघटन उस समय तक चलता रहता है, जब तक सर्वहारा वर्ग व्यक्तियों की नई व्यवस्था स्थापित करने, उनको नए सूत्र में आबद्ध करने में सफल नहीं हो जाता है, अर्थात् जब तक समाज का नया संरचनात्मक संतुलन प्रभावकारी नहीं हो जाता।

क्रान्ति का चौथा और अंतिम दौर प्रौद्योगिक क्रान्ति है। एक नया सामाजिक संतुलन प्राप्त हो गया है; उत्पादन–संबन्धों के एक नए और स्थायी कवच की सृष्टि हो गई है, जो उत्पादक शक्तियों के उद्विकासीय स्वरूप के रूप में कार्य करने में समर्थ है, तो इन शक्तियों का द्रुत उद्विकास प्रारंभ होता है; अब विकास की समस्त बाधाएँ दूर हैं, क्रान्तिजनित क्षतियों की पूर्ति हो चुकी है, अतः एक अप्रतिम विकास प्रारंभ होता है। नए–नए उपकरणों का प्रचलन होता है, नए प्राविधिक संस्थानों को जन्म दिया जाता है तथा प्रविधि में एक नई क्रान्ति उत्पन्न होती है। अब नए सामाजिक स्वरूप के उद्विकास का स्वाभाविक और संश्लिष्ट काल प्रारंभ होता है जो अपने अनुरूप मनोविज्ञान और वैचारिकी की भी सृष्टि करता है।

अब हम उपर्युक्त विवेचन का संक्षेप में पुनरावलोकन करेंगे। क्रान्तिकारी विकास का आरंभ–बिन्दु उत्पादक शक्तियों और उत्पादन–संबन्धों के बीच संतुलन का भंग होना है, जैसा उत्पादन संबन्धों के विभिन्न अंगों के बीच देखा गया है। वर्गों के बीच के संतुलन का यह विघटन मुख्यतः सामंजस्य के विनाश में व्यक्त होता है। फिर राजनीतिक संतुलन आकस्मिक रूप से भंग होता है, जो एक नए आधार पर पुनः प्रतिष्ठित होता है, तब आर्थिक संरचनात्मक संतुलन आकस्मिक रूप से भंग होता है और यह भी नए आधार पर पुनः स्थापित होता है,

तत्पश्चात् एक नया प्राविधिक आधार खड़ा होता है। समाज नए आधार पर अपना जीवन प्रारंभ करता है; इसके जीवन के समस्त कार्य एक नया ऐतिहासिक रूप ग्रहण करते हैं।

घ. संक्रान्ति काल के कारण और प्रभाव; पतन काल के कारण और प्रभाव

क्रान्ति की प्रक्रिया, एक सामाजिक स्वरूप के दूसरे सामाजिक स्वरूप में रूपान्तरित होने की प्रक्रिया के समरूप है। हमारे क्रान्ति की प्रक्रिया के विवेचन ने हमें इस निष्कर्ष की ओर अग्रसर कर दिया है कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादक–संबन्धों के बीच के प्रारंभिक संघर्ष के पश्चात् यह प्रक्रिया अनेक दौरों से गुजरती है, यह वैचारिकी से प्रारंभ होती है और प्रविधि के दौर में समाप्त होती है। इस संदर्भ में सर्वहारा क्रान्ति के एक ठोस उदाहरण को लेकर परीक्षा करना अधिक उपयोगी होगा। हेनरिच कनाऊ मार्क्स के दो परिच्छेदों में विरोधाभास पाता है जिनमें से एक मार्क्स की ''दर्शन की दरिद्रता'' पुस्तक से लिया गया है और दूसरा ''साम्यवादी घोषणापत्र'' से। प्रथम परिच्छेद इस प्रकार है; ''उद्विकास की अवधि में कर्मी वर्ग बुर्जुआ समाज के स्थान पर एक समिति (एसोसिएशन) को रखेगा, जो वर्गों और उनके विलोमों को परित्याग करेगी, और वहाँ राजनीतिक सत्ता जैसी कोई चीज नहीं रहेगी, क्योंकि राजनीतिक सत्ता बुर्जुआ समाज के अन्तर्गत वर्ग–विद्वेष की अभिव्यक्ति है।'' दूसरा अनुच्छेद साम्यवादी घोषणा, पत्र से है जो घटनाओं के क्रम की इस प्रकार व्याख्या करता है; ''यदि बुर्जुआ वर्ग से संघर्ष करने में सर्वहारा वर्ग अपने को एक वर्ग के रूप में संगठित करने, अपने को क्रान्ति के द्वारा एक प्रभावशाली वर्ग के रूप में परिणत करने, उत्पादन संबन्धों को शक्ति के द्वारा उन्मूलित करने के लिए विवश होता है, तो इन उत्पादन–संबन्धों को नष्ट करने में यह वर्ग–विसंवादों के अस्तित्व की आधारभूत दशाओं को भी नष्ट करता है; इस प्रकार यह समस्त प्रकार के वर्गों को तथा स्वयं अपने वर्ग के शासन का उन्मूलन कर देता है।''

कनाऊ मार्क्स के उपर्युक्त दोनों अनुच्छेदों का उत्तर इस प्रकार देता है : ''यह साम्यवादी घोषणा–पत्र वाला अनुच्छेद समाजशास्त्रीय दृष्टि से ''दर्शन की दरिद्रता'' वाले वाक्य से बिल्कुल विपरीत है : ''दर्शन की दरिद्रता'' के अनुच्छेद में मार्क्स के अनुसार सामाजिक उद्विकास की क्रिया–विधि में पहले सामाजिक वर्गीय स्तरण का उन्मूलन हो, फिर

राजनैतिक विजय की जाए, क्योंकि ऐसा करके ही पुरानी राज्यसत्ता का विनाश होता है। लेकिन मार्क्स साम्यवादी घोषणा–पत्र में कहता है कि पहले राज्य–सत्ता पर अधिकार किया जाए, फिर पूँजीवादी उत्पादन–सम्बन्धों को नष्ट करने के लिए इस सत्ता का उपयोग किया जाए और जब पूँजीवादी उत्पादन–सम्बन्धों का विनाश हो जाएगा, तो फलस्वरूप वर्गीय विसंवादों और अन्ततः वर्गों का उन्मूलन हो जाएगा।'' अतः कनाऊ यह मत निर्धारित करता है कि मार्क्स ''दर्शन की दरिद्रता'' नामक पुस्तक में अपने को विद्वान् उद्विकासवादी के रूप में प्रस्तुत करता है, लेकिन ''साम्यवादी घोषणापत्र'' में वह अपने को हठी क्रान्तिकारी के रूप में व्यक्त करता है। यहाँ पर कनाऊ जान–बूझकर तथ्यों को तोड़–मरोड़ रहा है, क्योंकि वह जानता है कि ''दर्शन की दरिद्रता'' ''रक्तरंजित युद्ध'' को आवाह्न करती है। प्रथम अनुच्छेद में मार्क्स सत्ता पर विजय प्राप्त करने के बाद के काल की बात कर रहा है; यहाँ वह सर्वहारा वर्ग के सत्ता के अवसान की चर्चा कर रहा है, लेकिन वह राजनीतिक विजय पर विचार नहीं कर रहा है, बल्कि वह राजनैतिक सत्ता को एक विलुप्त होने वाली मात्रा मानता है। यही स्थिति ''साम्यवादी घोषणा पत्र'' में भी है। निस्संदेह, मार्क्स उत्पादन–संबन्धों के रूपांतरण को शक्ति के द्वारा सम्पन्न करने के लिए राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करना एक आवश्यक शर्त मानता है; अतः हम विपरीत क्रम में वस्तुओं पर विचार कर रहे हैं, हमारा विश्लेषण अर्थशास्त्र की राजनीति की ओर न बढ़कर के राजनीति के अर्थशास्त्र की ओर बढ़ता है। वास्तव में, चूँकि उत्पादन–सम्बन्ध राजनीतिक सत्ता द्वारा परिवर्तित किए जा रहे हैं, इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि अर्थ–व्यवस्था का निर्धारण नीति द्वारा होता है। कनाऊ जब यह कहता है कि हम यहाँ पर ऐसे मार्क्सवाद पर विचार कर रहे हैं जो तात्विक रूप में मार्क्स के समाजशास्त्र का खंडन करता है, तो उसका यह कथन पूर्णतया गलत है।

विचलन बिन्दु (प्वाइंट आफ डिपार्चर) की उस सम्पूर्ण प्रक्रिया पर भी ध्यान रखना महत्वपूर्ण है, जो उत्पादक शक्तियों के उद्विकास और सम्पत्ति–सम्बन्धों के बीच संघर्ष है। सम्पूर्ण सामाजिक रूपांतरण इसी प्रारम्भ पर आधारित है, और यह अपने कठोर कार्य को उस समय तक नहीं बन्द करता, जब तक समाज में नया संरचनात्मक संतुलन स्थापित नहीं हो जाता है। दूसरे शब्दों में : एक क्रान्ति उस समय प्रारम्भ होती है, जब संपत्ति–सम्बन्ध

उत्पादक शक्तियों के उद्विकास के मार्ग में वाचक बन जाते हैं; जैसे ही नए उत्पादन–सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं, क्रान्ति का अपना कार्य पूरा हो जाता है। इस प्रारम्भ और अन्त के बीच महत् संरचनाओं के प्रभाव में विपरीत क्रम होता है।

पिछले अध्याय में हमने देखा है कि महत् संरचना सामाजिक प्रक्रिया का एक निष्क्रिय अंग मात्र नहीं है : यह विशिष्ट शक्ति है, इसके विरुद्ध तर्क करना मूर्खता होगी, इसे कनाऊ भी स्वीकार करेगा। लेकिन यहीं पर हमारे पास प्रभाव की विपरीत प्रक्रिया का एक विस्तृत विश्लेषण है, जो संपूर्ण प्रक्रिया के संकटग्रस्त होने तथा समस्त सामान्य या प्रचलित कार्यों के भंग होने का परिणाम है। तथाकथित सामान्य समय में, यदि उत्पादक शक्तियों और अर्थ–व्यवस्था आदि के बीच कोई विसंवाद उत्पन्न होते हैं, तो वे तुरन्त दूर कर दिए जाते हैं या महत् संरचना द्वारा आत्मसात् कर लिए जाते हैं, तथा महत् संरचना इन्हें अर्थ–व्यवस्था और उत्पादक शक्तियों की ओर आगे बढ़ा देती है। इस स्थिति में, सामाजिक यांत्रिकता के विभिन्न उपविभागों का पारस्परिक अनुकूलन अत्यन्त मन्दगति से चलता है, तथा इसमें अत्यधिक कष्ट होता है और बहुत अधिक बलिदान करना पड़ता है। यहाँ स्वयं विसंवादों का अनुपात बहुत अधिक हो जाता है। अतः इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए, यदि महत् संरचना के विपरीत प्रभाव की प्रक्रिया (राजनीतिक वैचारिकी, सत्ता पर विजय, इस सत्ता का उत्पादन–सम्बन्धों के पुनर्निर्माण के लिए उपयोग) अति दीर्घकालीन हो, सम्पूर्ण ऐतिहासिक युग में चलती रहे। लेकिन संक्षेप में यह संक्रान्ति–काल की विशिष्टता है जिसे कनाऊ समझने में पूर्ण रूप से असफल है।

निम्नांकित तथ्य को भी समझ लेना चाहिए। प्रत्येक महत् संरचनात्मक शक्ति, जिसमें वर्गों की संचित सत्ता तथा इसकी राज्य–सत्ता भी सम्मिलित है, एक सत्य है; लेकिन यह शक्ति असीमित नहीं है। कोई भी शक्ति अपनी स्वयं की सीमाएँ निर्धारित नहीं कर सकती। जिस नए वर्ग ने सत्ता हस्तगत की है उसकी राजनीतिक शक्ति पर निर्धारित की गई सीमाएँ आर्थिक दशाओं की वर्तमान अवस्था में अन्तर्निहित होती है। दूसरे शब्दों में, आर्थिक दशाओं में जो परिवर्तन राजनीतिक साधन की सहायता से प्राप्त किया जा सकता है, वह स्वयं आर्थिक दशाओं की पूर्व अवस्था पर आधारित है। इस बात को रूसी सर्वहारा–क्रान्ति में बहुत अच्छी

तरह से देखा जा सकता है। नवम्बर, सन् 1917 में कर्मी–वर्ग ने सत्ता हस्तगत कर ली, लेकिन यह लघु बुर्जुआ अर्थव्यवस्था, विशेष रूप से कृषक अर्थव्यवस्था, के केन्द्रीकरण और समाजीकरण की बात न सोच सका। सन् 1921 में यह उद्‌घाटित हुआ कि रूसी अर्थव्यवस्था की जैसी कल्पना की गई थी उससे भी अधिक सशक्त थी, तथा सर्वहारा राज्य की शक्तियाँ वृहत् स्तरीय उद्योग के सामाजीकरण को बनाए रखने के लिए केवल पर्याप्त थीं। आइए, हम प्रश्न के दूसरे पक्ष पर विचार कर अर्थात् क्रान्ति की प्रक्रिया द्वारा प्रस्तुत उत्पादक शक्तियों के व्याघात की प्रकृति तथा उत्पादक शक्तियों के स्तर के अस्थायी ह्रास को समझने का प्रयत्न करें।

पूँजीवादी पण्य समाज जैसे असंगठित समाज सदा सीमातीत विकास करते हैं। हमें ज्ञात है कि पूँजीवाद युद्धों और औद्योगिक संकटों को जन्म देता है, और हम सब जानते हैं कि यह युद्ध और संकट पूँजीवादी समाज व्यवस्था के अति आवश्यक पक्ष हैं। दूसरे शब्दों में, पूँजीवाद का सत्‌त अस्तित्व संकटों और पूँजीवादी युद्धों को आवश्यक रूप से जन्म देता है; पूँजीवादी उद्विकास का यह ''प्राकृतिक नियम'' है। इस नियम का समाज की उत्पादक शक्तियों के दृष्टिकोण से क्या अर्थ है ? पहले, यह क्या है जो एक संकट–काल में होता है ? कारखानों का काम बन्द हो जाता है, बेकारी बढ़ जाती है, उत्पादन घट जाता है, अनेक छोटे व्यवसाय और उद्योग लुप्त हो जाते हैं; शब्दों में, उत्पादक शक्तियों का आंशिक रूप से विनाश हो जाता है। इसी प्रक्रिया के समानांतर पूँजीवाद के संगठित स्वरूपों की वृद्धि होती है; वृहत् स्तरीय उद्योग और व्यवसाय शक्तिशाली होते हैं, ट्रस्टों और एकाधिकारी शक्तिशाली संगठनों का निर्माण होता है। संकटों के पश्चात् विकास का एक नया चक्र चलता है, नए आधार पर एक नया विकास होता है, संगठन के उच्चतर स्वरूप बनते हैं जो उत्पादक शक्तियों के उद्विकास को अधिकतम अवसर प्रदान करते हैं। संकट तथा संकट–काल में उत्पादक शक्तियों के बर्बाद होने की कीमत पर सतत उद्विकास की संभावना को खरीदा जाता है। एक निश्चित सीमा तक पूँजीवादी युद्ध में भी यही स्थिति है। ये युद्ध पूँजीवादी प्रतियोगिता की अभिव्यक्ति हैं; ये उत्पादक शक्तियों के अस्थायी ह्रास में प्रतिफलित होते हैं। युद्धों के पश्चात् बुर्जुआ राज्यों ने अपनी सीमाओं का विस्तार किया; बड़ी शक्तियाँ और अधिक बड़ी हुईं, छोटे राज्य

हजम कर लिए गए; पूँजी का विश्वव्यापी विस्तार हुआ, उसे शोषण के अधिक बड़े क्षेत्र प्राप्त हुए, उन सीमाओं का प्रसार हुआ जिनमें उत्पादक शक्तियाँ विकास कर सकें, संचयन की द्रुत प्रक्रिया से एक अस्थायी ह्रास आया। अतः यह कहा जा सकता है कि इस दशा में भी, विस्तृत पुनरुत्पादन की संभावना को उत्पादक शक्तियों के अस्थायी ह्रास के मूल्य पर खरीदा गया था।

इसी नियम को उस व्यापक दृष्टिकोण से भी देख सकते हैं जिससे हम सामाजिक उद्विकास पर विचार करते हैं। क्रान्ति की महत्ता उत्पादक शक्तियों के विकास की बाधाओं को दूर करने में है। यह आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकता है कि बाधाओं को दूर करने में क्रान्ति उत्पादक शक्तियों के एक अंग का अस्थायी रूप से विनाश कर देती है। यह उसी तरह अपरिहार्य है जैसे पूँजीवाद के अन्तर्गत संकट अनिवार्य है।

अतः, समाज के एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप में रूपांतरित होने में उत्पादक शक्तियों का अस्थायी ह्रास संलग्न है, वे अपने आगामी विकास के लिए इस अस्थायी ह्रास के बिना किसी अन्य मार्ग से कोई अवसर नहीं पा सकती हैं। ह्रास का पतन का नियम संक्रमण–काल के नियम से भिन्न है। उन दोनों रूपों में मुख्य नियम यह है कि पहली दशा में संक्रमण उच्चतर आर्थिक स्वरूप की ओर अग्रसर नहीं करता है; इस दशा में, उत्पादक शक्तियों में ह्रास उस समय तक चलता रहेगा, जब तक इसे कोई उत्तेजना अथवा किसी निम्नतम आधार पर संतुलन नहीं प्राप्त हो जाता, जिससे या तो पुनरावृत्ति होती है अथवा स्थायी गत्यावरोध उत्पन्न होता है, न कि आर्थिक स्वरूप के उच्चतर स्वरूप की उपलब्धि होती है।

ह्रास या पतन के कारणों के विश्लेषण से ज्ञात होगा कि ये कारण वर्तमान संपत्ति–संबन्धों के भंग होने की असंभावना के परिणाम है; अतः वे उद्विकास के लिए श्रृंखला या अवरोध के रूप में बने रहते हैं तथा उत्पादक शक्तियों पर ऐसी प्रक्रिया करते हैं जिससे उत्पादक शक्तियों का सतत ह्रास होता रहता है। उदाहरण के लिए, यह स्थिति उस समय देखने को मिल सकती है, जब किसी क्रान्ति में परस्पर विरोधी वर्ग करीब–करीब समान शक्ति

के होते हैं, जिससे किसी भी वर्ग की विजय असंभव हो जाती है; समाज विनाश के गर्त में चला जाता है, उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच संघर्ष ने वर्गो की इच्छा को एक विशिष्ट रीति से निर्धारित किया है। लेकिन क्रान्ति अपनी प्रारंभिक अवस्थाओं से आगे नहीं बढ़ सकती है। वर्ग युद्ध देते हैं; कोई भी विजयी नहीं है, उत्पादन निष्क्रिय पड़ा है; समाज मृत हो जाता है। अथवा हम ऐसा उदाहरण ले सकते हैं जिसमें विजयी वर्ग अपने निर्धारित उत्तरदायित्व को संपन्न करने में अक्षम है, या क्रांति विस्फोटक बिन्दु तक पहुँचने के लिए परिपक्व नहीं हुई है; लेकिन उत्पादन शक्तियों का उद्विकास ऐसे पर्यावरण में आगे बढ़ता रहा है जिसमें इसने प्रत्येक विशिष्ट प्रकार के वर्गीय समझौते को निर्धारित कर लिया है, अर्थात् एक पूर्णतया परोपजीवी शासक–वर्ग तथा एक पूर्णतया भ्रष्ट दमित वर्ग उत्पन्न हो गया है। यहाँ पर कोई उद्विकास नहीं होगा; देर–सबेर एक सरल या रक्तहीन विघटन होगा। या हम एक मिश्रित प्रकार के उदाहरण को ले सकते हैं। इन सब उदाहरणों से ज्ञात होता है कि उत्पादक शक्तियों के उद्विकास ने एक ऐसी अर्थव्यवस्था तथा महत् संरचना के ऐसे स्वरूपों की ओर अग्रसर किया है कि जो उत्पादक शक्तियों के उद्विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं जिससे उत्पादक शक्तियों का ह्रास होता है। वास्तव में, जब उत्पादक शक्तियों का पतन होगा, तो सामाजिक जीवन के संपूर्ण स्तर का ह्रास होगा।

ङ. उत्पादक शक्तियों का उद्विकास तथा सामाजिक प्रघटना का भौतिकीकरण (सभ्यता का संचयन)

उत्पादन और पुनरुत्पादन की प्रक्रिया का विवेचन हमें एक सामान्य नियम प्रदान करेगा। नियम यह है : उत्पादक शक्तियाँ उतना ही अधिक बढ़ती है जितना श्रम उत्पादन के उपकरणों में लगाया जाता है। उत्पादन के इन सतत बढ़ते हुए उपकरणों की सहायता से पहले की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में समस्त प्रकार के उपयोगी उत्पादों का उत्पादन होगा। जब मनुष्य श्रम का उपयोग होता था, उस समय उत्पादन के उपकरणों के निर्माण में अपेक्षाकृत कम समय दिया जाता था। पहले मनुष्य अपरिष्कृत और निकृष्ट यंत्रों से काम करते थे, फलतः उनका काम अधिक उत्पादक नहीं था। लेकिन अब अत्यधिक विकसित समाज में

उत्पादन के उपकरणों के तैयार करने में मनुष्यों के श्रम का बहुत बड़ा अंश लगता है। बड़ी–बड़ी मशीनें, कारखाने, बिजली घर आदि के यंत्रों के निर्माण के लिए मानवीय शक्ति का बहुत बड़ा अंश व्यय होता है। लेकिन इन उत्पादन के विशाल उपकरणों के प्रयोग से श्रमिक थोड़े समय में बहुत अधिक उत्पादन करने में समर्थ हो जाते हैं, और इस प्रकार उत्पादन के यंत्रों के निर्माण में जो शक्ति, श्रम और धन लगाया जाता है, उससे अनेक गुना अधिक लाभ होने लगता है।

पूँजीवादी समाज में चल पूँजी की तुलना में स्थायी पूँजी की सापेक्ष वृद्धि में यह नियम व्यक्त होता है। मजदूरी में लगाई पूँजी की अपेक्षा कारखाने के यंत्रों आदि में लगाई गई पूँजी अधिक तेजी से बढ़ती है, दूसरे शब्दों में, पूँजीवादी समाज में उत्पादक शक्तियों के उद्विकास में अचल पूँजी चल पूँजी की अपेक्षा अधिक द्रुतगति से बढ़ती है। इसे हम दूसरे ढंग से यों कह सकते हैं कि समाज की उत्पादक शक्तियाँ जैसे–जैसे बढ़ती हैं, वैसे–वैसे वे निरन्तर पुनर्व्यवस्थित होती रहती हैं, फलतः इन शक्तियों का अधिकतर भाग उन शाखाओं में चला जाता है जो उत्पादन के उपकरणों को उत्पन्न करती हैं।

उत्पादन की वृद्धि (अर्थात् प्रकृति पर मनुष्य शक्ति का संचयन), वस्तुओं, श्रम और सामाजिक प्रविधि को अधिकाधिक महत्त्व प्रदान करने में अभिव्यक्त होती है।

यह ज्ञात कर लेना तर्कसंगत है कि क्या सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों द्वारा इसी प्रकार की प्रघटनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं; क्योंकि हमने देखा है कि महत् संरचनात्मक श्रम एक विशिष्ट प्रकार का श्रम है, जो भौतिक श्रम से पृथक् कर दिया गया है। हमने यह भी देखा है कि महत् संरचना की रूप–रेखा के अन्तर्गत भौतिक तथा वैयक्तिक दोनों प्रकार के तत्त्व अन्तर्निहित होते हैं, इसके अतिरिक्त इसमें वैचारिक तत्त्वों का भी समावेश होता है। यहाँ पर मानसिक संस्कृति का संचयन या समुच्चय कहाँ है ? क्या हमें उत्पादन की भौतिक क्रिया के सदृश कोई चीज मिलती है ?

आइए हम पहले से अनुमान लगाएँ : हाँ, ऐसी सदृशता है, जो इस तथ्य से व्यक्त होती है कि सामाजिक वैचारिकी उन वस्तुओं में घनीभूत है, जो पूर्णरूप से भौतिक हैं। यह बात

ध्यान में रखनी चाहिए कि आदिम युगों के तथाकथित ''स्मारकों'' से हम प्राचीन ''मानसिक संस्कृतियों'' के पुनरुत्पादन में समर्थ हुए; पुराने पुस्तकालयों, पुस्तकों, शिलालेखों, मिट्टी की वस्तुओं, मूर्तियों, चित्रों, मंदिरों, पुराने वाद्ययंत्रों तथा अन्य सहस्रों वस्तुओं के अवशेषों के द्वारा प्राचीन मानसिक संस्कृतियों का अनुमान लगा सके हैं। इसी रूप में हम इन वस्तुओं को सुदूर अतीत कालीन युगों की घनीभूत और संचित वैचारिकी के रूप में मान सकते हैं। इनके द्वारा हम इन वस्तुओं के समय की वैचारिकी और मनोविज्ञान का पता लगाने में उसी प्रकार समर्थ हो सकते हैं, जैसे हम औजारों और हथियारों के अवशेषों के द्वारा तत्कालीन अर्थव्यवस्था और उत्पादक शक्तियों के उद्विकास की अवस्था के सम्बन्ध में अनुमान लगा सकते हैं। इसके अतिरिक्त महत् संरचनात्मक कार्य के अन्तर्गत वैचारिक श्रम में, उपभोग के उपकरण कभी–कभी उत्पादन के उपकरण के रूप में भी काम करते हैं। एक चित्रगैलरी में मनोरंजन के उपकरण होते हैं; लेकिन जो जनता उसको देखने जाती है, उसके लिए वे उपकरण उपभोग की वस्तु हैं। लेकिन ये उत्पादन के उपकरण भी हैं, क्योंकि आगामी पीढ़ियाँ इनसे सीखती हैं। कला का एक नया संप्रदाय या चित्रकला की एक नई प्रवृत्ति आकाश से नहीं अवतरित होती है, बल्कि अपनी पूर्व अवस्था से ही उद्भूत होती है, भले ही यह पुरानी वैचारिक प्रणाली को निकृष्ट और निरर्थक घोषित करे। कुछ नहीं का निर्माण कुछ नहीं से होता है। जैसे जब राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्तिकालीन पुराने राज्य का विनाश हो जाता है, तो नए राज्य की नई व्यवस्था में अनेक पुराने तत्त्व निहित होते हैं, इसी प्रकार वैचारिक क्षेत्र में बड़े–से–बड़े व्याघात या निषेध के होने पर भी अतीत से एक निश्चित उत्तराधिकार और सम्बन्ध का अंत नहीं हो जाता है, अर्थात् नई वैचारिकी का निर्माण पुराने से संबन्धित होता है। चित्रकार के लिए पुराने चित्र उत्पादक के उपकरण हैं, संचित कलात्मक अनुभव है, घनीभूत वैचारिकी हैं, जिनसे इस क्षेत्र की किसी नई गतिविधि का प्रारंभ होना चाहिए।

संभवत इस संबन्ध में निम्नांकित आपत्ति की जा सकती है : ''यह सब बहुत सुन्दर हो सकता है, लेकिन ईसाइयत के उदात्त सिद्धांत तथा उन भौतिक प्रतीकों में क्या समाान्य तत्त्व है, जो दीवालों या कागजों पर लिखे गए हैं, या, धर्मग्रन्थों की चमड़े की जिल्दों पर बनाए गए हैं? वैज्ञानिक वैचारिकी तथा पुस्तकालयों में एकत्र कागजों के अंबार के बीच क्या सम्बन्ध है ?

निश्चित ही पुस्तक जैसी भौतिक वस्तुओं तथा सामूहिक मानवीय मस्तिष्क से उत्पन्न सुकोमल उत्पाद–वैचारिकी के बीच अंतर है।'' लेकिन यह तर्क किसी भ्रम के कारण दिया जा सकता है। निश्चित ही, कागज या रँगने का पदार्थ या जिल्द का चमड़ा यहाँ पर निरर्थक होंगे, यदि वे सामाजिक प्राणियों से विहीन हैं। हम छठे अध्याय में बता चुके हैं कि सामाजिक संबन्ध या संदर्भ से पृथक् यंत्र केवल एक धातु का टुकड़ा या लकड़ी का टुकड़ा, आदि हैं; लेकिन इसमें सामाजिक प्राणी भी निहित हैं, जिससे मनुष्य इसकी व्याख्या श्रम–प्रक्रिया के एक यंत्र के रूप में करते हैं। इसी प्रकार पुस्तक कागज का एक टुकड़ा होने के अतिरिक्त एक सामाजिक वस्तु भी है; अध्ययन की प्रक्रिया में यह एक पुस्तक के रूप में मानी जाती है। यहाँ पुस्तक एक घनीभूत वैचारिकी है, वैचारिक उत्पादन का एक उपकरण है।

यदि हम मानसिक संस्कृति के संचयन के प्रश्न पर इस दृष्टिकोण से विचार करें, तो यह स्वीकार करना सरल होगा कि यह संचयन वस्तुओं के संचयन का घनीभूत आकार ग्रहण करने लगता है, घनीभूत होने लगता है, भौतिक स्वरूप ग्रहण करने लगता है। जितना ही अधिक मानसिक संस्कृति का क्षेत्र समृद्ध होता है, इन भौतिक सामाजिक प्रघटनाओं का क्षेत्र उतना ही व्यापक होता है। आलंकारिक शैली में, तो मानसिक संस्कृति का भौतिक ढ़ाँचा इस संस्कृति की मूल पूँजी है, तो इस संस्कृति की समृद्धता के साथ बढ़ती है, और अन्ततः यह भौतिक उत्पादन–शक्तियों के विकास की अवस्था पर आधारित है। आदिमयुगीन शिला–चित्र, देवताओं की अनगढ़ मूर्तियाँ, कला–स्मारक, भोजपत्र में लिखे हुए ग्रंथ, चमड़े पर चित्रांकन, मंदिर, वेध–शालाएँ, मिट्टी के बर्तन तथा उन पर अंकित चित्र; आधुनिक युग की चित्र–गैलरियाँ, संग्रहालय, वनस्पति और जीवशास्त्रीय उद्यान, वृहत् पुस्तकालय, वैज्ञानिक प्रदर्शनियाँ, प्रयोगशालाएँ, रेखाचित्र, मुद्रित पुस्तकें, आदि मानवता के संचित घनीभूत अनुभव हैं। एक पुस्तकालय में अनेक प्राचीन पुस्तकों के साथ अनेक नवीनतम पुस्तकों का संकलित होना अनेक पीढ़ियों के अबाध उत्तराधिकार का एक रोचक भौतिक उदाहरण है।

अतः मानसिक संस्कृति का संचयन केवल मनुष्यों के मस्तिकों में मनोवैज्ञानिक और वैचारिक तत्त्वों का संचयन ही नहीं है, बल्कि वस्तुओं का संचयन भी है।

च. समष्टिरूप में सामाजिक जीवन के पुनरुत्पादन की प्रक्रिया

अब हम इस विषय का पुनरावलोकन करने की स्थिति में है :

प्रकृति और समाज के बीच एक सतत ''उपापचय'' (मेटाबोलिज्म) चल रहा है, सामाजिक पुनरुत्पादन की प्रक्रिया तथा श्रम–प्रक्रिया चाक्रिक रूप में क्रियाशील है, जो कुछ उपभोग हो जाता है, उसका यह प्रतिष्ठापन करता है; जैसे–जैसे उत्पादक शक्तियाँ विकसित होती हैं, वैसे इसके आधार का विस्तार करती हैं और मनुष्य के अस्तित्व की सीमाओं का विस्तार करने के लिए मनुष्य को सक्षम बनाती हैं।

लेकिन भौतिक उत्पादों के उत्पादन की प्रक्रिया प्रदत्त आर्थिक संबन्धों के उत्पादन की प्रक्रिया भी है। मार्क्स कहता है : ''पूँजीवादी उत्पादन, अपनी एक सतत प्रक्रिया, अर्थात्, पुनरुत्पादन की प्रक्रिया के रूप में, केवल वस्तुओं या अतिरिक्त मूल्य का ही उत्पादन नहीं करता है, बल्कि यह पूँजीवादी संबन्धों का उत्पादन और पुनरुत्पादन भी करता है; इसमें एक ओर पूँजीपति और दूसरी ओर मजदूरी पाने वाले श्रमिक होते हैं।'' मार्क्स का यह सूत्र केवल पूँजीवादी उत्पादन में ही लागू नहीं होता है, बल्कि सामान्य रूप से सार्वभौम रूप में व्यवहार्य है। यदि हम प्राचीन दास प्रथा की अर्थव्यवस्था पर विचार करें, तो हम पाएँगे कि इसके अन्तर्गत प्रत्येक उत्पादन–चक्र में दासों के स्वामी और दास को अपना–अपना भाग मिलता है; दूसरे चक्र में, स्वामी अपना काम करेगा, और दास अपना निर्धारित कार्य करेगा; यदि पुनरुत्पादन का प्रसार होना है, तो स्वामी के भाग और शक्ति, उसकी दासों की संख्या, दासों द्वारा उत्पादित अतिरिक्त श्रम में वृद्धि होगी और एक प्रकार आमूल परिवर्तन होगा।

इस प्रकार, भौतिक उत्पादन की प्रक्रिया उत्पादन–संबन्धों तथा उस ऐतिहासिक आवरण के पुनरुत्पादन की भी प्रक्रिया है। दूसरी ओर, भौतिक पुनरुत्पादन की प्रक्रिया तत्संबन्धित श्रम–शक्तियों के सतत पुनरुत्पादन की प्रक्रिया है। मार्क्स कहता है : ''श्रम–शक्ति के मूर्तीकरण के रूप में मनुष्य स्वयं एक प्राकृतिक वस्तु है, यद्यपि यह वस्तु जीवन्त और चेतन है, तथा श्रम मनुष्य में अन्तर्निहित इस शक्ति का व्यक्तीकरण है।'' लेकिन अनेक ऐतिहासिक कालों में सामाजिक प्रविधियों के अनुरूप उत्पादन की रीति आदि विशिष्ट श्रम–शक्तियाँ, अर्थात् अपेक्षित

कुशलता से युक्त श्रम–शक्तियाँ, उपलब्ध है। पुनरुत्पादन की प्रक्रिया सतत रूप से इस कुशलता का पुनरुत्पादन कर रही है; अतः यह केवल वस्तुओं का ही पुनरुत्पादन नहीं करती है, अपितु यह जीवन्त वस्तुओं, अर्थात् कुछ विशिष्ट गुणें से युक्त कर्मियों, का भी पुनरुत्पादन करती है; यह उनमें संबन्धों का भी पुनरुत्पादन करती है; प्रसरणशील पुनरुत्पादन के साथ यह उत्पादक शक्तियों के नए स्तर के तदनुरूप समंजन करती है। इस संदर्भ में उन व्यक्तियों को, जो समान नहीं हैं (क्योंकि नए प्रकार की कुशलताओं के लिए नए जीवन्त यंत्रों की आवश्यकता है) श्रम क्षेत्र के उन पदों पर नियुक्त किया जाता है जो समरूप नहीं है। लेकिन उत्पादन–संबन्धों का आधारभूत विन्यास पूर्ववत् बना रहता है, क्रान्ति–काल की अवस्थाओं के अतिरिक्त, तथा अधिक–से–अधिक वृहत् स्तर पर प्रगतिशील रूप में निरंतर पुनरुत्पादित होता रहता है।

यदि श्रम–शक्तियों की कुशलता के विभिक्त प्रकारों की समग्रता को सामाजिक मनोविज्ञान नाम दिया जाए, तो यह कहा जा सकता है कि पुनरुत्पादन की प्रक्रिया समाज की अर्थव्यवस्था का पुनरुत्पादन कर रही है इसलिए यह इसके शरीर क्रिया–विज्ञान का भी पुनरुत्पादन कर रही है।

पुनरुत्पादन की प्रक्रिया के साथ–साथ सामाजिक जीवन के संपूर्ण वृहत् यंत्र की भी हम इसी प्रकार की गति पाते हैं : वर्गों के बीच के पारस्परिक संबन्धों, राज्य–संगठन की दशाओं तथा वैचारिक क्षेत्र के अन्तर्गत संबन्धों का भी पुनरुत्पादन होता है। समग्र सामाजिक जीवन के पुनरुत्पादन के समुच्चय में सामाजिक विसंवादों का भी सतत पुनरुत्पादन होता है। उत्पादक शक्तियों के विकास के द्वारा सतत उत्तेजना से उत्पन्न सन्तुलन के विघटन एक प्रकार के आंशिक विसंवाद हैं, ये आंशिक विसंवाद उत्पादन की प्रदत्त रीति के ढाँचे के अंतर्गत समाज के आंशिक समन्वय द्वारा सतत रूप से आत्मसात होते रहते हैं। लेकिन प्रदत्त आर्थिक संरचना की प्रकृति से उत्पन्न आधारभूत विसंवाद उस समय तक निरंतर अधिक–से–अधिक पुनरुत्पादित होते रहते हैं, जब तक वे संकट की स्थिति नहीं उत्पन्न कर देते हैं। इस स्थिति में उत्पादन–संबन्धों का समग्र पुराना स्वरूप छिन्न–भिन्न हो जाएगा, और यदि सामाजिक उद्विकास चल रहा है, तो नया स्वरूप उदय हो जाएगा। ''उत्पादन के प्रदत्त स्वरूप में निहित

विरोध का ऐतिहासिक विकास ही केवल वह मार्ग है, जिस पर चलकर उत्पादन के उस स्वरूप को भंग किया जा सकता है तथा नए स्वरूप की प्रतिष्ठा हो सकती है।'' इस क्षण के उपरान्त पुनरुत्पादन की प्रक्रिया में एक अस्थायी व्याघात आता है या एक ऐसा विघटन आता है जो उत्पादक शक्तियों के एक अंश के विनाश के द्वारा व्यक्त होता है। समग्र मानवीय श्रम–उपकरण के सामान्य रूपांतरण तथा समस्त मानवीय संबन्धों के पुनर्गठन के नए संतुलन की प्रतिष्ठा होती है और समाज अपने प्राविधिक आधार का विस्तार तथा अपने अनुभव का संचयन (जो वस्तुओं में घनीभूत है) करके अपने उद्विकास के नए सार्वभौम चक्र में प्रवेश करता है।

8

वर्ग और वर्ग–संघर्ष

क. वर्ग, जाति, व्यवसाय

हम मानव–समाज के उद्विकास के सन्दर्भ में वर्गों के महत्त्वपूर्ण कार्यों को पहले ही देख चुके हैं। वर्ग–युक्त समाज में सामाजिक संरचना भी मुख्यतः इस बात पर आधारित होती है कि इस समाज में वर्गों का अस्तित्व किस पर निर्भर है, उनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, आदि। हमने देखा है कि सामाजिक जीवन में प्रत्येक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किसी–न–किसी रूप में वर्ग–संघर्ष से सम्बन्धित होता है। यह भी उल्लेखनीय बात है कि समाज के एक स्वरूप का दूसरे स्वरूप में रूपान्तरण प्रचण्ड या उग्र वर्ग–संघर्ष द्वारा ही होता है। यही कारण है कि मार्क्स और एञ्जेल्स ने अपने ''साम्यवादी घोषणा–पत्र'' (कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो) को इन शब्दों से प्रारम्भ किया था : ''अब तक के समस्त समाजों का इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास है।'' हम वर्ग की सामान्य प्रकृति की परिभाषा पहले ही कर चुके हैं। अब हम इस पर विस्तार से विचार कर सकने की स्थिति में हैं।

हमने देखा है, एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समुच्चय है, जो उत्पादन में एक ही प्रकार का योगदान करते हैं, जिनके उत्पादन–प्रक्रिया में अन्य व्यक्तियों के साथ एक ही प्रकार के सम्बन्ध हैं, और इन सम्बन्धों की अभिव्यक्ति वस्तुओं (श्रम के उपकरणों) के साथ भी होती है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि वितरण की प्रक्रिया में प्रत्येक वर्ग का सामान्य तत्त्व आय का समरूप स्रोत है; क्योंकि उत्पादों के वितरण की दशाएं उत्पादन की दशाओं द्वारा निर्धारित होती हैं। सूती मिलों के कर्मी और धातुओं के कारखानों के कर्मी दो पृथक्–पृथक् वर्ग नहीं हैं, अपितु एक ही वर्ग के हैं; क्योंकि उनके अन्य व्यक्तियों इंजीनियर, पूँजीपति के साथ एक ही प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। इसी प्रकार, खान, भट्ठा, कंचुकि–कारखाने के स्वामी एक ही वर्ग के हैं; क्योंकि यद्यपि वे भौतिक दृष्टि से भिन्न–भिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, लेकिन उत्पादन की प्रक्रिया में संलग्न व्यक्तियों के साथ उन सबकी एक ही

प्रकार की स्थिति (नियन्त्रक या निर्देशक की) होती है, और यह स्थिति वस्तुओं (पूँजी) के साथ भी व्यक्त होती है।

अतः समाज के वर्गीय संरेखण के आधार में उत्पादन–सम्बन्ध हैं। अन्य प्रकार के जो विभाजन किए गए हैं, अब उनका हमें परित्याग कर देना चाहिए। प्रायः एक विभाजन ''गरीब'' और ''अमीर'' के रूप में किया जाता है। एक व्यक्ति की जेब में जितना पैसा है, यदि उससे दुगुना पैसा दूसरे व्यक्ति की जेब में है, तो दोनों व्यक्तियों के भिन्न–भिन्न वर्ग माने जाते हैं – यहाँ पर विभाजन का आधार व्यक्तियों के पास होने वाली धनराशि या रहन–सहन का स्तर है। एक अंग्रेज समाजशास्त्री (डीएट) ने तो वर्गों का एक चित्र तैयार किया है : प्रथम और निम्नतम वर्ग (भुक्खड़ वर्ग) का प्रति सप्ताह का बजट अट्ठारह शिलिंग होता है; द्वितीय वर्ग का पच्चीस शिलिंग, तृतीय वर्ग का पैंतालीस शिलिंग, आदि। वर्ग–विभाजन की यह अवधारणा केवल अत्यधिक सरल ही नहीं है, अपितु भ्रामक और भोली भी है। इस दृष्टिकोण से, पूँजीवादी समाज के ढलाई–कारखाने का अच्छा वेतन पाने वाला कर्मचारी सर्वहारा–वर्ग में परिगणित नहीं होगा, जबकि एक गरीब व्यक्ति या साधारण कारीगर कर्मी–वर्ग का माना जाएगा। लुम्पेन प्रोलिटैरिएट वर्ग को सर्वाधिक क्रान्तिकारी वर्ग मानना होगा, तथा एक ऐसी शक्ति के रूप में मानना होगा, जिसमें समाज को उच्चतर स्वरूप में रूपान्तरित करने की क्षमता है। दूसरी ओर, दो ऐसे बैंकर हैं, जिनमें एक के पास दूसरे से दुगुना रुपया है, तो इन दोनों को दो भिन्न–भिन्न वर्गों का सदस्य माना जाएगा। लेकिन नित्यप्रति के अनुभव से हमें ज्ञात होता है कि कर्मियों और शिल्पियों या कर्मियों और किसानों की अपेक्षा विभिन्न वर्गों के कर्मी अधिक कंधा–से–कंधा भिड़ा कर लड़ते हैं। किसान कर्मियों के साथ कोई अपनत्व या नैकट्य अनुभव करने को अधिक इच्छुक नहीं होते हैं। लेकिन दूसरी ओर दो बैंकर अपने को एक ही परिवार का सदस्य मानते हैं, भले ही उनमें से एक दूसरे की तुलना में कई गुना अधिक पेसे वाला हो। मार्क्स ने इस सम्बन्ध में पहले ही संकेत किया है कि किसी की शैली के आधार से केवल परिमाणात्मक अन्तर ही आता है। निस्सन्देह, इस प्रकार के अन्तर वाले व्यक्ति परस्पर उग्र विरोधी हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, वर्ग की परिभाषा के लिए धन का

अन्तर समुचित आधार नहीं माना जा सकता है, भले ही एक वर्ग के ढांचे के अन्दर इसका प्रभाव हो।

समाज के वर्ग–विभाजन के आधार के सम्बन्ध में एक दूसरा व्यापक रूप से मान्य सिद्धान्त है जिसके अनुसार वर्ग–विभाजन के लिए वितरण की प्रक्रिया, अर्थात् सामाजिक आय के वितरण को आधार माना जाता है। इस प्रकार, पूँजीवादी समाज में आय के तीन प्रमुख समूहों – लाभ, किराया, मजदूरी में विभक्त होने से तीन पृथक् वर्गों – पूँजीपतियों, भूस्वामियों और सर्वहाराओं (मजदूरी पाने वाले कर्मियों) का जन्म होता है। इन तीनों वर्गों में से किसी वर्ग की आय का भाग अन्य वर्गों के भाग की कीमत पर ही अधिक हो सकता है; अर्थात् यदि एक वर्ग की आय दूसरे वर्गों की अपेक्षा अधिक होती है, तो निश्चित ही प्रथम वर्ग शेष वर्गों की आय के हिस्से से छीन रहा है। अतः एक वर्ग के सदस्य समरूप और सामान्य हितों के द्वारा ही संगठित नहीं होते हैं, अपितु अन्य वर्गो द्वारा उसके हितों का विरोध होने के कारण भी उस वर्ग में एकता रहती है।

इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में निम्नांकित प्रश्न हमारे सामने आते हैं : जो व्यक्ति एक वर्ग में संगठित हैं वे एक वर्ग के रूप में क्यों पुनुरुत्पादित होते हैं? पूँजीवादी समाज में विशेष प्रकार की आय का अस्तित्व कैसे होता है? इन ''आय के प्रकारों'' में स्थिरता का क्या कारण है? केवल इन प्रश्नों के करने से ही वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है। उत्पादन के साधनों के साथ के सम्बन्धों पर ही स्थिरता आश्रित होती है जो उत्पादन में लगे हुए मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करती है। उत्पादन में लगे व्यक्तियों के कार्य, और उत्पादन के हितों के स्वामित्व, अर्थात् ''व्यक्तियों का वितरण'' और ''उत्पादन के साधनों का वितरण'' उत्पादन की विद्यमान रीति की सीमा के अन्तर्गत स्थिर मात्राएं हैं। यदि हम पूँजीवाद पर विचार कर रहे हैं, तो उसमें ऐसे व्यक्तियों की श्रेणी पाते हैं जो उत्पादन की प्रक्रिया का निर्देशन करते हैं, साथ ही साथ जो उत्पादन के समस्त साधनों को नियन्त्रित करते हैं, और एक श्रेणी ऐसे व्यक्तियों की भी होती है जो प्रथम श्रेणी के व्यक्तियों के निर्देशन में काम करती है, उसे अपनी श्रम–शक्ति अर्पित करती है और वस्तुओं का उत्पादन करती है। यह स्थित इस तथ्य पर आश्रित होती है कि श्रम के उत्पादों के वितरण (आय के वितरण में) एक

निश्चित प्राकृतिक नियम की प्रक्रिया होती है। अतः हम उस बिन्दु पर आ पहुँचे हैं, जहां हमें उत्पादन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष – ''व्यक्तियों के वितरण'' और ''वस्तुओं के वितरण'' पर वर्गीय सम्बन्धों के आधार के रूप में विचार करना है।

प्रत्येक वर्ग एक निश्चित ''वास्तविक समुच्चय'' है, अर्थात् यह ऐसे व्यक्तियों का योग है, जो अबाध पास्परिक प्रतिक्रियाओं से सम्बन्धित है, जो ऐसे ''जीवन्त व्यक्ति'' है जिनकी जड़ें उत्पादन में हैं और जिनके विचार गगन तक पहुंच सकते हैं। प्रत्येक वर्ग महान् प्रणाली से अभिहित मानव–प्रणाली है। अतः हमें वर्ग पर उसी रीति से विचार करना चाहिए, जैसे हम समाज पर करते हैं। दूसरे शब्दों में, वर्ग का विश्लेषण उत्पादन से प्रारम्भ करना चाहिए। उत्पादन, वितरण, राजनीति, मनोविज्ञान और आदर्शों के आधार पर वर्गों में अन्तर देखकर हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए; क्योंकि ये समस्त चीजें अन्योन्याश्रित है; क्यों कि आप सर्वहारा वृक्ष में बुर्जुआ टहनियां नहीं लगा सकते हैं, क्योंकि यह गाय की पीठ पर घोड़े की काठी रखने से भी अधिक बुरा होगा। लेकिन यह सम्बन्ध, अन्तिम विश्लेषण में, उत्पादन की प्रक्रिया में वर्गों की स्थिति द्वारा ज्ञात होता है। अतः, हमें उत्पादन के मापदण्ड से वर्गों की परिभाषा करनी चाहिए।

सामाजिक वर्ग और सामाजिक जाति में क्या अन्तर है? वर्ग ऐसे व्यक्तियों की एक श्रेणी है, जो उत्पादन की प्रक्रिया में एक समान योगदान के द्वारा संगठित हैं, जो एक ऐसी समग्रता द्वारा परस्पर आबद्ध है जिसमें उत्पादन–प्रक्रिया के अन्य कार्यों के सन्दर्भ में प्रत्येक सदस्य एक ही सापेक्षित स्थिति में है। दूसरी ओर, सामाजिक जाति ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो समाज की न्यायिक या कानूनी समाज–व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी समान स्थिति के द्वारा एक सूत्र में आबद्ध है। भूस्वामी एक वर्ग है, नीबलिटी जाति हैं; बड़े भूस्वामी उत्पादन के समान रूपों द्वारा पारिभाषित होते हैं, लेकिन नोबलिटी में ऐसा नहीं होता है। नोबल को अपनी 'नोबल स्थिति' के कारण कुछ कानूनी अधिकार और सुविधाएं प्राप्त होती है। आर्थिक दृष्टि से यह नोबल निर्धन हो सकता है, वह निठल्ला हो सकता है, वह गन्दी बस्ती का रहने वाला हो सकता है; लेकिन फिर भी उसका पद नोबल का ही रहता है। गोर्की की ''लोअर डेप्थ'' नामक पुस्तक का बैरन इसी प्रकार का है। इसी प्रकार जार की सरकार में कर्मियों के पारपत्र में

प्रायः निम्नांकित शब्द रहते थे : ''यह किसान अमुक प्रान्त का है, अमुक जिले का है, अमूक बस्ती का है।'' यद्यपि यह कर्मी कभी किसान नहीं रहा था, शहर ही में पैदा हुआ था, तथा बचपन से शहर में मजदूरी कर रहा था। वर्ग और जाति में यही अन्तर है। जार के कानून के अनुसार, जिस व्यक्ति की वर्गीय विशेषता एक कर्मी की है, उसे किसान के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। लेकिन बिना गहराई में प्रवेश किए कानूनों पर आधारित होने का हमें क्या अधिकार है, जबकि हम जानते हैं कि राजनीति और कानून ''अर्थ–व्यवस्था की संचित अभिव्यक्ति'' हैं।

वास्तव में, हमें गहराई में जाना चाहिए; हमने स्वयं संकेत किया है कि सामाजिक सम्बन्धों पर मुख्यतः उत्पादन के दृष्टिकोण से विचार करना विधिशास्त्र की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रो0 सोलण्ट्सेव ने वर्गों पर अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखा है तथा उसी में जाति के प्रश्न पर भी उत्तम रीति से विचार किया है : ''विभिन्न श्रेणियों में असमान सामाजिक समूह जैसे दिखाई पड़ते हैं, वे सामाजिक श्रम–प्रक्रिया के सम्बन्धों और आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर नहीं उत्पन्न होते हैं, अपितु उनका जन्म मुख्यतः कानूनी सम्बन्धों और राज्य–सम्बन्धों के आधार पर होता है। जाति कानूनी–राजनीतिक श्रेणी है, जो अपने को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त कर सकती है।.............जाति से भिन्न, वर्ग–व्यवस्था आर्थिक दशाओं के आधार पर उद्भूत हुई है।'' सोलण्ट्सेव यह स्वीकार नहीं करता है कि जाति वर्ग का पर्याय है अथवा, यह वर्ग का कानूनी–राजनीतिक लबादा है, जबकि वह यह स्वीकार करता है कि प्राचीन कालों में जागीरों के रूप में विभाजन किसी वर्ग–भेद का अवश्य द्योतक था और, ''वर्ग–संघर्ष जागीरों के बीच के संघर्ष का विचित्र स्वरूप ग्रहण कर लेता है।'' सोलण्ट्सेव का यह अस्पष्ट कथन हमें कोई स्पष्ट सूत्रीकरण खोजने के लिए विवश करता है। फ्राँसीसी क्रांति में 'टीयर्सइटाट' विभिन्न वर्गो का मिश्रण था, लेकिन बाद में उसमें किंचित अन्तर हो गया : इसमें बुर्जुआ, कर्मी, मध्यम वर्ग, कारीगर, छोटे–छोटे व्यापारी आदि भी सम्मिलित हो गए। सब टीयर्सइटाट के सदस्य हो गए; क्योंकि सामन्ती भूस्वामियों की सुविधाओं की तुलना में इन समूहों के लोग कानूनी दृष्टि से अमहत्त्वपूर्ण थे। यह टीयर्सइटाट प्रबल भूस्वामियों के विपरीत वर्ग–प्रखण्ड की अभिव्यक्ति था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्ग और जाति को

एक—दूसरे का पर्याय नहीं मानना चाहिए, लेकिन जाति के खाोल के अन्दर वर्ग रूपी गूदा समाहित हो सकता है। दूसरे ओर, एक अन्य रूप में भी वर्ग और जाति परस्पर अनुरूप होने में असफल हो सकते हैं : एक व्यक्ति 'निम्नवर्ग' का होते हुए भी ''उच्च जाति'' का हो सकता है, अथवा, उच्चवर्ग का व्यक्ति नीची जाति का हो सकता है।

पृथक्—पृथक् उदाहरणों पर विचार करके स्थिति का शुद्ध सैद्धांतिक आधार नहीं प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए हमें एक विशिष्ट आर्थिक व्यवस्था के ढाँचे के अन्तर्गत होने वाली विशेष प्रकार की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं को दृष्टि में रखते हुए विचार करना होगा। इस प्रकार निम्नांकित आधारभूत परिस्थिति विचारणीय है : बुर्जुआ क्राँतियों, तथा बुर्जुआ उद्विकास की दशाओं के द्वारा ''जागीरों'' का उन्मूलन होता है। जागीरों के रहते हुए पूँजीवाद का अस्तित्व संभव नहीं था। इसका मुख्य कारण यह है कि प्राक् पूँजीवादी समाज के स्वरूपों में, समस्त सम्बन्ध अत्यधिक अनुदार रूढ़िवादी होते हैं; जीवन की गति मन्द होती है; महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कम होते हैं। प्रभावशाली वर्ग भू—कुलीनता का होता है, यह वर्ग अधिकांशतः वंशानुगत आधार पर संगठित होता है। दशाओं की इस विशेष गतिहीनता या अपरिवर्तनशीलता ने वर्गीय सुख—सुविधाओं को अनेक कानूनी मानदण्डों के द्वारा एक स्थायी रूप प्रदान कर दिया; इस गतिहीनता ने वर्गों को ''जागीरों'' के कवच में आवेष्टित होने का अवसर प्रदान किया। अतः समग्ररूप में, ''जागीरों'' ने उसी मार्ग का अनुसरण किया जिसका अनुसरण वर्गों या वर्गों के समूहों ने किसी एक वर्ग का विरोध करने के लिए किया था। लेकिन यह सामंजस्य की स्थिति पण्य पूँजीवाद की कहीं अधिक गतिशील दशाओं के प्रवेश से भंग हो गई; अमहत्त्वपूर्ण मनुष्य महत्त्वपूर्ण हो गया; नए अमीर पैदा हो; गए कुछ बड़े जमीदारों ने पूँजीवादी स्वरूपों को ग्रहण कर लिया, अन्य भुक्खड़ होने लगे, कुछ लोग अपने पूर्व स्तर को बनाए रहे, आदि)। इस प्रकार पूँजीवादी सम्बन्धों की गतिशीलता जागीरों के अस्तित्व को पूर्ण रूप से निर्बल बनाती है। सामंती सम्बन्धों के विघटन का संक्रांति—काल वर्गों की आर्थिक विषय—वस्तु तथा जागीरों के कानूनी कवच के बीच बढ़ते हुए आसामंजस्य में ही व्यक्त होता है। अब यहाँ ऐसा संघर्ष उत्पन्न हो गया है, जो जागीरों की सम्पूर्ण प्रणाली को समाप्त करने की ओर अपरिहार्य रूप से अग्रसर हो गया। इसका जातीय स्वरूप पूँजीवादी उत्पादन—सम्बन्धों

के उद्विकास के साथ उसी प्रकार नहीं चल पा रहा था, जैसे आजकल उत्पादक शक्तियों के अधिक विकास के कारण उत्पादन–प्रक्रिया का वर्गीय कवच अपना अस्तित्व बनाए रखने में असमर्थ हो रहा है। मार्क्स ने अपनी ''दर्शन की दरिद्रता'' नामक पुस्तक में लिखा है : ''जिस प्रकर टियर्सइटाट की मुक्ति के लिए जागीरों का उन्मूलन आवश्यक था, उसी प्रकार कर्मी–वर्ग की मुक्ति के लिए समस्त वर्गों का उन्मूलन आवश्यक है।'' मार्क्स के इस कथन की व्याख्या करते हुए एंजेल्स कहता है : ''यहाँ पर ''जागीरों'' का आशय ऐतिहासिक संदर्भ में सामंती राज्य की जागीरें है, अर्थात् वे जागीरें जिन्हें निश्चित और सीमित विशेष सुविधाएँ प्राप्त हैं। बुर्जुआओं की क्रांति ने जागीरों तथा उनका विशेष सुविधाओं का उन्मूलन कर दिया है। अब बुर्जुआ समाज केवल वर्गो को मान्यता देता है, अतः सर्वहारा–वर्ग को चतुर्थ जागीर की संज्ञा देना इतिहास का प्रतिवाद करना था।''

अतः स्थायी प्राक् पूँजीपति प्रणालियों के काल में, जागीरें ''वर्गों की कानूनी अभिव्यक्ति'' थीं; इन मात्राओं का बढ़ता हुआ प्रतिवाद (वर्गो की विषय–वस्तु तथा जागीरों के कानूनी स्वरूप के बीच के संतुलन का विघटन) पूँजीवादी सम्बन्धों के विकास तथा उच्चतर और निम्नतर पुराने सामन्ती वर्गो के विघटन के कारण था। सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत, सामान्य रूप से वर्ग के रूप में कृषक–समुदाय जागीर के रूप में कृषक समुदाय के समरूप था; लेकिन ग्रामीण बुर्जुआ और नागरिक सर्वहारा–वर्ग अपने को कृषक–समुदाय से भिन्न मानने लगे। वे अभी भी अपने पूर्व जागीरी (जातीय) वस्त्र को बनाए रख रहे हैं। यह पुराना वस्त्र नई दशाओं के अनुकूल नहीं है, अतः इसका परित्याग होना चाहिए।

अब हमें तीसरी श्रेणी व्यवसाय (वोकेशन) की परीक्षा करनी चाहिए। स्पष्टतः व्यवसाय उत्पादन–प्रक्रिया से सम्बन्धित है। प्रथम दृष्टि में, व्यवसाय और वर्ग के बीच का अन्तर इस तथ्य पर आधारित है कि व्यवसायों के बीच की रेखा मनुष्यों के बीच के सम्बन्धों की रेखा के रूप में नहीं खिंची होती है, बल्कि वस्तुओं के साथ उनके सम्बन्धों की रेखा के रूप में खिंची होती है, जो इस बात पर आधारित होती है कि कोई व्यक्ति किन वस्तुओं पर किन वस्तुओं से काम करता है, फलस्वरूप कौन वस्तुएँ उत्पादित होती हैं। लोहार, बढ़ई और संगतराश के बीच का अन्तर उनका पूँजीपतियों के साथ जो सम्बन्ध है उसकी भिन्नता पर आधारित नहीं है,

बल्कि केवल इस तथ्य पर आधारित है कि उनमें से एक धातु पर काम करता है, दूसरा लकड़ी पर, तीसरा पत्थर पर।

फिर भी विषय का सार वस्तु में नहीं है, क्योंकि व्यवसाय एक सामाजिक सम्बन्ध भी तो है, जो विभिन्न प्रकार के कर्मियों को, उत्पादन की प्रक्रिया में एक सूत्र में आबद्ध करता है। उत्पादन–प्रक्रिया के मानदण्डों के कारण उनमें एक निश्चित सम्बन्ध स्वभावतः प्रचलित होता है। ये सम्बन्ध कितने ही भिन्न क्यों न हों, लेकिन ये उन सब अन्तरों की तुलना में गौण हैं जो मुख्य पक्ष में वर्तमान होते हैं : जो आदेश देते हैं और जो आज्ञा–पालन करते हैं। इन दोनों के कार्यों के बीच के अन्तर, तथा सम्पत्ति–सम्बन्धों में व्यक्त अन्तर ही प्रधान हैं।

व्यक्तियों के बीच सम्बन्ध के रूप में, प्राविधिक औजारों, विधियों, श्रम की वस्तुओं के प्रति सम्बन्ध पर आधारित सम्बन्ध के रूप में व्यवसाय द्वारा वर्गीकरण न तो आदेश देने और आज्ञापालन करने वालों के बीच वर्तमान श्रम–विभाजन के अनुरूप है और न तत्सम्बन्धी उत्पादन के उपकरणों के वितरण अर्थात् उत्पादन के इन उपकरणों से सम्बन्धित सम्पत्ति–सम्बन्धों के अनुरूप है।

अतः प्रो0 सोलण्टसेव का यह कथन गलत है कि व्यवसाय एक प्राकृतिक प्राविधिक श्रेणी (नेचुरल टेक्निकल कैटेगरी) है, यह सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित ऐतिहासिक श्रेणी नहीं है, संक्षेप में यह अन्तरस्थ श्रेणी है।

अब हम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वर्गों का विवरण देने की स्थिति में हैं।

1. एक प्रदत्त सामाजिक स्वरूप के आधारभूत वर्ग संख्या में दो हैं : एक ओर वह वर्ग है जो उत्पादन के उपकरणों के एकाधिपत्य पर नियन्त्रण करता है; दूसरी ओर, कार्यपालक वर्ग है, जिसके पास उत्पादन के कोई साधन नहीं हैं और वह प्रथम वर्ग के लिए कार्य करता है। आर्थिक शोषण और दासता के सम्बन्ध का यह विशिष्ट स्वरूप वर्गीय समाज के स्वरूप को निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए, यदि नियंत्रक और कार्यपालक के बीच का सम्बन्ध बाजार में श्रम–शक्ति के क्रय के द्वारा बनता है, तो वहीं पूँजीवादी व्यवस्था है; यह सम्बन्ध

केवल व्यक्तियों की श्रम–शक्ति के क्रय से नहीं, अपितु नियन्त्रक वर्ग द्वारा शोषित व्यक्तियों की आत्मा और शरीर के क्रय से बनता है, तो दास–प्रणाली है; आदि।

इन आधारभूत वर्गों को उनके विभिन्न तत्त्वों के आधार पर पुनः विभाजित किया जा सकता है। पूँजीवादी समाज में, नियन्त्रक बुर्जुआ–वर्ग आंशिक रूप से औद्योगिक, आंशिक रूप से बैंकर है, आदि। कर्मी–वर्ग में कुशल और अकुशल श्रमिक होते हैं।

2. मध्यम वर्ग : इसके अन्तर्गत ऐसे सामाजिक–आर्थिक समूह होते हैं जो पुरानी व्यवस्था के अवशेष हुए बिना उस समाज के लिए आवश्यक होते हैं जिसमें वे होते हैं। वे नियन्त्रक और शोषित वर्गों के बीच मध्यम स्थान ग्रहण करते हैं।

3. रूपान्तरिक वर्ग : इसमें ऐसे वर्ग होते हैं जो पूर्ववर्ती समाज में उद्भूत हुए थे, और अब उनका वर्तमान स्वरूप विघटित हो रहा है, जिससे उत्पादन में विरोधी योगदान करने वाले विभिन्न वर्गों का जन्म हो रहा है। उदाहरण के लिए, पूँजीवादी समाज में ऐसे वर्ग कारीगरों और किसानों के होते हैं, जो सामन्ती व्यवस्था से एक विरासत का निर्माण करते हैं, और जिसमें बुर्जुआ और सर्वहारा दोनों प्रवेश पाते हैं।

इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था में किसान निरन्तर खण्डों में विभक्त हो रहा है; आर्थिक दृष्टि से इसका भेदकरण होता है; अमीर किसान मध्यम श्रेणी के किसानों से उत्पन्न होते हैं, वे व्यापारी होते जाते हैं, और एक कदम आगे वे सच्चे बुर्जुआ हो जाते हैं। दूसरी ओर, किसानों से ही सर्वहारा–वर्ग विकसित होता जाता है। यह कार्य निम्नकिंत प्रक्रिया द्वारा होता है : एक किसान के पास घोड़ा नहीं है, तो वह फार्म का श्रमिक हो जाता है; वह वास्तविक सर्वहारा हो जाता है।

4. मिश्रित वर्ग : इसमें वे समूह आते हैं जो एक स्थिति में एक वर्ग में होते हैं और दूसरी स्थिति में दूसरे वर्ग में होते हैं। उदाहरण के लिए, एक रेल–मार्ग का कर्मी ऐसा है जो रेल–मार्ग में तो काम करता ही है, साथ–ही–साथ उसका अपना कृषि–फार्म भी है, जिसमें वह मजदूरों से काम कराता है। वह रेल–मार्ग–कम्पनी में काम करने के कारण कर्मी है और अपने फार्म में नौकर रखता है, इसलिए वह मालिक भी है।

5. **वर्गच्युत समूह :** अन्त में वर्गच्युत (डिक्लास) समूह होते हैं, अर्थात् ऐसे व्यक्तियों की श्रेणियां होती हैं, जो सामाजिक श्रम की सीमा के बाहर होते हैं। लुम्पेन सर्वहारा, भिक्षुक, खानाबदोश, अवारागर्द, आदि इसी श्रेणी में आते हैं। समाज के ''अमूर्त रूप'' (समाज की विशुद्ध अवस्था के सामाजिक स्वरूप) के किसी विश्लेषण में, हम प्रायः केवल इसके आधारभूत वर्गों पर विचार कर रहे हैं, लेकिन जब हम समाज की मूर्त यथार्थता पर विचार करते हैं, जो वास्तव में हमारे समक्ष मिश्रित चित्र सामने आता है जिसमें इसके समस्त सामाजिक–आर्थिक रूप और सम्बन्ध परिलक्षित होते हैं।

ख. वर्ग–हित

हमने देखा है कि वर्ग व्यक्तियों के विशिष्ट समूह हैं, ''वास्तविक समुच्चय'' हैं। इन समूहों के व्यक्ति उत्पादन में जो योगदान करते हैं, उसी के आधार पर उनका एक दूसरे से भेदकरण होता है। यह योगदान सम्पत्ति–सम्बन्धों में व्यक्त होता है। लेकिन उत्पादन–प्रक्रिया के इन दो पक्षों के साथ एक तीसरा पक्ष भी संलग्न है और वह है किसी–न–किसी रूप के उत्पादों के वितरण की प्रक्रिया। उतपादन के समानान्तर वितरण होता है।

वितरण के स्वरूप उत्पादन के स्वरूपों के अनुरूप होते हैं। वर्गों की उत्पादन में जो स्थिति होती है, उसी से वितरण में उनकी स्थिति निर्धारित होती है। प्रशासक और प्रशासित, उत्पादन के उपकरणों पर एकाधिपत्य रखने वाले वर्ग तथा उत्पादन के साधनों से रहित वर्ग के बीच का वैषम्य आय के वैषम्य तथा उत्पादित वस्तुओं के वितरण के वैषम्य में व्यक्त होता है। वर्गों के भिन्न प्रकार के व्यक्ति अपनी चेतनता को भी निर्धारित करते हैं। विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों में वर्गीय अन्तर तथा उनकी जीवन की दशाओं की विषमता प्रत्यक्ष रूप से वर्ग–हितों के उद्भव और विकास में परिलक्षित होती है। वर्ग–हित की सर्वाधिक आदिम अभिव्यक्ति वर्गों का वह प्रयास है जिसमें समस्त उत्पादित वस्तुओं के वितरण में प्रत्येक वर्ग अपने–अपने हिस्से की वृष्टि की चेष्टा करता है।

वर्ग–युक्त समाज–व्यवस्था में, उत्पादन की प्रक्रिया उन लोगों का आर्थिक शोषण करने की प्रक्रिया भी है, जो शारीरिक श्रम करते हैं।

वे जितना पाते हैं, उसकी अपेक्षा अधिक उत्पन्न करते हैं। ऐसा केवल इसलिए नहीं होता है, क्योंकि उत्पादित वस्तुओं के मूल्य का एक अंश उत्पादन का अधिक विस्तार करने में चला जाता है, (पूँजीवादी समाज में संचय में चला जाता है) अपितु इसलिए भी कि कर्मी–वर्ग उत्पादन के उपकरणों के स्वामियों का समर्थन कर रहे हैं, अतः प्रभावशाली अल्पसंख्यक वर्ग सर्वाधिक सामान्य हित को, आर्थिक शोषण के अवसरों को बनाए रखने और उनका अधिकाधिक प्रसार करने के प्रयत्नों के रूप में सूत्रीकृत किया जा सकता है; जबकि शोषित बहुसंख्यक वर्ग का हित अपने को इस शोषण से मुक्त करना है। इन दो प्रयासों में प्रथम समाज वर्तमान रूप को बनाए रखने में दृष्टि रखता है, दूसरा प्रयत्न समाज के वर्तमान स्वरूप के अस्तित्व के लिए चुनौती होता है।

जैसा हम पीछे देख चुके हैं, समाज की आर्थिक संरचना राज्य के संगठन में सुरक्षित होती है तथा असंख्य महत् संरचनात्मक स्वरूपों पर आधारित होती है। अतः वर्ग–हितों को राजनीतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक हितों, आदि के वस्त्र से भी आवेष्टित देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। वर्ग–हित एक ऐसी सम्पूर्ण प्रणाली के रूप में विकसित हो जाते हैं, जो सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को अपने में अन्तर्निहित कर लेते हैं। ये संश्लिष्ट हित उस तथाकथित सामाजिक आदर्श के निर्माण का निर्धारण करते हैं जो वर्ग–हितों का सदैव सार होता है।

वर्ग–हितों के विवेचन में कुछ अन्य बातों पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

प्रथम : स्थायी और सामान्य हितों में भेदकरण होना चाहिए; क्षणिक हित, स्थायी हितों के विरोधी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, जब अंग्रेज बुर्जुआ साम्राज्यवाद के लिए लड़ रहे थे, तो अंग्रेज कर्मी अपने क्षणिक स्वार्थ से प्रेरित हो कर अंग्रेज बुर्जुआ–वर्ग का समर्थन कर रहे थे और बुर्जुआ–वर्ग के साथ वर्गीय सामंजस्य स्थापित कर रहे थे। इस समर्थन और सामंजस्य का मुख्य कारण यह था कि उपनिवेशों के कर्मियों की कीमत पर ही अंग्रेज कर्मियों की मजदूरियां बढ़ायी गई थी, अतः अपनी मजदूरी की वृद्धि के लालच में वे उपनिवेशों के कर्मियों के शोषण का विरोध नहीं कर रहे थे। इस प्रकार उन्होंने समस्त कर्मियों की एकता

को नष्ट कर दिया और अपने उन स्वामियों के साथ सांठ–गांठ कर ली, जो उनके ही वर्ग के सामान्य और स्थायी हितों का विरोध कर रहे थे।

द्वितीय : एक समूह के व्यावसायिक हितों और वर्ग के सामान्य हितों में भ्रम नहीं उत्पन्न करना चाहिए। पूँजीवादी समाज में, प्रभावशाली बुर्जुआ वर्ग विशिष्ट श्रमिकों (कुशल श्रमिकों) को अपना समर्थक बना सकते हैं। इन विशिष्ट श्रमिकों के विशेष हित सम्पूर्ण कर्मी–वर्ग के हितों के अनुरूप नहीं होते हैं; इस प्रकार ये समूह–हित होते हैं, वर्ग–हित नहीं। दूसरा उदाहरण लें : किसी भी युद्धकाल में वाणिज्य करने वाले बुर्जुआ लोग अपनी शक्ति के साथ वाणिज्य के नियमों का उल्लंघन करते हैं। यद्यपि बुर्जुआ राज्य ने स्वयं इन नियमों और कानूनों को प्रतिष्ठत किया था, और वह सम्पूर्ण बुर्जुआ–वर्ग के हितों की सुरक्षा और वृद्धि के लिए ही युद्ध भी कर रहा है, लेकिन बुर्जुआ–वर्ग के व्यापारी–समूह के हित, सम्पूर्ण वर्ग के हितों के अनुरूप न हो कर, भिन्न हैं, इसलिए यह व्यापारी–समूह अपने व्यावसायिक हितों के कारण सम्पूर्ण बुर्जुआ वर्ग के हितों की उपेक्षा करता है।

तृतीय : वर्ग की सामाजिक अवस्थिति के सिद्धान्त में परिवर्तन के साथ–साथ, वर्गों के क्षणिक हितों के सिद्धान्त और प्रवृत्ति में होने वाले परिवर्तनों पर अवश्य विचार करना चाहिए। सर्वहारा–वर्ग के उदाहरण से यह बात स्पष्ट होगी। पूँजीवादी समाज में सर्वहारा–वर्ग का स्थायी और सामान्य हित पूँजीवादी व्यवस्था को नष्ट करना है। उसकी आंशिक मांगों में यह सामान्य प्रवृत्ति सदा रहती है : सामारिक महत्त्व की स्थितियों पर विजय प्राप्त करना, बुर्जुआ समाज की जड़ें काटना, सर्वहारा–वर्ग की भौतिक स्थिति में सुधार करना, इसकी सामाजिक शक्ति को सबल बनाना, पूँजीवादी व्यवस्था पर आक्रमण करने के लिए अपनी शक्ति को सन्नद्ध करना। अब, मान लीजिए कि सर्वहारा–वर्ग ने अपने ऐतिहासिक कार्य को पूरा कर लिया है, इसने पुरानी राज्य–व्यवस्था को नष्ट कर दिया है, नवीन व्यवस्था का निर्माण कर लिया है, नया सामाजिक संतुलन उत्पन्न कर दिया है, तो सर्वहारा–वर्ग अस्थायी रूप से, नियन्त्रक–वर्ग का स्थान ग्रहण कर लेता है। स्पष्ट है कि हितों की दिशा असाधारण रूप में परिवर्तित हो गई है, सामान्य हित की दृष्टि से ग्रहण किए गए इसके समस्त आंशिक हित, अब नई दशाओं को सुदृढ़ और विकसित करने के विचार के अधीन हैं। अब नई दशाओं को संगठित करना है

तथा उस प्रत्येक प्रयास का प्रतिरोध करना है जो इन नई दशाओं को नष्ट करना चाहता है। यदि एक बार सर्वहारा–वर्ग राज्य–सत्ता प्राप्त कर लेता है, तो यह द्वन्द्वात्मक रूपान्तरण स्वयं सर्वहारा वर्ग के द्वन्द्वात्मक उद्विकास से उद्भूत होता है।

हितों की इन दोनों विपरीत दिशाओं का समान तत्त्व है समाज के नए स्वरूप की रचना। इस नव–निर्माण का संवाहक सर्वहारा वर्ग है। यह रचना ऐसी है जिसमें उस पुरानी व्यवस्था का विनाश पहले से ही निहित है जो उत्पादक शक्तियों के उद्विकास के लिए बाधक हो गई थी। नए वर्ग को केवल पुराने सामाजिक सम्बन्धों की प्रणाली को ही नष्ट नहीं करना है, अपितु एक नयी प्रणाली के निर्माण के लिए उसे अपने हितों को उत्पादन की दिशा में अनिवार्य रूप से मोड़ना भी चाहिए, अर्थात्, इसे विभाजन और केवल वितरण के दृष्टिकोण से ही सामाजिक प्रश्नों पर विचार नहीं करना चाहिए, बल्कि अधिक सशक्त उत्पादक शक्तियों और अधिक परिपूर्ण उत्पादन से युक्त निर्माण के स्वरूपों की उपलब्धि के लिए पुराने स्वरूपों के विनाश को भी दृष्टि में रखना चाहिए।

ग. वर्ग–मनोविज्ञान और वर्ग–वैचारिकी

समाज के वर्गीय स्तरण के आधार में जीवन की भौतिक दशाएँ होती हैं, इन दशाओं में पर्याप्त अन्तर होता है, यह अन्तर वर्गों की सम्पूर्ण चेतनता, अर्थात्, वर्ग–मनोविज्ञान और वैचारिकी, पर अपना चिन्ह छोड़ता है। हम जानते हैं कि किसी वर्ग का मनोविज्ञान उस वर्ग के भौतिक हितों के सदा अनुरूप नहीं होता है; लेकिन यह सदा इस वर्ग की जीवन की दशाओं से प्रतिफलित होता है, निरन्तर वर्ग द्वारा ही निर्धारित होता है। आइए हम कुछ उदाहरणों द्वारा उस रीति पर विचार करें जिससे वर्ग–मनोविज्ञान और वर्ग–वैचारिकी वास्तविक रूप में वर्ग की आर्थिक दशाओं द्वारा निर्धारित होते हैं।

हमारा पहला उदाहरण रूसी क्रान्ति से होगा। यह सामान्य ज्ञान की बात है कि रूसी मार्क्सवादी और सामाजिक क्रान्तिकारी इस सम्बन्ध में असहमत थे कि कौन–सा वर्ग समाज को समाजवाद की ओर ले जाएगा। मार्क्सवादियों का मत था कि यह कर्मी–वर्ग होगा, सर्वहारा–वर्ग होगा; दूसरी ओर, सामाजिक क्रान्तिकारियों ने यह दावा किया कि इस क्षेत्र में

किसान–वर्ग अग्रसर होगा। जीवन के तथ्यों ने मार्क्सवादियों का समर्थन किया; भू–स्वामियों और पूँजीपतियों के विरुद्ध युद्ध में किसानों ने सर्वहारा–वर्ग का समर्थन किया; क्योंकि सर्वहारा–वर्ग किसानों के भूस्वामित्व की सुरक्षा करता है और किसानों की अर्थव्यवस्था के विकास को सम्भव बनाता है; फिर भी किसान साम्यवाद के प्रति कुछ शंकालु हैं और सामान्यतः भूमि जोतने तथा खेती करने के पुराने तरीकों में ही चिपके रहना चाहते हैं। इस प्रघटना के कारणों की खोज करना रोचक होगा। इस प्रसंग में यह उत्तर देना पर्याप्त नहीं होगा कि किसान अधिक गरीब नहीं है, इसलिए साम्यवाद के प्रति विशेष आकर्षित नहीं होते हैं; क्योंकि तब हम पूछ सकते हैं कि भिखारी, वर्ग–च्युत व्यक्ति आदि योद्धाओं की मुख्य सेना में क्यों नहीं सम्मिलित होते हैं?

यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक है कि किसी समाज के रूपान्तरण के लिए तथा उसे पूँजीवादी लीक से समाजवादी लीक पर ले जाने के लिए, एक वर्ग में कौन से लक्षण आवश्यक रूप से वर्तमान होने चाहिए।

1. इस प्रकार का वर्ग ऐसा होना चाहिए जिसका पूँजीवादी समाज के अन्तर्गत आर्थिक शोषण और राजनीतिक दमन हो। यदि ऐसा नहीं है, तो पूँजीवादी व्यवस्था का प्रतिरोध करने के लिए वर्ग के पास कोई कारण नहीं : यह किसी भी दशा में विद्रोह नहीं करेगा।

2. यदि मोटे तौर पर विषय को प्रस्तुत करें, तो यह निष्कर्ष निकलता है कि इसे निर्धन वर्ग होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं है, तो अन्य वर्गों की सम्पन्नता की तुलना में इसे अपनी निर्धनता अनुभव करने का कोई अवसर नहीं होगा।

3. यह उत्पन्न करने वाला वर्ग होना चाहिए; क्योंकि यदि ऐसा नहीं है, अर्थात्, यदि इसका मूल्यों के उत्पादन में निकटतम योग नहीं है, तो यह उत्पन्न, सृजन और संगठन करने में असमर्थ होने के कारण उन्हें भली प्रकार से नष्ट कर सकता है।

4. यह व्यक्तिगत सम्पत्ति द्वारा बंधा हुआ वर्ग नहीं होना चाहिए, क्योंकि यदि किसी वर्ग का भौतिक अस्तित्व व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित है, ते यह अपनी सम्पत्ति की वृद्धि के लिए

स्वभावतः उन्मुख होगा, न कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन के लिए इच्छुक होगा, जैसा साम्यवादी चाहते हैं।

5. यह वर्ग ऐसा होना चाहिए जिसके सदस्य अपनी जीवन की परिस्थितियों तथा सामान्य श्रम के कारण एक सूत्र में आबद्ध हो चुके हैं, तथा वे एक दूसरे से कंधा से कंधा भिड़ाकर काम करते हैं। यदि ऐसा नहीं है, तो यह ऐसे समाज की इच्छा करने में असमर्थ होगा, जो कामरेडों के सामाजिक श्रम का मूर्त रूप होगा। पुनः, इस प्रकार का वर्ग संगठित संघर्ष नहीं चला सकता या नयी राज्य–शक्ति की सृष्टि नहीं कर सकता।

नीचे विभिन्न वर्गों या समूहों में इन लक्षणों की उपस्थिति + चिन्ह से और अनुपस्थिति–चिन्ह द्वारा सूचित की गई है :

क्र.सं.	वर्ग–गुण	किसान	लुम्पेन सर्वहारा	सर्वहारा
1.	आर्थिक शोषण	+	–	+
2.	राजनीतिक दमन	+	+	+
3.	निर्धनता	+	+	+
4.	उत्पादनशीलता	+	–	+
5.	व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभाव	–	+	+
6.	उत्पादन में और सामान्य श्रम में सम्मिलन की दशा	–	–	+

दूसरे शब्दों में, किसान–वर्ग के साम्यवादी बनने में अनेक आवश्यक लक्षणों का अभाव है : वे सम्पत्ति से बंधे हुए हैं, और उनको उस नए दृष्टिकोण के अनुकूल प्रशिक्षित होने में अनेक वर्ष लगेंगे; यह कार्य तभी सम्भव हो सकता है, जब सर्वहारा–वर्ग के हाथ में राज्य–सत्ता हो; इसके अतिरिक्त किसान–वर्ग उत्पादन, सामाजिक श्रम तथा सामान्य कार्यवाही में परस्पर संगठित नहीं हैं; किसान का सम्पूर्ण सुख तो उसके अपने छोटे–से भूमि के टुकड़े में है; वह व्यक्तिगत प्रबन्ध का अभ्यासी है, सहकारिता का नहीं।

वह ऐसी परिस्थिति से बंधा हुआ है कि वह उत्पादन का कोई कार्य नहीं करता है; वह नष्ट तो कर सकता है, लेकिन उसमें निर्माण की आदत नहीं है। इसकी वैचारिकी प्रायः अराजकतावादी–सी होती है। इसके सम्बन्ध में किसी विनोदी व्यक्ति ने एक बार कहा था कि उसका सम्पूर्ण कार्यक्रम दो अनुच्छेदों में होता है : अनुच्छेद 1. किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं होगी; अनुच्छेद 2. कोई व्यक्ति पूर्ववर्ती अनुच्छेद की पालन करने के लिए विवश नहीं है।

इस प्रकार हमने देखा है कि जीवन की भौतिक दशाएँ किस प्रकार वर्गों के मनोविज्ञान और वैचारिकी को निर्धारित करती हैं; सर्वहारा–वर्ग में दिखाई पड़ता है : पूँजी और इसकी राज्य–सत्ता के प्रति घृणा, क्रान्तिकारी भावना, संगठित कार्यवाही की आदत, कामरेडी मनोविज्ञान, वस्तुओं की उत्पादक और रचनात्मक अवधारणा, परम्परात्मकता का बाहिष्कार, पूँजीवादी समाज–व्यवस्था के आधार–स्तम्भ ''व्यक्तिगत सम्पत्ति की पवित्रता'' के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण, आदि; किसान–वर्ग में : व्यक्तिगत सम्पत्ति के प्रति प्रेम, जो उन्हें नवीन प्रवर्तनों को स्वीकार नहीं करने देता; व्यक्तिवाद, ऐकान्तिकला, गांव के बाहर की प्रत्येक बात के प्रति सन्देह का भाव; लुम्पेन सर्वहारा में : अस्थिरता, अनुशासन का अभाव, पुराने के प्रति घृणा, लेकिन किसी नए निर्माण या संगठन के की अक्षमता, व्यक्तिवादी ''वर्गच्युत'' व्यक्तित्व, जिसके कार्य मूर्खतापूर्ण सनकों पर आधारित हैं। उपर्युक्त वर्गों में से प्रत्येक की वैचारिकी उसके मनोविज्ञान के अनुरूप होती है : सर्वहारा–वर्ग में क्रान्तिकारी सम्यवाद; किसान–वर्ग में साम्पत्तिक वैचारिकी; लुम्पेन सर्वहारा में चंचल और उन्मादी अराजकतावाद। यदि एक बार इस प्रकार का मनोवैज्ञानिक और धार्मिक केन्द्रबिन्दु विद्यमान हो जाता है, तो यह सम्बन्धित वर्ग या समूह के सम्पूर्ण मनोविज्ञान और वैचारिकी के लिए आधारभूत स्वर स्थिर कर देगा। यह स्पष्ट है कि वर्गों के सदस्यों के परिवर्तन के अनुसार इन वर्गों के मनोविज्ञान और वैचारिकी में परिवर्तन मनोविज्ञान भी मध्यम अवस्था की सृष्टि करता है और मिश्रित समूह मिश्रित मनोविज्ञान को जन्म देते हैं, आदि। इससे इस तथ्य पर भी प्रकाश पड़ता है कि बुर्जुआ और किसान–वर्ग निरन्तर बुर्जुआ और सर्वहारा–वर्ग के बीच दोलायित होते रहते हैं; क्योंकि ''उनकी छाती में दो आत्माएँ रहती हैं'' आदि। मार्क्स ने लिखा है : ''सम्पत्ति के विभिन्न स्वरूपों तथा जीवन की सामाजिक दशाओं पर अनेक विलक्षण संवेदनाओं, विभ्रमों, चिन्तन के रूपों,

जीवन के दृष्टिकोणों की एक पूरी महत् संरचना खड़ी हो जाती है। सम्पूर्ण वर्ग अपने भौतिक आधारों तथा तत्सम्बन्धित सामाजिक सम्बन्धों से इनकी सृष्टि करता है।''

घ. ''स्वयं में वर्ग'' और ''स्वयं के लिए वर्ग''

वर्ग–मनोविज्ञान तथा वर्ग–वैचारिकी उत्पादन में वर्गों की स्थिति के प्रतिफल हैं, लेकिन इसका यह आशय नहीं है कि वर्ग की यह स्थिति उसमें इसके सामान्य और आधारभूत हितों की चेतनता तुरन्त उत्पन्न कर देगी। इसके विपरीत, यह कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति बहुत कम होती है। इसके कई कारण है : पहला, वास्तविक जीवन में स्वयं उत्पादन की प्रक्रिया उद्विकास की कई अवस्थाओं से होकर गुजरती है, और उद्विकास के परवर्तीकाल के पूर्व आर्थिक संरचना के अन्तर्विरोध दृष्टिगोचर नहीं होते हैं; दूसरा, कोई वर्ग अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में आसमान से उतर कर नहीं आता है, बल्कि अनेक अन्य सामाजिक समूहों से स्थूल मौलिक रीति द्वारा विकसित या उद्भूत होता है; तीसरा, सामान्यतः कुछ समय व्यतीत हो जाने के उपरान्त ही एक वर्ग संघर्ष के अनुभवों के द्वारा अपने सम्बन्ध में, तथा उन अपने विशेष और विलक्षण हितों, आकांक्षाओं, सामाजिक आदर्शों और इच्छाओं के सम्बन्ध में जागरूक होता है जिनके कारण वह समाज में वर्तमान अन्य वर्गों से विशेष रूप से पृथक् प्रतीत होता है; चौथा, हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि शासक–वर्ग राज्य–तन्त्र की सहायता से ऐसे व्यवस्थित मनोवैज्ञानिक और वैचारिक हथकंडों को प्रयोग करता है, जिनका उद्देश्य दमित वर्गों की प्रारम्भिक वर्ग–चेतना को नष्ट करना तथा उनको शासक–वर्ग की वैचारिकी में रंगना या कम से कम इस वैचारिकी से कुछ प्रभावित करना होता है। इसका परिणाम यह हो सकता है कि उत्पादन की प्रक्रिया में एक निश्चित कार्य सम्पन्न करने वाला वर्ग आत्म–चेतन वर्ग होने के पूर्व व्यक्तियों के समुच्चय के रूप में पहले से हो सकता है; एक वर्ग हो, लेकिन वर्ग–चेतनता न हो। इसका अस्तित्व उत्पादन के एक कारक के रूप में, उत्पादन–सम्बन्धों के एक विशिष्ट समुच्चय के रूप में होता है, यह एक सामाजिक, स्वतन्त्र शक्ति के रूप में नहीं होता है जो यह जानता हो कि इसे क्या चाहिए, जो एक सन्देश की अनुभूति करता हो, अर्थात् जो अपनी विलक्षण स्थिति तथा अपने हितों के सम्बन्ध में अन्य वर्गों के वैमनस्य के प्रति जागरूक हो। वर्ग–उद्विविकास की इन विभिन्न अवस्थाओं के नामकरण के लिए मार्क्स दो

प्रकार के पद प्रयोग करता है : 1. वह ऐसे वर्ग को ''स्वरूप में वर्ग'' (क्लास इन इटसेल्फ) कहता है, जो अपने प्रति चेतन नहीं हुआ है; 2. वह ऐसे वर्ग को ''स्वयं के लिए वर्ग'' (क्लास फार इट सेल्फ) कहता है, जो अपने सामाजिक योगदान के प्रति पहले से ही चेतन है।

ङ. हितों की सापेक्ष एकता के स्वरूप

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि कुछ परिस्थितियों के अन्तर्गत एक सापेक्ष वर्गीय एकता सम्भव हो सकती है और इसके दो प्रमुख स्वरूपों में भेदकरण हो सकता है।

वर्गीय एकता का पहला स्वरूप वह होता है जिसमें एक वर्ग के स्थायी हित दूसरे वर्ग के अस्थायी हितों को आच्छादित करते हैं। ये अस्थायी हित वर्ग के सामान्य हित का विरोध कर सकते हैं।

दूसरे प्रकार की वर्गीय एकता वह हो सकती है जिसमें इस विरोध का अभाव हो सकता है, और जिसमें एक वर्ग के स्थायी हित दूसरे वर्ग के अस्थायी हितों को आच्छादित कर सकते हैं या दोनों वर्गो के अस्थायी हित परस्पर आच्छादित कर सकते हैं।

प्रथम स्वरूप को 1914–18 के साम्राज्यवादी युद्ध अर्थात् इस युद्ध के प्रारम्भ में कर्मी–वर्ग की मनोवृत्ति के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। यह सुविदित तथ्य है कि अधिकांश अधिक उन्नत पूँजीवादी देशों में, कर्मी–वर्ग, अन्तर्राष्ट्रीय वर्ग–हितों के विपरीत, अपने–अपने देशों की रक्षा के लिए दौड़ पड़े थे। उनके देश केवल बुर्जुआ राज्य–संगठन थे, अर्थात् पूँजी के वर्गीय संगठन थे। अतः हम देखते हैं कि कर्मी–वर्ग अपने उन स्वामियों के संगठनों की सुरक्षा कर रहा था, जो बाजारों, कच्चे माल के स्रोतों, पूँजी लगाने के क्षेत्रों के विभाजन के लिए परस्पर संघर्षरत हुए थे। आर्थिक पूँजीवादी राष्ट्रों में सर्वहारा और बुर्जुआ के बीच की ''सापेक्ष एकता'' के कारण यह निश्चित ही कर्मियों के स्वयं अपने वर्ग के हितों का बलिदान था। सम्पूर्ण अर्थ–व्यवस्था के संदर्भ में यह कल्पना करके हम इस स्थिति को समझ सकते हैं कि इसमें (अर्थ–व्यवस्था में) उत्पादन–सम्बन्ध अनेक बिन्दुओं पर मिलते हैं : उन बड़े

पूँजीवादी देशों ने अपने को राज्य–सत्ता के रूप में संगठित किया, जहाँ बुर्जुआओं के ''राष्ट्रीय'' समूह रहते हैं। ये विश्वव्यापी अर्थ–व्यवस्था के बड़े–बड़े उद्योगों और ट्रस्टों की हमें याद दिलाते हैं। ऐसा राज्य जितना अधिक शक्तिशाली हो जाता है, उतना ही अधिक यह अपनी आर्थिक परिधि का निर्दयतापूर्ण शोषण करता है। इसकी परिधि में उपनिवेश, अर्द्ध उपनिवेश तथा प्रभाव के अन्तर्गत रहने वाले क्षेत्र आते हैं। जैसे–जैसे पूँजीवादी समाज विकसित होता है, वैसे–वैसे कर्मी वर्ग अधिक–से–अधिक निर्धन होता जाता है। लेकिन बुर्जुआओं के हिंस राज्य, जो ''प्रभावित क्षेत्रों'' के कर्मियों को चकमा देते थे, अपने निजी कर्मियों को टुकड़े डाल रहे थे और इस रीति से उन्हें उपनिवेशों के शोषण में रुचि लेने के लिए तैयार कर रहे थे। इस स्थिति के कारण साम्राज्यवादी बुर्जुआओं और सर्वहाराओं के बीच सापेक्ष भौतिक हित उत्पन्न हो गया : इन उत्पादन–सम्बन्धों ने तत्सम्बन्धी मनोविज्ञान और वैचारिकी को जन्म दे दिया, फलस्वरूप कर्मी–वर्ग अपने देश की सुरक्षा के कर्त्तव्य–भाव को मान्यता देने लगा। इस सम्बन्ध में तर्क सरल था : यदि ''हमारा'' उद्योग (जो वास्तव में उनका नहीं है, बल्कि पूँजीपतियों का है) विकसित होता है, तो हमारी मजदूरियाँ बढ़ेंगी; लेकिन उद्योगों का प्रसार बाजारों तथा पूँजी लगाने के क्षेत्रों के मिलने पर होता है; फलतः कर्मी–वर्ग बुर्जुआओं की औपनिवेशिक नीति में रुचि लेता है तथा 'राष्ट्र के उद्योगों' तथा राष्ट्र की रक्षा को अपना कर्त्तव्य समझता है। इसके बाद तो अन्य अनेक बातें स्वाभाविक रूप में होती हैं, जैसे–अपनी महान् मातृ–भूमि का गुण–कीर्तन करना तथा मानवता, सभ्यता, प्रजातन्त्र, निःस्वार्थता आदि के सम्बन्ध में बड़ी ऊँची–ऊँची थोथी बातें करना आदि। यह प्रवृत्ति प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व वर्तमान थी। वास्तव में, यह श्रम–साम्राज्यवाद की वैचारिकी थी, जिसने कर्मी–वर्ग का ध्यान बुर्जुआओं द्वारा फेंके गए टुकड़ों की ओर आकर्षित किया था तथा उसे (कर्मी–वर्ग को) अपने स्थायी हितों का बलिदान करने के लिए तैयार कर लिया था। इस कुचक्र से बुर्जुआओं ने औपनिवेशिक श्रमिकों, अर्ध श्रमिकों आदि के रक्त का अन्तिम बूँद तक चूस लिया था। अन्त में, युद्ध–काल तथा युद्धोपरान्त–काल ने कर्मी–वर्ग को यह दिखला दिया कि वह (कर्मी–वर्ग) दाँव हार चुका है। अब उसकी समझ में आया कि अस्थायी हितों की अपेक्षा से स्थायी हित अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। फलतः कर्मी–वर्ग के विचारों में परिवर्तन की तीव्र क्रान्ति प्रारम्भ हो गई।

हम उदाहरण के रूप में कर्मी–वर्ग के उद्विकास के उस काल को ले सकते हैं जिसमें यह प्रत्येक विशिष्ट उद्योग के उद्यमकर्ता के साथ तथाकथित "पितृसत्तात्मक" सम्बन्ध बनाकर रहा; सामाजिक संस्थाओं की सामान्य दुर्बलता की दृष्टि से कर्मी उद्यम की सफलता में रुचि रखता था। कर्मी तथा उनके स्वामी सामान्य वर्ग–हितों की कीमत पर हितों की सापेक्ष एकता का सुन्दर उदहारण प्रस्तुत करते हैं।

जब प्राचीन काल में दासों के दास होते थे, तब दास और दासों के स्वामियों के बीच हितों के समुदाय के द्वारा एक निश्चित आनुषंगिकता प्रस्तुत की गई थी। जो दास दासों को अपने अधीन रखते थे, वे स्वयं दासों के स्वामी थे, इस प्रकार उनके हित उन दास–स्वामियों के अनुरूप थे जो स्वयं दास थे। वर्तमान काल में हम पश्चिमी योरोप की सहकारी कृषि में प्रायः यह पाते हैं कि वहाँ कृषक–वर्ग बड़े–बड़े भू–स्वामियों तथा पूँजीवादी जागरीदारों के साथ कन्धे–से–कन्धा भिड़ाकर काम करता है। कृषक–वर्ग अन्य लोगों से अपनी खेती की उपज को बेचने के लिए मिलता है : विक्रेता होने के कारण वे नागरिक लोगों के विपरीत होते हैं; वे संपन्न जागीरदारों की तरह ही अपने कृषि–उत्पादों के लिए अधिक मूल्य चाहते हैं।

अब, हम पहले प्रकार की एकता की रूपरेखा को छोड़ रहे हैं; क्योंकि इस उदाहरण में सच्चा कृषि बुर्जुआ, जो कृषक–समाज से ही आया है, किसी भी दशा में वंशानुगत कृषि बुर्जुआ से भिन्न नहीं है।

द्वितीय प्रकार की सापेक्षा वर्गीय एकता का सर्वोत्तम उदाहरण वह है, जहाँ यह सापेक्ष एकता सम्बन्धित वर्गों के स्थायी हितों के विरुद्ध नहीं है और जब वर्ग सामान्य शत्रु के विरुद्ध आक्रमण करता है, तो इस प्रकार के उदाहरण उद्विकास की एक निश्चित अवस्था में नितान्त संभव है। उदाहरण के लिए, फ्रांसीसी क्रांति के प्रथम दौर में राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों ही क्षेत्रों में सामन्ती व्यवस्था का विरोध विभिन्न वर्गों ने ही किया था : बुर्जुआ, लघु–बुर्जुआ, सर्वहारा ये समस्त वर्ग सामंती व्यवस्था को उखाड़ फेंकना चाहते थे। लेकिन आगे चलकर इस गुट में विघटन हो गया, लघु बुर्जुआ बड़े बुर्जुओं के साथ मिल गए और दोनों सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध हुए तथा दोनों ने मिलकर प्रारंभिक सर्वहारा–आंदोलन का बड़ी निर्ममता पूर्वक दमन

किया। यहाँ पर हम देखते हैं कि लघु बुर्जुआ और बड़े बुर्जुआ अस्थायी रूप से सर्वहारा वर्ग के साथ थे, इस प्रकार एक अस्थायी वर्गीय एकता थी।

च. वर्ग–संघर्ष और वर्ग–शांति

विभिन्न प्रकार के हित विभिन्न प्रकार के संघर्षों को जन्म देते हैं। जैसा हम पहले ही बता चुके हैं कि किसी वर्ग के एक भाग का प्रत्येक हित वर्ग–हित नहीं है। यदि किसी कारखाने के कर्मियों का हित कर्मी–वर्ग के अवशेष भागों के हितों के विरुद्ध है, तो यहाँ वर्ग–हित नहीं बल्कि समूह–हित है। लेकिन फिर भी जब हम कर्मियों के एक समूह के उस हित पर विचार कर रहे हैं, जो अन्य समूहों के हितों से टकराता नहीं है, तो भी समूह एक सूत्र में आबद्ध होने में असफल हो सकते हैं; क्योंकि वर्ग–हित वर्गों की चेतना में नहीं है; दूसरे शब्दों में अभी यहाँ वर्ग–संघर्ष नहीं है : वर्ग–हित में आरम्भिक दशाएँ तथा वर्ग–संघर्ष के बीज वर्तमान हैं, एक वर्ग–हित का उदय उस समय होता है, जब यह एक वर्ग को दूसरे वर्ग के विरुद्ध उपस्थित कर देता है। वर्ग–संघर्ष का उदय उस समय होता है, जब यह एक वर्ग को दूसरे वर्ग के लिए सक्रिय संघर्ष में झोंक देता है। अतः वर्ग–संघर्ष वास्तविक रूप से वर्गीय समाज में उद्विकास की केवल एक विशिष्ट अवस्था पर ही विकसित होता है। सामाजिक उद्विकास के अन्य पक्षों में यह अपने को बीज रूप में व्यक्त करता है। वर्ग के पृथक्–पृथक् समूह लड़ रहे हैं; संघर्ष अभी इतना नहीं बढ़ा है कि सिद्धान्त रूप में संपूर्ण वर्ग एक होकर संघर्ष करें), अथवा गुप्त या प्रच्छन्न रूप में संघर्ष चल रहा है, (खुला संघर्ष नहीं प्रारंभ होता; स्फूर्तिहीन प्रतिरोध किया जाता है)। "स्वतन्त्र मनुष्य और दास, आभिजात्य वर्ग तथा साधारण प्रजा (पैट्रिशियन और प्लेवियन), सामंत और सर्फ, शिल्प–संघ के मालिक और श्रमिक शिल्पी, संक्षेप में पीड़क और पीड़ित सदा ये एक दूसरे से विरोध करते आए हैं। वे कभी प्रच्छन्न रूप में और कभी प्रकट रूप से सतत एक–दूसरे से संघर्षरत रहे हैं। ऐसे संघर्ष का अंत प्रत्येक बार या तो समाज की संपूर्ण संरचना को परिवर्तित करने में हुआ है या संघर्षरत दोनों वर्गों के विनाश में हुआ है (साम्यवादी घोषणा–पत्र) और उदाहरणों पर विचार कर लेना उपयोगी होगा।

मान लीजिए, एक दास–प्रथा वाले समाज में एक बहुत बड़े भू–स्वामी के लेटीफंडियम में विद्रोह का प्रारम्भ हो रहा है; वहाँ पर वस्तुओं की तोड़–फोड़, मारपीट आदि प्रारंभ हो गई है। उपयुक्त भाव में, इसे वर्ग–संघर्ष नहीं कहा जा सकता है : यह दास–वर्ग के एक छोटे से भाग का प्रारम्भिक आक्रोश है। समग्र रूप में वर्ग शान्त है; एक छोटा–सा समूह उग्र संघर्ष को उत्तेजित कर रहा है; लेकिन वह अकेला है, क्योंकि उसके वर्ग के थोड़े से सदस्य उसके साथ हैं। समग्र रूप में वर्ग क्रिया नहीं कर रहा है। यहाँ पर एक वर्ग दूसरे वर्ग का विरोध नहीं कर रहा है। इसके बिल्कुल विपरीत स्थिति वह है जिसमें स्पोर्टकस के नेतृत्व में विद्रोही दासों ने अपनी मुक्ति का वास्तविक गृह–युद्ध लड़ा था; यहाँ पर दास जन–समूह आत्म–नियंत्रण खो बैठे थे : यह वर्ग–संघर्ष का रूप था।

आइए, कारखाने के मजदूरों का एक दूसरा उदाहरण लें। एक कारखाने के मजदूरी पाने वाले कर्मी अधिक मजदूरी पाने के लिए आंदोलन करते हैं। यदि देश के समस्त अन्य कर्मी शांत रहते हैं, तो यहाँ पर केवल वर्ग–संघर्ष की सम्भावना मात्र हुई है; क्योंकि संपूर्ण वर्ग अभी उत्तेजित नहीं हुआ है। तथापि, आइए हम हड़ताल की लहर पर विचार करें। यह वर्ग–संघर्ष है; इसमें एक वर्ग दूसरे के विरुद्ध खड़ा होता है। यहाँ पर अब हम यह विचार नहीं कर रहे हैं कि एक समूह के हित दूसरे समूह को उत्तेजित कर रहे हैं।

कृषक–दास का उदाहरण भी रोचक है। इन कृषक–दासों में अमुखर और निष्क्रिय असंतोष था; यह भावना फूट कर निकल सकती है, लेकिन चूँकि संपूर्ण वर्ग अधीन है, इसलिए ऐसा नहीं हो सकता है; दास अत्याचार होने पर युद्ध नहीं करते हैं, बल्कि वे कुडबुड़ाते हैं। मार्क्स के अनुसार यह संघर्ष का प्रच्छन्न रूप है।

अतः वर्ग–संघर्ष ऐसा संघर्ष है जिसमें एक वर्ग ने दूसरे वर्ग के विरुद्ध कार्यवाही करना प्रारम्भ कर दी है। इससे यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत सामने आता है कि ''प्रत्येक वर्ग–संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष है।'' (मार्क्स)। वास्तव में, जब दमित वर्ग वर्ग–शक्ति के रूप में दमन करने वाले के विरुद्ध उठता है, तो इसका आशय यह है कि दमित वर्ग वर्तमान व्यवस्था के आधारों की उपेक्षा कर रहा है। चूँकि वर्तमान व्यवस्था की शक्ति का संगठन शासक–वर्ग का

राज्य–संगठन है, इसलिए यह स्पष्ट है कि दमित वर्ग का प्रत्येक कार्य प्रत्यक्ष रूप से राज्य–संगठन के विरुद्ध होता है, भले ही दमित वर्ग के संघर्ष के भागीदार अपनी राज्य–शक्ति के प्रति शत्रुता से पूर्णरूप में अवगत न हों। अतः इस प्रकार की प्रत्येक कार्यवाही आवश्यक रूप से राजनीतिक होती है।

इस सिद्धान्त को लागू करके संयुक्त–राज्य के आई०डब्लू०डब्लू० (विश्व के औद्योगिक कर्मियों का संगठन) तथा क्रांतिकारी संघाधिपत्यवादियों (रिबुलुशनरी–सिण्डिकेलिस्ट) की रोचक भूल का पता लगाया जा सकता है। आई०डब्लू०डब्लू० राजनीतिक संघर्ष का पूर्ण बहिष्कार करता है; क्योंकि वे इसे संसदीय संघर्ष का पर्यायवाची मानने की भूल करते हैं। लेकिन यदि आई०डब्लू०डब्लू० एक सामान्य हड़ताल या केवल रेलमार्ग कर्मियों की हड़ताल अथवा खनिकों या धातुकर्मियों की हड़ताल संगठित कराना चाहे, तो यह स्पष्ट है कि यह हड़ताल अत्यधिक राजनीतिक महत्त्व की होगी; क्योंकि यह सर्वहाराओं की महत्त्वपूर्ण सेनाओं को संगठित करने, संपूर्ण बुर्जुआ–वर्ग को आन्तकित करने तथा बुर्जुआ–संगठन के तन्तु को खत्म करने की आशंका उत्पन्न करने में सफल होगी; और यह हड़ताल वास्तविक रूप में बुर्जुआ–वर्ग की राज्य–शक्ति के विरुद्ध होगी।

अतः हमने यह देखा है कि दमित वर्ग सदैव सच्चे अर्थों में वर्ग–संघर्ष को नहीं चलता हैं। इसका किसी भी दशा में यह आशय नहीं है कि अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण कालों में पूर्ण शान्ति रहती है और सामंजस्य रहता है। इसका केवल यही आशय है कि वर्ग–संघर्ष प्रच्छन्न या प्रारम्भिक रूप में चल रहा है। यह आगे चलकर वास्तविक अर्थ में वर्ग–संघर्ष हो जाएगा। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गति और उद्विकास की अवधि में द्वंद्वात्मकता प्रत्येक वस्तु को आबद्ध कर देती है। यहाँ तक यदि वर्ग–संघर्ष का अभाव है, तो मानना चाहिए कि यह उद्भूत हो रहा है या विकसित हो रहा है। यह बात दमित वर्गों में देखी जा सकती है; जहाँ तक शासक वर्गों का प्रश्न है, वे अनवरत रूप से वर्ग–संघर्ष को चला रहे हैं। इसका कारण यह है कि राज्य–संगठन का अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि शासक–वर्ग ने अपने को राज्य–शक्ति के रूप में संगठित किया है। इसमें वर्ग के आधारभूत हितों की पूर्ण चेतना निहित है, जो

विरोधी वर्गों के विरुद्ध युद्ध छेड़ती है। यह चेतना तात्कालिक हितों तथा संभावित हितों दोनों के विरुद्ध युद्ध करती है। इसके लिए यह राज्यतंत्र के समस्त साधनों का प्रयोग करती है।

छ. वर्ग संघर्ष और राज्य–शक्ति

आर्थिक आधार द्वारा निर्धारित महत् संरचना के रूप में राज्य के प्रश्न पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं (देखिए, छठा–अध्याय)। अब हमें इस प्रश्न पर वर्ग–संघर्ष के दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए। हमें पुनः इस बात पर जोर देना चाहिए कि राज्य–संगठन पूर्ण रूप से एक वर्गीय संगठन है; यह वर्ग ही है, यह वर्ग की संगठित और संचित सामाजिक सत्ता है। उत्पादन की नई रीति का वाहक दमित वर्ग संघर्ष की अवधि में ''स्वयं में वर्ग'' से ''स्वयं के लिए वर्ग में'' रूपांतरित हो जाता है; इस संघर्ष में वह युद्ध का संगठन बना लेता है और यह संगठन बढ़ते–बढ़ते इतना बड़ा हो जाता है कि इसमें प्रदत्त वर्ग का संपूर्ण जन–समूह आ जाता है। जब गृहयुद्ध, क्रान्ति आदि चल रहे होते हैं, तो ये युद्ध–संगठन शत्रु के मोर्चे को तोड़ देते हैं तथा प्रच्छन्न या अप्रच्छन्न रूप में नए राज्यतंत्र का बीजारोपण करते हैं। उदाहरण के लिए, यदि हम फ्रांसीसी क्रांति और रूसी क्रांति का सूक्ष्म रूप से विश्लेषण करते हैं, तो हमें इस कथन के प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त हो जाते हैं।

राज्य–सत्ता की वर्गीय अवधारणा के विरुद्ध दो प्रकार के तर्क किए जाते हैं। पहले प्रकार का तर्क इस प्रकार हैः राज्य की विलक्षणता इसका केन्द्रीकृत प्रशासन है; अतः अराजकतावादी हमें बताते हैं कि कोई भी केन्द्रीकृत प्रशासन राज्य–सत्ता है। अतएव यदि किसी अत्यधिक विकसित साम्यवादी समाज में एक सुसंबद्ध अर्थव्यवस्था है तो वहाँ एक राज्य भी होगा। यह तर्क पूर्णरूप से बुर्जुआ–वर्ग की बचकाना भूलों पर आधारित है; बुर्जुआ–विज्ञान सामाजिक सम्बन्धों को ग्रहण करने की अपेक्षा वस्तुओं के बीच के सम्बन्धों या प्राविधिक सम्बन्धों को ग्रहण करता है। लेकिन यह स्पष्ट है कि राज्य का सार वस्तुओं में नहीं, बल्कि सामाजिक सम्बन्धों में हैं; केन्द्रीकृत शासन में नहीं बल्कि केन्द्रीकृत प्रशासन के वर्गीय कवच में है। पूँजी एक वस्तु नहीं है, बल्कि उद्योगपति और कर्मी के बीच एक ऐसा सामाजिक सम्बन्ध है, जो एक वस्तु के माध्यम से व्यक्त होता है, इसलिए केन्द्रीकरण स्वभावतः किसी भी दशा में

अनिवार्य रूप में राज्य–संगठन का द्योतक नहीं है; यह उस समय तक राज्य–संगठन नहीं होता है, जब तक कि यह वर्ग–सम्बन्ध को व्यक्त नहीं करता है।

राज्य के वर्गीय सिद्धांत के सम्बन्ध में प्रस्तुत की जाने वाली दूसरी आपत्ति पर हम आंशिक रूप से पहले ही विचार कर चुके हैं। यह आपत्ति अभी भी बहुत अधिक हास्यास्पद है, क्योंकि यह इस अवधारणा पर आधारित है कि राज्य सामान्य रूप में बहुसंख्यक उपयोगी कार्य करता है (जैसे आधुनिक पूँजीवादी राज्य विद्युत–शक्ति के केन्द्रों, अस्पतालों, रेलमार्गो, आदि का निर्माण करता है)। यह तर्क सामाजिक प्रजातंत्रवादी कनाऊ, दक्षिणपंथी सामाजिक क्रान्तिकारी जे0 डेलेवस्की, अनुदारवादी डेलब्रुक तथा वेबीलोनिया–निवासी राजा हम्बूरबी को भी एक ही समूह में नितांत दयनीय रूप में आबद्ध कर देता है। लेकिन यह सम्माननीय कंपनी बहुत अधिक भ्रमित है। इसका कारण यह है कि राज्य के कुछ सामान्य उपयोगी कार्यों के होने से राज्य–सत्ता की विशुद्ध वर्गीय विशेषता में कोई परिवर्तन नहीं होता है। शासक–वर्ग जनसमूहों का शोषण करने की अपनी क्षमता को बनाए रखने, अपने शोषण के क्षेत्र का प्रसार करने तथा शोषण की इस सहज कार्य–प्रणाली को सुरक्षित रखने के लिए समस्त प्रकार के सामान्य उपयोगी कार्यों को संपन्न करने के लिए विवश होता है। वास्तव में, पूँजीवाद बिना रेल–मार्गों, प्राविधिक विद्यालयों आदि के समुचित रूप से विकसित नहीं हो सकता है। इन समस्त कार्यों में पूँजीपतियों की राज्य–शक्ति अपने वर्ग–हितों द्वारा निर्देशित होती है। हम ट्रस्टों का उदाहरण पहले ही दे चुके हैं; ट्रस्ट उत्पादन का निर्देशन करता है जिसके बिना समाज का जीवित रहना संभव नहीं हो सकता, लेकिन यह उत्पादन का निर्देशन अपने वर्गीय हितों की दिशा में करता है। हम किसी प्राचीन निरंकुश राज्य के बड़े–बड़े भू–स्वामियों, जैसे मिस्र के भूस्वामियों का उदाहरण दे सकते हैं, जिन्होंने नदियों के मार्ग केन्द्रित करने के लिए ऐसे बड़े–बड़े निर्माण कार्य कराए थे, जो जन साधारण के लिए उपयोगी थे; लेकिन निरंकुश शासकों ने ये कार्य जनता के दुःख दर्द को दूर करने या भुखमरी मिटाने के उद्देश्य से नहीं किए थे, बल्कि ये कार्य उत्पादन की प्रक्रिया के लिए अपरिहार्य थे और उत्पादन की प्रक्रिया ही शोषण की प्रक्रिया थी। उनके इस कार्य के पीछे आधारभूत भाव वर्गीय हित था; इसलिए

इस प्रकार के कार्यों को वर्गीय दृष्टिकोण के खंडन के प्रमाणों के रूप में नहीं लिया जा सकता।

पूँजीवादी देशों में श्रम–सुरक्षा–विधायन को उपयोगी साधन माना जाता है, जो वास्तव में पूँजीपतियों का शोषण या निम्नवर्गों के दमन का एक साधन होता है। अनेक बाल की खाल निकालने वाले विद्वान् इन श्रम–सुरक्षा–विधायनों के आधार पर राज्य को विशुद्ध वर्गीय संगठन न मानकर समझौता या संविदा पर आधारित संगठन मानते हैं। लेकिन वे भ्रम में हैं; एक क्षण विचार करने पर इस भ्रम का निवारण हो जाएगा। पूँजीपति जब श्रमिकों की हड़काल के भय से श्रमिकों को कुछ सुविधाएँ प्रदान करता है, तब भी वह विशुद्ध पूँजीपति ही रहता है। इसी प्रकार, जैसे मिल मालिक, अपने कर्मियों को कुछ सुविधाएँ देता है, वैसे ही एक वर्गीय राज्य अन्य वर्गों को कुछ सुविधाएँ दे सकता है। लेकिन इसका यह आशय नहीं है कि राज्य विशुद्ध वर्गीय राज्य नहीं है, बल्कि सामान्य तथा वास्तविक रूप में एक उपयोगी संगठन हो रहा है।

ज. वर्ग, दल और नेता

एक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का एक समूह है जो उत्पादन की अपनी समान अवस्थिति और वितरण की अपनी समान अवस्थिति, दूसरे शब्दों में, समान हितों (वर्गीय हितों) द्वारा परस्पर सम्बन्धित होते हैं। लेकिन यह मानना मूर्खता होगी कि प्रत्येक वर्ग पूर्ण रूप से एकीकृत समविष्ट है; इसके समस्त अंग समानरूप से महत्त्वपूर्ण है, समस्त ऐरू–गैरू–न्तथू–खैरू एक ही स्तर पर हैं। उदाहरण के लिए, निस्संदेह आधुनिक युग में, कर्मी–वर्ग में मानसिक शक्ति और कार्य–क्षमता की दृष्टि से बहुत अधिक असमानता है। यहाँ तक कि कर्मी–वर्ग के विभिन्न अंगों की रचना में भी असमानता है। ऐसा इसलिए है कि सबसे पहले तो अर्थिक इकाइयों में पूण्र्समरूपता का अभाव है तथा दूसरे, कर्मी–वर्ग पूर्ण विकसित रूप में स्वर्ग से अवतरित नहीं होता है, अपितु यह कृषक–वर्ग, शिल्पी–वर्ग नगर के लघु बुर्जुआ–वर्ग अर्थात् पूँजीवादी समाज के अन्य समूहों से सतत रूप में आता रहता है।

एक बहुत बड़े सुनियोजित कारखाने में काम करने वालों कर्मी एक छोटी दूकान में काम करने वाले कर्मी से भिन्न है, इस अंतर का कारण दोनों प्रकार के प्रतिष्ठानों की संरचना

तथा उनके कार्य की रीतियों का अंतर है। सर्वहारा युग को भी एक तत्त्व ही मानना चाहिए, क्योंकि एक किसान जिसे अभी कारखाने में काम मिला है, उस कर्मी से भिन्न है जो बचपन से कारखाने में काम करता आ रहा है।

रचना का भेद चेतना में भी प्रतिबिम्बित होता है। सर्वहारा व्यक्ति की स्थिति में जैसा अंतर होता है, उसी प्रकार उसकी चेतना में भी अंतर होता है। अन्य वर्गों की तुलना में न्यूनाधिक रूप में यह एक इकाई है, लेकिन अपने विभिन्न भागों या अंगों की तुलना में यह इकाई नहीं है।

अतः कर्मी—वर्ग अनेक समूहों और उप समूहों में उसी प्रकार विभक्त होता है, जैसे एक जंजीर की भिन्न—भिन्न शक्तियों की कड़ियाँ अलग—अलग होते हुए भी एक में आबद्ध होती है।

वर्ग की यह असमानता ही दल के अस्तित्व का कारण है। यदि कर्मी वर्ग पूर्ण रूप से समरूप होता तो यह किसी भी शक्ति के साथ आगे आ सकता था; हेर—फेर के साथ चुने गए व्यक्तियों के द्वारा इस संघर्ष को आगे बढ़ाया जा सकता था; नेतृत्व का अस्थायी संगठन निरर्थक और अनावश्यक होता। वास्तविक तथ्य के रूप में कर्मी—वर्ग का संघर्ष अपरिहार्य है; इस संघर्ष का निर्देशन होना चाहिए; यह निर्देशन इसलिए आवश्यक है, क्योंकि विरोधी अधिक शक्तिशाली और चतुर है तथा उससे लड़ना अधिक कठिन कार्य है। अतः हम स्वभावतः यह आशा करते हैं कि संपूर्ण वर्ग एक ऐसे अनुभाग (सेक्सन) द्वारा परिचालित होता है जो सबसे अधिक प्रगतिशील, सर्वोत्तम प्रशिक्षित, सर्वाधिक संगठित है : इसी को दल (पार्टी) कहते हैं।

'दर्ल' वर्ग नहीं है; वास्तव में यह उसी प्रकार वर्ग का एक छोटा अंग है, जैसे सिर संपूर्ण शरीर का एक छोटा अंग है। लेकिन वर्ग और दल के बीच किसी प्रकार के विरोध की खोज करना मूर्खता होगी। 'दल' वह वस्तु है, जो वर्ग के हितों की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति करता है। हम दल और वर्ग में उसी प्रकार भेद कर सकते हैं, जैसे सिर और शरीर के बीच भेद किया जाता है। लेकिन किसी भी दशा में हम दोनों को एक दूसरे का विरोधी नहीं मान सकते हैं। जिस प्रकार से किसी मनुष्य के सिर को उस समय तक नहीं काटा जा सकता है, जब

तक हम उसके जीवन का अन्त न करना चाहें, उसी प्रकार दल को भी वर्ग से उस समय तक पृथक् नहीं किया जा सकता है जब तक हम वर्ग का अन्त न करना चाहें।

इन दशाओं में संघर्ष का परिणाम किस बात पर निर्भर करता है? यह कर्मी–वर्ग के विभिन्न अंगों के बीच के समुचित सम्बन्धों, विशेष रूप से दल से बाहर तथा दल के लोगों के बीच के व्यक्तियों के समुचित पारस्परिक सम्बन्धों, पर आश्रित है। एक ओर निर्देशन और नेतृत्व की आवश्यकता है; दूसरी ओर आदेशों और दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है। कोई भी नेतृत्व उस समय तक सम्भव नहीं है, जब तक वह आदेश नहीं देता है और विश्वास नहीं उत्पन्न करता है। एक ओर, दल को वर्ग के एक पृथक् भाग के रूप में संगठित होना चाहिए; दूसरी ओर, इसे दल से बाहर के लोगों से अधिक–से–अधिक संपर्क स्थापित करना चाहिए और उनको अधिक–से–अधिक संख्या में दल के अन्दर लाना चाहिए। अतः वर्ग की मानसिक संवृद्धि इस वर्ग के दल की संवृद्धि में अपनी अभिव्यक्ति पाएगी और इसके विपरीत वर्ग का पतन दल के पतन में प्रतिबिम्बित होगा अथवा दल से बाहर के तत्त्वों पर दल का प्रभाव क्षीण होगा।

हम पहले ही देख चुके हैं कि वर्ग के अंदर, समरूपता के अभाव के कारण, वर्ग के दल का अस्तित्व सम्भव होता है। लेकिन पूँजीवादी परिस्थितियाँ, कर्मी–वर्ग और अन्य वर्गों के निम्न साँस्कृतिक स्तर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं, जिससे वर्ग के संरक्षक इस दल में भी आन्तरिक समरूपता का अभाव होता है। कर्मी–वर्ग के अन्य अनुभागों की तुलना में दल न्यूनाधिक रूप में समरूप होता है, लेकिन यह समरूपता उसमें स्वयं अन्दर नहीं होती है। इसकी भी स्थिति वही है, जो वर्ग की होती है। यदि हम यह मान लें कि दल वर्ग–चेतना, अनुभव, कार्य करने की क्षमता, आदि की दृष्टि से पूर्ण रूप से समरूप है, तो यह मान्यता सत्य के पूर्ण विपरीत है। यदि ऐसी समरूपता वर्तमान है, तो नेताओं की कोई आवश्यकता नहीं होगी; नेताओं के कार्यों को दल के समस्त सदस्य एक क्रम से संपन्न करते रहेंगे।

लेकिन वास्तविकता यह है कि स्वयं दल के अन्दर इस प्रकार की पूर्ण समरूपता या एकरूपता का अस्तित्व नहीं होता, जिसके कारण कुछ नेताओं का न्यूनाधिक स्थायी समूह

बनाने की आवश्यकता होती है। वे अच्छे नेता हैं, क्योंकि वे दल की समुचित प्रवृत्तियों को सर्वोत्तम रीति से व्यक्त करते हैं। जिस प्रकार से दल और वर्ग को एक दूसरे का विरोधी कहना मूर्खता है, उसी प्रकार नेता और दल को एक–दूसरे का विरोधी मानना बहुत बड़ा अविवेक है। निस्संदेह, हमने यह कार्य उस समय किया है, जब हमने सामाजिक प्रजातांत्रिक (सोशल डेमोक्रेट) नेताओं या उनके निर्देशन में चलने वाले विरोधी वर्ग का विरोध किया था। लेकिन हमने ऐसा इसलिए किया था और अभी भी कर रहे हैं कि हम सामाजिक प्रजातंत्र का विनाश करना चाहते थे तथा बुर्जुआ–वर्ग के स्वभाव को नष्ट करना चाहते थे, जो सामाजिक गद्दार नेताओं के द्वारा बढ़ रहा था। लेकिन अपने किसी विद्रोही संगठन के विनाश के लिए इन विधियों के उपयोग का प्रयत्न करना तथा इस प्रक्रिया को क्रान्ति के अपने विलक्षण स्वरूप की अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करना मूर्खता होगी। यही अवस्थिति अन्य वर्गों में भी पाई जा सकती है; आधुनिक इंगलैण्ड में, जब बुर्जुआ–वर्ग ने ल्वायड जार्ज के माध्यम से शासन किया, तो ल्वायड जार्ज का दल अपने नेताओं के द्वारा शासन कर रहा था।

झ. सामाजिक रूपांतरण के उपकरण के रूप में वर्ग

यदि हम समाज को एक ऐसी प्रणाली मानें जो वस्तुनिष्ठ रूप में विकसित हो रही है, तो हम पाते हैं कि एक वर्गीय प्रणाली से दूसरी वर्गीय प्रणाली में सवंमित होने की प्रक्रिया अत्यधिक कटु वर्ग–संघर्ष द्वारा सम्पन्न होती है। सामाजिक परिवर्तनों की इस वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया में, वर्ग–युक्त समाज की जीवन्त दशाओं के संपूर्ण निकाय को रूपांतरित करने के लिए वर्ग आधारभूत संचरण–साधन के रूप में कार्य करते हैं। समाज की संरचना मनुष्यों के माध्यम से परिवर्तित होती है, न कि मनुष्यों से परे; उत्पादन–सम्बन्ध पूर्ण रूप से मानवीय संघर्ष और मानवीय क्रियाकलापों से उत्पन्न होते हैं। यदि हम समस्त दिशाओं की ओर जाने वाली व्यक्ति की असंख्य इच्छाओं की खोज करें, तो हम ऐसी इच्छाओं का एक समरूप पुंज पाएँगे, जिन्हें ''वर्गीय इच्छाएँ'' कह सकते हैं। ये इच्छाएँ क्रांति के समय में विशेष पृथक आकार ग्रहण कर लेती हैं।

लेकिन वर्गीय इच्छा के विकास में अन्तर्निहित कारण और प्रभाव का नियम ही वस्तुनिष्ठ उद्विकास का गंभीरतम कारण है। यही वह कारण है जो उद्विकास की प्रत्येक अवस्था की प्रघटना को निर्धारित करता है।

इसके अतिरिक्त इच्छा की प्रघटनाएँ बाह्य दशाओं के द्वारा परिसीमित होती है, अर्थात् इन दशाओं में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन, जो मानव–इच्छा के विपरीत प्रभाव के अधीन हो रहा है, इन दशाओं की पूर्ववर्ती अवस्था से सीमित है। इस प्रकार एक प्रकार की सामाजिक संरचना से दूसरे प्रकार की सामाजिक संरचना में रूपांतरित होने में वर्ग–संघर्ष और वर्ग–इच्छा एक सक्रिय रूपांतर करने वाले उपकरण के रूप में कार्य करते हैं। इस प्रक्रिया में नया वर्ग नई सामाजिक और अधिक व्यवस्था के संगठक और वाहक के रूप में कार्य करता है। जो वर्ग उत्पादन की एक नई रीति का वाहक नहीं है, वह समाज को रूपांतरित नहीं कर सकता है। इसके विपरीत, इस वर्ग–शक्ति में उत्पादन की सतत बढ़ती हुई और विकसित होती हुई दशाएँ अन्तर्निहित होती है, जो वर्ग–शक्ति और सामाजिक रूपांतरण का आधारभूत जीवंत तन्तु हैं। इस प्रकार जब बुर्जुआ–वर्ग उत्पादन की नई दशाओं तथा नई आर्थिक संरचना का वाहक था, तो इसने समाज को पुराने सामन्ती मार्ग से हटाकर बुर्जुआ उद्विकास के मार्ग पर चलाया; इसी प्रकार सर्वहारा–वर्ग समाजवादी वर्गीय उत्पादन का वाहक और संगठक है, क्योंकि अब समाज अधिक समय तक पुराने आधार पर रह सकने योग्य नहीं है।

ञ. भावी वर्ग–विहीन समाज

यहाँ पर हम एक ऐसे प्रश्न पर विचार कर रहे हैं जिस पर मार्क्सवादी साहित्य में बहुत कम विचार किया गया है। हमने देखा है कि वर्ग दल के द्वारा शासन करता है और दल अपने नेताओं के द्वारा; इसलिए प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक दल का अपना अधिकारी–वर्ग होता है। यह अधिकारी–वर्ग प्राविधिक रूप से आवश्यक है, क्योंकि हमने देखा है कि यह वर्ग के अन्दर एकरूपता के अभाव तथा दल के अन्दर सदस्यों की असमानता के दृष्टिकोण से समाज के उद्विकास पर विचार करने पर हमारा यह प्रश्न चर्चा करता है, सामान्य रूप में क्या ऐसा समाज सम्भव है?

यह सम्भव है। हम जानते हैं कि स्वयं वर्ग श्रम–विभाजन तथा उन संगठनात्मक कार्यों से सावयवी रूप में उत्पन्न हुए हैं, जो समाज के भावी उद्विकास के लिए प्राविधिक रूप से आवश्यक हो गये थे। स्पष्ट है कि भावी समाज में इस प्रकार के संगठनात्मक कार्य भी आवश्यक होंगे। यहाँ पर किसी को यह आपत्ति हो सकती है कि भावी समाज वैयक्तिक संपत्ति को जन्म नहीं देगा और यह वैयक्तिक संपत्ति ही है, जो वर्ग का आधार बनती है।

लेकिन इस तर्क का भी उत्तर देना चाहिए। प्रो० राबर्ट मिकेल्स कहता है : ''इस बिन्दु पर पुनः शंकाएँ उठती हैं। इसका सतत व्यवहार वर्ग–विहीन राज्य की संभावना के निषेध की ओर अग्रसर करेगा (लेखक को वहाँ राज्य न कहकर समाज कहना चाहिए था–बुखारिन)। उनका असीमित पूँजी पर नियंत्रण होता है, इसलिए प्रशासकों को कम से कम उतनी ही शक्ति प्राप्त होती है, जितनी शक्ति उन्हें व्यक्तिगत पूँजी के होने पर प्राप्त होती है।'' इस दृष्टिकोण से विचार करेगे पर संपूर्ण सामाजिक उद्विकास केवल नेताओं के एक समूह के स्थान पर नेताओं के दूसरे समूह को प्रतिष्ठित कर देने से कुछ अधिक नहीं है। इसी तरह बिलफ्रेडो परेटो 'अभिजात के परिभ्रमण' के (सर्कुलेशन आफ इलाइट्स) के सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है। यदि यह दृष्टिकोण सही है, तो मिकेल्स का यह निष्कर्ष भी सही होना चाहिए कि समाजवादी विजयी हो सकते हैं, किन्तु समाजवाद नहीं। एक उदाहरण से मिकेल्स की भूल का ज्ञान हो जाएगा। जब बुर्जुआ–वर्ग सत्तारूढ़ होता है, तो यह वर्ग के समस्त सदस्यों की शक्ति के कारण सत्तारूढ़ नहीं होता है, बल्कि अपने नेताओं की शक्ति के कारण। फिर भी, यह स्पष्ट है कि यह दशा बुर्जुआ–वर्ग के अन्तर्गत वर्गीय स्तरण में प्रतिफलित नहीं होती है; उसमें भूस्वामी अपने उच्च अधिकारों द्वारा शासन करते हैं। ये अधिकारी एक वर्ग का निर्माण अवश्य करते थे, लेकिन यह अधिकारी–वर्ग अन्य भूस्वामियों के विरुद्ध एक वर्ग के रूप में कभी नहीं खड़ा हुआ। इसका कारण यह था कि इन अन्य भूस्वामियों का रहन–सहन का स्तर पहले के भूस्वामियों के रहन–सहन के स्तर से कम नहीं था; इसके अतिरिक्त, समय रूप में उनका साँस्कृतिक स्तर पहले के भूस्वामियों की तरह ही था, तथा शासक लोग सदा इसी वर्ग से लिए जाते थे।

अतः एंजिल्स ने ठीक ही कहा है कि एक निश्चित समय तक वर्ग उत्पादक शक्तियों के अपर्याप्त उद्विकास से उद्‌भूत होते हैं; प्रशासन आवश्यक है, लेकिन सबके लिए पर्याप्त भोजन नहीं है : अतः सामाजिक रूप से आवश्यक संगठनात्मक कार्यों के विकास के समानांतर हमें व्यक्तिगत संपत्ति का विकास भी मिलता है। लेकिन साम्यवादी समाज ऐसा समाज है, जिसमें अत्यधिक विकसित और अधिक उत्पादक शक्तियाँ होती हैं। फलतः इसे अपने विलक्षण शासक वर्ग को जन्म देने के लिए कोई अधिक आधार नहीं प्राप्त हो सकता है। इसका कारण यह है कि यह शक्ति मशीनों पर विशेषज्ञों की शक्ति होगी, न कि वह शक्ति मनुष्यों पर होगी। वास्तव में, वे इस शक्ति को मनुष्यों के ऊपर कैसे प्राप्त कर सकते हैं? मिकेल्स इस आधारभूत निर्णायक तथ्य की अवहेलना करता है कि अब तक प्रत्येक प्रशासकीय प्रभुत्वपूर्ण स्थिति आर्थिक शोषण का साधन रही है। इस आर्थिक शोषण से उपविभाजन नहीं हो सकता, लेकिन मशीनों पर स्थायी एकाधिपत्य रखने वाला कोई छोटा समूह भी नहीं तैयार हो सकेगा; क्योंकि किसी एक समूह द्वारा एकाधिपत्य करने से आधारभूत आधार का ही लोप हो जाएगा; इसका कारण यह है कि जन समूहों की यह अक्षमता प्रत्येक प्रणाली की अनिवार्य विशेषता नहीं है; यह भी आर्थिक और प्राविधिक दशाओं के कारण उत्पन्न होती है जो अपने को सामान्य सांस्कृतिक और शैक्षणिक दशाओं में व्यक्त करती है। हम यह कह सकते हैं कि भावी समाज में संगठनकर्ताओं का विशाल अति उत्पादन होगा, जो शासक–वर्गों के स्थायित्व को असंभव बना देगा।

लेकिन पूँजीवाद से समाजवाद के बीच का संक्रमण–काल, अर्थात् सर्वहारा–वर्ग की तानाशाही के काल का प्रश्न कहीं अधिक कठिन है। कर्मी–वर्ग विजय प्राप्त कर लेता है, यद्यपि यह एकीकृत जन–समूह नहीं होता है और न हो सकता है, जब उत्पादक शक्तियाँ पतनोन्मुख होती है तथा वृहत् जन समुदाय भौतिक दृष्टि से असुरक्षित होते हैं तो कर्मी–वर्ग विजय प्राप्त करता है। ऐसी स्थिति में पतन की एक प्रवृत्ति अपरिहार्य रूप से प्रतिफलित होती है। इस प्रवृत्ति का प्रतिरोध दो विरोधी प्रवृत्तियों द्वारा होगा; पहली उत्पादक शक्तियों का विकास, दूसरी शैक्षिक एकाधिकार का उन्मूलन। सामान्य रूप में प्रौद्योगिकों (टेक्नोलाजिस्ट) तथा संगठनकर्ताओं के स्वयं कर्मी–वर्ग से अधिक से अधिक निकलने के कारण नए वर्गीय

समझौतों की संभावना नहीं रहेगी। संघर्ष का परिणाम उन प्रवृत्तियों पर आधारित होगा, जो अधिक शक्तिशाली होंगी।

कर्मी–वर्ग को मार्क्सवादी सिद्धान्त का एक उत्कृष्ट उपकरण अपने पास रखते हुए इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि इसके हाथों से समाज की एक ऐसी व्यवस्था सम्पन्न होगी और अन्ततः उसकी प्रतिष्ठा होगी, जो समस्त पूर्ववर्ती व्यवस्थाओं से सैद्धान्तिक आधार पर भिन्न होगी; दूसरे शब्दों में, जो आदिम साम्यवादी यूथ से इस तथ्य वे कारण भिन्न होगी, क्योंकि यह ऐसे व्यक्तियों की समाज–व्यवस्था होगी जो अत्यधिक सुसंस्कृत होंगे और अपने प्रति तथा अन्य लोगों के प्रति जागरूक होंगे; जो वर्ग–युक्त समाज से इस आधार पर भिन्न होगी कि इसमें सबसे पहली बार मानव–अस्तित्व की दशाओं की ऐसी उपलब्धि हुई होगी, जो केवल पृथक् समूहों के लिए न होकर मानवता के समग्र समुच्चय के लिए होगी; जन–समूह (मास) जन–समूह नहीं रहेगा, बल्कि यह एक एकल, समन्वित रूप में संरचित मानव–समाज होगा।